॥ श्रीकृष्णायनमः ॥

श्रीकृष्ण-कथा

[श्रीमद्भागवत् के दशमस्कन्ध से।]

शूरसेन देश की राजधानी का नाम मथुरा था। वहाँ पर यादवपति राजा शूरसेन राज करते थे। यह मथुरापुरी बड़ी पवित्र पुरी है। क्योंकि यहाँ नित्य हरिभगवान् निवास करते हैं।

एक समय की बात है। शूरवंशी वसुदेवजी विवाह करके अपने घर जाने के लिये नवविवाहिता देवकी सहित रथ पर सवार हुए। सुनहले कामों से सुशोभित रथों के सहित, उग्रसेन का पुत्र कंस कुछ दूर तक पहुँचाने के लिये वसुदेवजी के साथ हो लिया। उसने अपनी बहिन देवकी को प्रसन्न करने के लिये उनके रथ को स्वयं रथवान् बन कर हाँकने की इच्छा से घोड़ों की रास पकड़ी।

कन्यावत्सल महाराज देवक ने अपनी कन्या देवकी को विदा करते समय देनदायजे (यौतुक) में सोने की मालाओं से सुशोभित चार सौ हाथी, सजे सजाये पन्द्रह सौ घोड़े, अठारह सौ रथ और अनेक प्रकार के भूषणों से विभूषित दो सौ सुकुमारी दासियाँ दीं। वर और वधू के बिदा होते समय दुन्दुभि, शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग आदि मङ्गलसूचक बाजे बजने लगे। रथ को कंस हाँक रहा था। इतने में उसे सम्बोधन कर आकाशवाणी हुईः—

"अरे मूर्ख! जिसका तू रथ हाँक रहा है, उसी देवकी के आठवें गर्भ से उत्पन्न हुआ बालक तुझे मारेगा।"

इस आकाशवाणी को सुनते ही भोज-कुल कलङ्क, दुष्ट कंस बहिन के स्नेह को भूल गया उसने देवकी के झोंटे पकड़ उसे मारने के लिये खड्ग निकाला। कंस को इस कसाइयों जैसे निन्दित निष्ठुर कर्म करने को उद्यत देख, वसुदेव ने उसे मीठे वचन कह कर, यों समझाने का यत्न किया:—

वसुदेव—कंस! तुम्हारे गुण और वीरता की बड़े बड़े शूरवीर प्रशंसा करते हैं। तुमने भोज वंश का यश बढ़ाया है। परन्तु तुम इतने शूरवीर होकर अपनी बहिन का वध करना चाहते हो। ऐसा करना तुमको शोभा नहीं देता। तुम्हीं विचारो, एक तो स्त्री की जाति, दूसरे तुम्हारी बहिन और तिस पर यह विवाहोत्सव का अवसर। हे वीर! यदि तुम यह सोचते हो कि इसके आठवें गर्भ में उत्पन्न बालक मेरे काल का कारण होगा, अतः इसे मार, उस आने वाली विपत्ति की जड़ ही काट डाली जाय तो स्मरण रक्खो मृत्यु की कुछ भी औषध नहीं है। जो जन्मा है वह एक न एक दिन मरेगा भी अवश्य। आज हो अथवा सौ वर्ष के बाद हो देहधारी अवश्य ही मरेगा। + + + देखो यह तुम्हारी छोटी बहिन बालिका है, दीना है और कातर है और मारे डर के काठ की पुतली की तरह यह संज्ञाहीन हो रही है। तुम दीनवत्सल हो, अतः इस कल्याण, रूपिणी बालिका का वध करना तुम्हारे योग्य काम नहीं है।

कंस बड़े निष्ठुर स्वभाव का पुरुष था। अतएव वसुदेव के इस प्रकार मित्र भाव से समझाने बुझाने पर भी उसका विचार न बदला। उसको हठ करते देख वसुदेवजी बहुत चिन्तित हुए और सोचने लगे कि देवकी के प्राण किस प्रकार बचावें। सोचते सोचते वसुदेवजी को एक उपाय सूझा। क्योंकि कहा है—"बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि अपनी बुद्धि और बल के अनुसार, यथाशक्ति वह मृत्यु को टाले और यदि तब भी मृत्यु न टले, तो फिर उसमें मनुष्य का कोई अपराध नहीं। इस समय यही ठीक जान पड़ता है कि इस मृत्यु रूप कंस को अपने होने वाले पुत्रों को देने की प्रतिज्ञा कर, इस दीन अबला के प्राणों की रक्षा करूँ। फिर जब मेरे पुत्र होंगे तब जो होने को होगा सो होता रहेगा। यह समय तो टल जायगा। यह भी बहुत सम्भव है कि मेरे पुत्र के जन्म होने के पहिले ही कंस स्वयं चल बसे। अथवा यह न भी मरे तो आकाशवाणी के अनुसार मेरे पुत्र ही इसकी मृत्यु का कारण हों। सब कुछ हो सकता है, विधाता की गति कोई नहीं जान सकता। पुत्र देने की प्रतिज्ञा से उपस्थित विपत्ति तो टल जायगी।

अपनी समझ में वसुदेव जी ने ठीक ही उपाय सोचा और पहले कंस के प्रति बहुत सम्मान दिखा कर उसकी बड़ी प्रशंसा की। फिर अपने मन की घबड़ाहट को छिपा कर कंस को विश्वास दिलाने के बहाने हँस कर उस निर्लज्ज, नृशंस कंस से कहाः—

वसुदेव—हे सौम्य ! आकाशवाणी के अनुसार डर तो तुमको देवकी के गर्भजात पुत्र से है : अतः जितने पुत्र इसके होंगे मैं उतने सब तुमको दे दूँगा।

वसुदेव जी की यह बात कंस की समझ में आ गई और उसने उसे मान कर, अपनी बहिन की हत्या से अपने हाथ कलङ्कित न किये। वसुदेव भी हँसते हँसते अपने घर गये।

समय उपस्थित होने पर देवकी के गर्भ से प्रति वर्ष एक एक करके आठ पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई। वसुदेव ने अपनी बात रखने के लिये दुःखी चित्त से अपने पहले पुत्र कीर्त्तिमान को ले जाकर कंस को दिया। क्योंकि जो सत्यप्रतिज्ञ होते हैं, वे सत्य की रक्षा के लिये अनेक प्रकार के कष्ट तो सह लेते हैं। पर सत्य को नहीं छोड़ते।

वसुदेव की सत्य में ऐसी निष्ठा देख और उनके साधुत्व पर सन्तुष्ट हो, कंस ने हँस कर उनसे कहाः—

कंस—आप इस बालक को लेजाइये; इससे मुझे कोई भय नहीं है, मुझे तो आपके आठवें पुत्र से भय है।

वसुदेवजी यह सुन और उत्तर में "बहुत अच्छा" कह कर अपने घर तो चले गये, पर कंस की बात पर उनको विश्वास इसलिये न हुआ कि वे जानते थे कि कंस भला जीव नहीं है। उसे अपनी बात बदलते देर ही क्या लगेगी ? क्योंकि उसका मन तो उसके बस में था ही नहीं। हुआ भी ऐसा ही। क्योंकि वसुदेव के जाते ही कंस के पास नारद मुनि पहुँचे और बोलेः—

नारद—व्रजवासी नन्दादि गोप और गोपियाँ वसुदेव आदि वृष्णिवंशी यादव और देवकी आदि उनकी स्त्रियाँ आदि सब तुम्हारे वैसे ही शत्रु हैं, जैसे देवता। कंस ! असुर पृथिवी के लिये भार हो रहे हैं। अतः उनको नाश करने का देवताओं द्वारा यह उद्योग हो रहा है।

यह कह नारद तो वहाँ से चल दिये। उधर कंस ने सोचा कि यादव लोगों के रूप में देवता उत्पन्न हुए हैं और विष्णु मुझे मारने के लिये देवकी के गर्भ से उत्पन्न होंगे। यह सोचते ही उसने वसुदेव और देवकी के हथकड़ी बेड़ी डलवा उनको अपने घर में बन्दी बना कर बन्द करवा दिया। इतना ही नहीं बलिक देवकी

भूमिका।

श्री "मद्भागवतसंग्रह" लिखते समय हमारी यह इच्छा थी कि भागवत जैसे सर्वोत्तम और लोकोपकारी ग्रन्थरत्न को हम संक्षेप से हिन्दी भाषा में लिख कर, बालक बालिकाओं को संस्कृत साहित्य के एक उत्तमोत्तम ग्रन्थ का उपहार दें। किन्तु उस समय प्रकाशक ने केवल २०० पृष्ठों ही में उसके संक्षेप किये जाने की अभिलाषा प्रकट की। अतः उस समय हमें अपने विचार को छोड़ देना पड़ा।

किन्तु वह हमारा संकल्प सत् संकल्प था। अतः उसको अंशतः कार्य रूप में परिणत करने का सुयोग हमें आज प्राप्त हुआ है। इसके अर्थ हम सर्वमङ्गलमय भगवान् को अनेक धन्यवाद दे अपनी लेखनी एवं जिह्वा को पवित्र करते हैं।

इस पुस्तक में हमने श्रीकृष्ण कथा मात्र को श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध से अपने ढङ्ग पर संगृहीत करने का दुस्साहस किया है। दुस्साहस इसलिये कि उन सर्वशक्ति सम्पन्न जगन्नियन्ता की मानवी लीलाओं को जब बड़े बड़े सामर्थ्यवान् ऋषि और योगेश्वर भी सम्पूर्णतः वर्णन करने में सफल न हुए तब हम से कीटानुकीट की बिसात ही कितनी है।

हमने इस पुस्तक में मूलग्रन्थ के प्रथम नौ स्कन्धों में इसलिये हाथ नहीं लगाया कि उनमें वर्णित विषयों को हम "पौराणिक उपाख्यान माला" में लिख चुके हैं। फिर यदि उनका भी समावेश इस पुस्तक में किया जाता तो पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जाता और यह बात हमारे प्रकाशक महोदय को अभिमत नहीं है।

मूलग्रन्थ के विषय में हम अपने विचार विशद रूप से श्रीमद्भागवत् संग्रह की भूमिका में लिख चुके हैं अतः उनकी यहाँ पुनरावृत्ति केवल अरुचिकर ही न होगी, किन्तु पढ़ने वालों का समय भी व्यर्थ जायगा। अतः जिन्हें मूलग्रन्थ के रचयिता, उसके बनने के समय आदि की आलोचना पढ़ने की उत्कण्ठा हो, वे हमारी उक्त पुस्तक को पढ़ने का कष्ट स्वीकार करें।

"श्रीराम कथा" और "श्रीकृष्ण कथा" पढ़ने वालों को एक बात का स्मरण रखना आवश्यक है। वह यह कि इन दोनों पुस्तकों का संग्रहकर्त्ता श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र को ईश्वरावतार मानता है और उसे उनकी अलौकिक मानवी लीलाओं पर अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। अतः उस ने अपनी इन दोनों पुस्तकों में मूलग्रन्थों के उन स्थलों को छोड़ नहीं दिया जिन्हें आज कल के

शिक्षित समाज के नेता "पोपलीला" अथवा "पौराणिक गप्प" कह कर छोड़ देना ही अपने विचार स्वतंत्र्य की चरम सीमा समझते हैं। परन्तु हमारी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार सर्वशक्तिमान् भगवान् के लिये कोई कार्य्य असम्भव नहीं है। वे सब कुछ सदैव कर सकते हैं। हमारा यह विचार अथवा सिद्धान्त आज कल के सभ्य कहलाने वालों को भले ही भ्रान्त और आग्रह पूर्ण जचे पर हम इससे विचलित नहीं हो सकते।

यह पुस्तक साहित्य के उन्नत-ज्ञान-सम्पन्न पाठकों के लिये संगृहीत की गई है। अतः इसकी भाषा भी इस पुस्तकमाला की पुस्तकों की भाषा की अपेक्षा कुछ क्लिष्ट है।

दारागञ्ज।
ता० १३ अप्रैल सन् १९१८।

चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्म्मा।
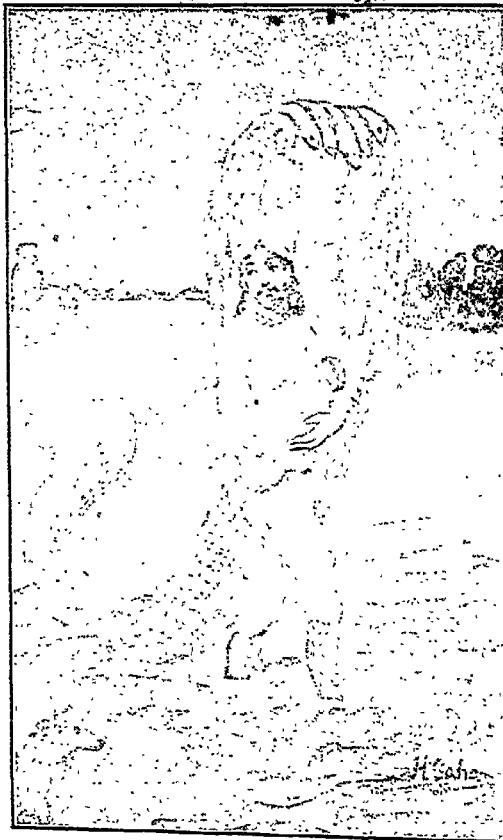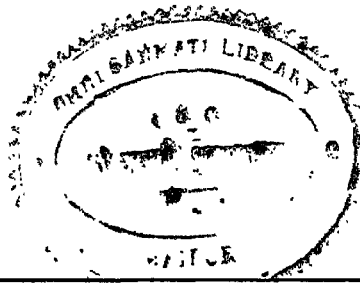
वसुदेव का गोकुलगमन

के प्रथम पुत्र को विष्णु समझ, उसे उसी समय मार डाला।

संसार में देखा जाता है कि लोभी एवं शारीरिक सुख को ही सर्वस्व माननेवाले क्रूर-स्वभाव वाले राजा गण अपनी भोगवासना को चरितार्थ करने के लिये माता पिता और भाई बन्धुओं की भी हत्या कर डाला करते हैं। इसी नियमानुसार कंस ने अपने पिता महाराज उग्रसेन को भी पकड़ कर बन्दीगृह में डाल दिया और वह स्वयं मनमाना निष्कण्टक राज्य करने लगा।

जरासन्ध की सहायता से तथा प्रलम्ब, बक, चाणूर, तृणावर्त्त, अघासुर, मुष्टिक, अरिष्ट, द्विविद, पूतना, केशी, धेनुक, बाणासुर भौमासुर तथा अन्यान्य राजवेशधारी असुरों समेत, बल से दर्पित कंस यादवों का नाश करने लगा। कंस के दारुण अत्याचारों से उत्पीड़ित होकर यादव कुरु, पाञ्चाल, केकय शाल्व, विदर्भ, निषध, विदेह, कोशल आदि देशों में भाग गये। केवल अक्रूर आदि कुछ लोग ऐसे थे जो कंस की हाँ में हाँ मिलाते हुए मथुरा में रह उसकी सेवा टहल किया करते थे + +

क्रमशः एक दिन कंस ने हरि को गर्भ में धारण किये देवकी को अपने तेज से घर भर का अन्धकार हरते देख कर कहाः

कंस—इस बार निश्चय ही मेरा संहारकारी शत्रु विष्णु इसके गर्भ में आया है। क्योंकि इसके पूर्व कभी देवकी का ऐसा दुर्द्धर्ष तेज नहीं देखा गया था। अब इसके नाश के लिये क्या करूँ? स्वार्थतत्पर पुरुष भी कभी स्त्री का वध कर अपने विक्रम को कलङ्कित नहीं करते। फिर देवकी को यदि मैं मार डालूँ तो स्त्री-वध भगिनीवध और गर्भिणीवध ये तीन पाप मेरे सिर चढ़ेंगे। इन पापों के लगने से धीरे धीरे मेरा यश, श्री और आयु नष्ट हो जायगी। जो मनुष्य केवल हिंसापरायण हो जीता है, वह जीता नहीं किन्तु मरे के समान है। जब तक वह इस लोक में जीता है, तब तक उसकी निन्दा होती है और मर कर वह नरक यातना भोगता है।

इस प्रकार आगा पीछा सोच कंस देवकी का वध न कर, आठवें बालक के उत्पन्न होने की प्रतीक्षा करने लगा रात दिन उसका चित्त अशान्त रहता था। उठते बैठते, खाते पीते, सोते जागते, वह हृषीकेश भगवान् विष्णु ही के ध्यान में मग्न रहता था। अन्त में यहाँ तक हुआ कि उसे सारा जगत् विष्णुमय ही दीखने लगा।

होते हवाते भादों की कृष्णाष्टमी की अर्धरात्रि उपस्थित हुई और उसी समय भगवान् विष्णु देवकी के गर्भ से बालक रूप में प्रकट हुए। तब वसुदेवजी बालरूप हरि को लेकर सूतिकागृह से बाहर निकलने का उद्योग करने लगे। उसी समय गोकुल में नन्दरानी के गर्भ से योगमाया ने बालिका के रूप में जन्म धारण किया। उसी योगमाया के प्रभाव से सूतिकागृह के प्रहरीगण और पुरवासी लोग घोर निद्रा के वशवर्त्ती हो अचेत हो पड़े रहे। सूतिकागृह के किवाड़ अपने आप खुल गये।

उस समय मेघों से जल की बौछार गिर रही थी। उधर वर्षाकाल के कारण गोकुल की राह में यमुना भी बहुत चढ़ रहीं थीं। तौभी जिस प्रकार अथाह समुद्र ने श्रीरामचन्द्र जी को पार जाने का मार्ग कर दिया था, वैसे ही यमुना भी वसुदेव के तट पर पहुँचते ही पाँक हो गयीं और वसुदेव जी उस पार पहुँच गये। गोकुल में भी वसुदेवजी ने वही दशा देखी जो वे मथुरा में देख गये थे। अर्थात् वहाँ भी सब लोग अचेत पड़े सो रहे थे। वसुदेव ने अपने बालक को तो यशोदा की शय्या पर सुला दिया और यशोदा की कन्या को लेकर वे घर लौट आये। सूतिकागृह में लौट कर वसुदेव ने

उस कन्या को देवकी के पास लिटा दिया और पूर्ववत् अपने पैरों में बेड़ियाँ पहन लीं। इतने ही में बन्दीगृह के सब द्वार अपने आप पूर्ववत् बन्द हो गये।

उधर यशोदा को यह भेद तो मालूम हुआ कि उन्होंने बच्चा जना, पर वह बच्चा बालक है या बालिका यह वे श्रम और निद्रा के कारण न जान सकीं।

जब वसुदेव जी के बन्दीगृह के द्वार पूर्ववत् बन्द होगये, तब बालक के रोने का शब्द सुन कर प्रहरी लोग जागे और दौड़ कर बालक उत्पन्न होने की सूचना कंस को दी। यह समाचार पाते ही कंस घबड़ा कर उठ बैठा। क्योंकि वह तो यही राह देख रहा था कि देवकी के आठवाँ बालक कब उत्पन्न हो? इसीको तो उसे बड़ी चिन्ता और घबराहट थी। यह समाचार पाते ही कंस उघारे सिर और नंगे पैर, बाल खुले और झटपट पैर रखता दौड़ कर किसी प्रकार सूतिकागृह में पहुँचा। इस प्रकार अपने निष्ठुर भाई को आते देख, देवकी बहुत दुःखी हुई और दीन हो कंस से बोली:—

देवकी—भैया! यह बालिका तुम्हारी भाञ्जी है। इसको मारना तुम्हें उचित नहीं। तुमने दैव की प्रदत्त दुर्मति से अग्नितुल्य तेजस्वी मेरे कई बालकों का वध किया है, अब यह कन्या मुझे मँगनो दो। मैं तुम्हारी बहिन हूँ और इतने बालकों के मारे जाने के कारण दुखिया हूँ। यह कन्या मेरी अन्तिम सन्तान है। मुझ अभागी को यह कन्या देना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार देवकी ने अपनी गोद में कन्या को छिपा कर कंस से बहुत कुछ अनुनय विनय की, किन्तु दुष्ट कंस के मन पर देवकी की एक भी बात न चढ़ी। उसने देवकी के हाथ से कन्या छीन ली। स्वार्थान्ध और स्नेह शून्य कंस ने तत्काल उत्पन्न हुई कन्या के दोनों पैर पकड़ कर उसे पास पड़ी एक शिला पर पटकना चाहा। किन्तु वह उसके हाथ से छूट कर शीघ्रता के साथ आकाश की ओर चली गयो और वहाँ जाकर कंस को सम्बोधन करके कहने लगी—"अरे मन्द! मुझे मारने से तुझे क्या लाभ होगा? तेरा पहिले का शत्रु विष्णु और तेरा वध करने वाला कहीं अन्यत्र ही उत्पन्न हो चुका है। अतएव व्यर्थ और निर्दोषी बालकों का वध न कर।

यह कह योगमाया तो अन्तर्धान हो गयी। पर इन वचनों को सुन कंस बहुत विस्मित हुआ। उसने उसी क्षण देवकी और वसुदेव को बन्दीगृह से मुक्त कर उनसे कहा:—

कंस—हे बहिन और हे बहनोई जी! तुम तो हमारे आत्मीय हो। तिस पर भी मैंने राक्षस बन कर तुम्हारे कई पुत्र मार डाले। हाय! मैंने करुणा को छोड़ा और छोड़ा जाति वालों तथा सुहृदों का स्नेह। नहीं कह सकता मरने पर मुझे किस नरक में सड़ना पड़ेगा? मैं तो उसी प्रकार जीता हुआ भी मृतक तुल्य हूँ जिस प्रकार ब्रह्मघाती होता है। आज मैंने जाना कि केवल मनुष्य ही नहीं, किन्तु देवता भी झूठ बोला करते हैं। यदि ऐसा न होता तो मैं क्यों उनकी झूठी बात पर विश्वास कर अपने भाञ्जों की हत्या करता। हे महाभागे! तुम दोनों जन, अपने पुत्रों के लिये शोक मत करो। उन्होंने जैसे कर्म किये थे वैसा ही उन्हें फल भोगना पड़ा। प्राणी मात्र दैव के वश में हैं। अतएव वे सर्वदा एकत्र नहीं रह सकते। तुम दोनों साधु और बन्धुवत्सल हो, अतः मेरी दुष्टता को क्षमा करो।

यह कह और आँसू बहा कर, कंस वसुदेव और देवकी के पैरों पर गिर पड़ा। फिर उसने उन दोनों को बन्दीगृह से भी छोड़ दिया।

भाई को इस प्रकार अपने किये पर पछताते देख कर, देवकी ने अपने हृदय से क्रोध दूर

कर दिया। वसुदेव जी हँस कर कंस से बोलेः—

वसुदेव—महाभाग! देहधारियों के विषय में तुमने जो कुछ अभी कहा वह सब ठीक है।

प्रसन्न होकर शुद्धभाव से देवकी और वसुदेव के इस प्रकार कहने पर, उनकी आज्ञा लेकर कंस अपने घर गया।

अगले दिन सवेरा होते ही कंस ने अपने मंत्रियों को बुलाया और जो बात उस लड़की ने कही थी सो उनसे कही। अपने प्रभु कंस की बात सुन कर मूर्ख एवं सहज देवद्रोही दानवों ने देवताओं पर क्रुद्ध हो कर कहाः—

दानवगण—हे भोजराज! यदि यही बात है तो हम अभी सारे नगर और गाँव तथा व्रज में जाकर दस दिन और दस दिन से कम अवस्था वाले बालकों को नष्ट करते हैं। हज़ार करने पर भी देवता आपका कर ही क्या सकते हैं। वे तो रणभीरु और कायर हैं। नित्य आपके धनुष के रोदे की टङ्कार सुन कर ही घबड़ा जाते हैं। युद्ध में जब आप बाणों की वर्षा से उन्हें घायल करते हैं, तब अपने प्राणों को ले वे इधर उधर भाग जाते हैं तथा अनेक अपने शस्त्र फेंक देते हैं बल्कि कोंच और चोटी खोल कर दीनभाव से हाथ जोड़े वे कहने लगते हैं—"हम डर गये हैं" और यह कह कर आपसे दया की भिक्षा माँगते हैं। तब उनकी यह दशा देख आप उनको नहीं मारते। जहाँ कोई बराबरी का नहीं होता वहीं देवगण अपनी डींगें हाँका करते हैं। विष्णु सदा निर्जन स्थान में रहते और शिव वनवासी एवं तपस्वी हैं। इन्द्र का पराक्रम अति सामान्य है और ब्रह्मा बूढ़े तपस्वी हैं। इनसे खटका ही किस बात का हो सकता है। तथापि ये हमारे शत्रु हैं; अतः उनको तुच्छ समझ कर चुपचाप बैठ रहना बड़ी भारी भूल का काम है। उनको समूल नष्ट करने के लिये आप अपने अनुगतों को आज्ञा भर दे दीजिये।

प्रभु! देवताओं के मुख्य विष्णु हैं और विष्णु वहीं रहते हैं जहाँ सनातन धर्म है। वेद, ब्राह्मण, गौ, तप, और दक्षिणायुक्त यज्ञ सनातन धर्म्म के मूल हैं। अतएव हे राजन्! जैसे बनेगा वैसे हम वेदपाठी, तपस्वी, यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों और हव्य देने वाली गौओं को मारेंगे।

गौ, वेद, तप, सत्य, दम, शम, श्रद्धा, दया, क्षमा एवं विविध यज्ञ ही विष्णु के रूप हैं और विष्णु ही सब देवताओं के अध्यक्ष हैं। दानवद्रोही और अन्तर्यामी विष्णु ही ब्रह्मा शिव हैं तथा अन्य समस्त देवताओं के आदि कारण हैं, अतएव ऋषियों के मारने ही से विष्णु मारे जायँगे।

कंस के सिर पर काल खेल रहा था। इसलिये मन्दबुद्धि कंस ने अपने दुष्ट मंत्रियों के परामर्श से ब्रह्महत्या ही को अपना हितकर और कल्याणप्रद समझा। हत्याप्रिय तथा मनमाना रूप धारण करने वाले दैत्यों को कंस ने चारों ओर भेजा और स्वयं वह अपने घर चला गया। वे दुष्ट लोग बुरे कामों में लगे। कहा है जो बड़े लोगों का अनादर करते हैं, उनकी आयु, श्री, यश, धर्म्म, स्वर्गादिलोक, मङ्गल और सब प्रकार के श्रेय शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं।

उधर उदारमना नन्द ने अपने घर में पुत्र का जन्म हुआ जान आनन्दित हो वेदपाठी ब्राह्मणों को बुलवाया और स्नान पूर्वक पवित्र होकर नवीन वस्त्र एवं आभूषण धारण किये। तदनन्तर स्वस्तयनपाठ और सद्यजात बालक के यथाविधि जातकर्म संस्कारादि तथा पितृदेव पूजन करवाया। पुत्रोत्सव के उपलक्ष्य में बीस लाख सजी सजाई दूधवाली गौएँ दीं। अनेक रत्नों और सुनहले वस्त्रों से ढके हुए सात तिलपर्वत[1] दिये। क्योंकि भूमि समय से, देहादि स्नान से, अपवित्र हुई वस्तु शौच से, गर्भादि संस्कार से, इन्द्रियादि तप से ब्राह्मणादि पूजा पाठ से

[1] तिल के पर्वत की ऊँचाई का मान यह है कि उसके अगल बगल दो मनुष्य खड़े होकर एक दूसरे को न देख पावें।

द्रव्यादि दान से और मन सन्तोष से आत्मा आत्मज्ञान अथवा विद्या से शुद्ध होता है।

उस आनन्दोत्सव के दिवस नन्द के व्रज में मङ्गलमय वचनों से ब्राह्मण सूतमागध वन्दीजन स्वस्तिवाचन द्वारा आशीर्वाद देने लगे। और गवैया बधावे गाने लगे। बाजे वाले माङ्गलिक बाजे बजाने लगे। व्रज में जिधर देखो उधर ध्वजा पताकाओं से सुशोभित मालाओं से भूषित रङ्ग बिरङ्गे वस्त्रों से सुसज्जित द्वार दिखलाई देते थे। व्रज में जो गौएँ बैल और बछड़े थे उनकी भी सजावट देखते ही बन आती थी। सब के तेल और हल्दी की छापें लगीं थीं। सींगों पर गेरूआदि लगाकर उनके बीच में मोर के पर बाँध दिये गये थे। उनकी गरदनों में सोने की ज़ञ्जीरें पड़ी थीं। पैर आदि में बहुमूल्य आभूषण पहनाये गये थे। गोप भी जामा पगड़ी और बहुमूल्य आभूषण पहन कर उस उत्सव की शोभा बढ़ाते हुए और भेंट की वस्तुएँ हाथ में लिये नन्द के भवन की ओर जाते हुए दीख पड़ते थे। यशोदा के पुत्र का जन्म हुआ सुन सब गोपियाँ परम आनन्द को प्राप्त हुईं और वस्त्र अलङ्कार और सुरमा मिस्सी लगा अपना श्रृङ्गार करके नन्द भवन में गयीं। वहाँ जाकर वे "चिरञ्जीव" कह कर नवजात बालक को आशीर्वाद देती थीं। यही नहीं किन्तु तेल मिली हल्दी तथा जल को एक दूसरे पर छिड़क कर आनन्द प्रकट करती थीं।

इस उत्सव के कुछ दिनों बाद नन्दजी कुछ गोपों को व्रज की रक्षा का भार सौंप कंस को वार्षिक राजकर देने के लिये मथुरा गये। उनका आगमन सुन वसुदेव जी उनसे मिलने गये। नन्दजी वसुदेव को देख बहुत प्रसन्न हुए और आसन से उठ कर और हाथ फैला कर प्रसन्नता पूर्वक उनसे मिले। नन्द ने बड़े सम्मान के साथ उनका आगत स्वागत किया। वसुदेव जी के आसन पर बैठ जाने पर और परस्पर कुशल प्रश्न के अनन्तर पुत्रों[१] में मन लगा रहने के कारण वे यों कहने लगेः—

वसुदेव—भाई! तुम बूढ़े हो गये थे और अब तुम्हारे सन्तान होने की आशा भी किसी को न थी। पर अब तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ यह बड़े ही सौभाग्य की बात है। इससे बढ़ कर सौभाग्य की बात यह है कि इस संसारचक्र में हम तुम दोनों मित्र आज फिर मिल लिये। क्योंकि प्रिय मित्र का दर्शन बड़ी दुर्लभ बात है। तुम भाई बन्दों सहित जिस वन में रहते हो उसमें किसी प्रकार की बाधा तो नहीं है। वहाँ निर्वाह योग्य तृण वृक्षलता आदि तो है न? हमारा एक पुत्र अपनी जननी सहित आप के व्रज में रहता है। भाई वह आप ही को अपना पिता जानता है। क्योंकि यशोदा जी और आपने ही उसे पालपोस कर बड़ा किया है वह तो सुखी है?

नन्द—बड़े दुःख की बात है कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न आपके कई पुत्र दुष्ट कंस द्वारा मारे गये। अन्त में बेचारी एक कन्या बची थी वह भी स्वर्ग सिधारी। निश्चय ही पुत्र आदि का सुख मनुष्य को भाग्यानुसार ही मिलता हैं। अतः भाग्य ही सब का सब कुछ है। जो लोग भाग्य ही को सब कुछ जानते और उसीको सुख दुःख का कारण मानते हैं, उनके ऊपर यदि दुःख पड़ता या उन्हें सुख मिलता है, तब वे मोह को प्राप्त नहीं होते।

वसुदेव—मित्र! तुम कंसराज को वार्षिक कर चुका चुके और हम से भी भेंट कर चुके। अब

---

[१] वसुदेव की दूसरी स्त्री का नाम रोहिणी था। दैवी शक्ति से देवकी का गर्भ रोहिणी के चला गया था उस गर्भ में एक बालक उत्पन्न हुआ जिसका नाम बलराम पड़ा। कंस के डर से वसुदेव जी ने रोहिणी को अपने मित्र नन्द के यहाँ भेज दिया था। वहीं पर बलदेव जी का जन्म हुआ था और नन्द यशोदा ने उन्हें निजपुत्रवत् पालन किया था।

यहाँ ठहरना अच्छा नहीं
। अनेक प्रकार के उत्पात

गोपों ने अपने छकड़े जुत-
ऽ वसुदेव से विदा हो वे
ानित हुए।

ना वध।

विश्वास था कि वसुदेव का
र नहीं होता। अतः वे उत्पातों
भीत हो मन ही मन भगवान्
की ओर चले जाते थे। सच-
ड़ा उत्पात हो रहा था। कंस
बालघातिनी घोर क्रूर स्वभाव
पूतना को गोकुल आदि ग्राम
र्दों को मार डालने के लिये भेज
. वह वहाँ पहुँच कर बालकों
. थी। घूमती फिरती वह आकाश
...राक्षसी नन्द के गोकुल में भी जा
पहुँची। वह वहाँ जाकर एक बड़ी सुन्दरी
युवती का रूप धारण कर गोकुल में घुसी।
बालकों की ताक में वह घरों में घुसने लगी।
अन्त में उसने नन्द के भवन में जाकर खटोले
पर पड़े बालवेशधारी श्रीकृष्ण को देखा। पर
वह यह बात नहीं जानती थी कि यह बालक
दुष्टों के लिये काल है। अतः वह श्रीकृष्ण जी को
देख तिल भर भी न डरी। उधर श्रीकृष्ण जी भी
उसका दुष्ट अभिप्राय जान गये और उसे भुलावे
में डालने के लिये उन्होंने अपनी दोनों आँखें
जान बूझ कर बन्द कर लीं। तब पूतना ने
उन्हें साधारण बालक जान झट अपनी गोद
में उठा लिया। उसने बालक श्री कृष्ण के
प्रति ऐसा स्नेहमय भाव दरसाया कि यशोदा
और रोहिणी ने उसे रोकना उचित न समझा।

पूतना बालकों के मारने के लिये अपने स्तन
में कालकूट विष लगाये हुए थी। सो उस
...त नाशक स्तन को उसने श्रीकृष्ण के मुख
में दिया। श्रीकृष्ण ने क्रुद्ध हो उस स्तन को दोनों
हाथों से पकड़ लिया और दूध के साथ साथ
उसके प्राण तक खिंचने लगे। पूतना के सारे
शरीर में घोर वेदना उत्पन्न हुई और वह राक्षसी
"बस बस छोड़ दे छोड़ दे" वारम्बार आर्त्त-
स्वर से कहने लगी। परन्तु अब भला श्रीकृष्ण
उसे क्यों छोड़ने लगे। उसके सारे शरीर से
पसीना टपकने लगा और आँखें निकल पड़ीं।
अन्त में वह मूर्च्छित हो पृथिवी पर गिर पड़ी
और बड़ी वेदना होने के कारण बारम्बार हाथ
पैर फटकारती हुई रोने लगी। अब तो उसकी
चिल्लाहट से बड़ा भारी कोलाहल हुआ। वह
इन्द्र के वज्र से गिरे हुए वृत्तासुर की तरह
पृथिवी पर गिरते ही मर गयी और उस समय
उसने अपना राक्षसी रूप भी प्रकट कर दि...
उसके केश खुल गये और उसने अपनी दोनों
बाहें और पैर फैला दिये।

इस घटना से गोकुलवासी बहुत विस्मि...
हुए। गोपियों का तो कहना ही क्या था। वे
उसके चीत्कार ही से गिर कर घायल हो चुकी
थीं। अब उसके विकराल रूप को देख उनके
पेट में पानी हो गया पर बालक को उस राक्षसी
के पेट पर खेलते देख, उन्होंने दौड़ कर झट
बालक को उठा लिया। फिर स्त्रियों को जो
टोने टुटके होते हैं वे आरम्भ हुए। पर उस
समय इतनी कुशल थी कि आज कल की तरह
झण्डुआ मेहतर और कलुआ चमार लड़कों
को नहीं झाड़ता फूँकता था। उस समय ... क
प्रत्यक्ष देवता समझी जाती थीं। अतः गो...
ने पहले बालक को गोमूत्र से स्नान क...
फिर सारे अङ्ग में गोरज लगायी ...
टादि बारहों अङ्गों की केशवादि द्वाद...
से रक्षा की। तदनन्तर स्वयं हाथ पैर ...
धो कर और आचमन ...
अज आदि एकादश बीज ...
किये। तदनन्तर ...
के शरीर पर किया ...

... आयी हु...
... रहते हैं
... मारे किसी
... लक मरते
... ऐसी घटनाओं को देख
... कहने लगे—"वसुदेव जी
... निकला।

बालक को गोद में ले दूध पिलाया और फिर बालक को खटोले पर सुला दिया।

इसी समय नन्द आदि गोप मथुरा से गोकुल को फिरे आ रहे थे। वे मार्ग में पूतना के विकराल शरीर को देख बड़े विस्मित हुए और आपस में कहने लगे कि वसुदेवजी अवश्य ही किसी ऋषि अथवा योगेश्वर का अवतार हैं। क्योंकि जो उन्होंने कहा था वही सामने दीख पड़ता है। फिर गोपों ने कुल्हाड़ियों से पूतना के शरीर के टुकड़े कर और उन्हें दूर ले जाकर लकड़ियों पर धर जला दिया। उन माँस के टुकड़ों के जलने पर उनमें से अंगूर जैसी सुगन्ध निकली। उसे सूँघ वे सब गोप विस्मित हुए और आपस में यह पूँछते कि यह सुवास [illegible]ाँ से आती है"। इतने में नन्द आदि गोप मथुरा से लौट कर व्रज में पहुँचे। वहाँ पर पूतना के आने और उसके मरने का हाल गोपियों से सुना। साथ ही यह भी सुना कि वह बालक श्रीकृष्ण का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकी। तब स्नेह में भर नन्दजी ने झट श्रीकृष्ण को अपनी गोद में उठा लिया और माथा सूँघ वे बहुत प्रसन्न हुए।

शकटभञ्जन और तृणावर्त्त वध।

एक दिन बालक के अङ्गपरिवर्त्तन तथा जन्मदिन के उपलक्ष्य में नन्द के यहाँ महोत्सव हुआ जिसमें अभिषेक कृत्य किया गया। इस [illegible]सर पर व्रज की सारी गोपियाँ आयीं। [illegible] साथ नन्दरानी यशोदा ने बालक का उ[illegible] कराया। खूब गाना बजाना हुआ गये [illegible]णों ने स्वस्त्ययन मंत्रों का पाठ किया। और स्नानादि कर्म जब पूरा हो चुका और [illegible]र के भोजन कर वस्त्र माला और सम्मान [illegible]आदि की दक्षिणा पा सन्तुष्ट वसुदेव जी [illegible]ण स्वस्त्ययन पाठ कर चुके और परस्पर निद्रित देख यशोदा ने [illegible]दिया। यशोदाजी का मन उस समय उस उत्सव की ओर लगा [illegible] था। वे समागत व्रजवासियों के आगत [illegible] में व्यग्र थीं। इसी से वे श्रीकृष्ण का [illegible] सुन सकीं। इधर दूध के लिये रोते हुए [illegible] ने दोनों पैर ऊपर को उछाले। पालने लेटे हुए थे। उनके पालने के ऊपर रस्सियों बँधा एक छकड़ा लटक रहा था। श्रीकृ[illegible] पैरों के लगने से वह छकड़ा उलट पड़ा [illegible] उसमें रखे हुए दही दूध आदि अनेक रसों भरे हुए काँसे आदि के अनेक बने बर्तन फूट कर चूर चूर हो गये। छकड़े के प[illegible] धुरा और जुआँ भी टुकड़े टुकड़े हो [illegible] उत्सव में आयी हुई गोपियों समेत यशोदा त[illegible] अन्य गोपों सहित नन्द इस अद्भुत घटना [illegible] देख विस्मित हुए और विकल हो बोले: "यह क्या हुआ?" छकड़ा आप ही आप क्यों [illegible] उलट गया?" बहुत विचारने पर भी छ[illegible] के उलटने का कारण गोप गोपियों की स[illegible] में न आ सका। तब वहाँ खेलने वाले बाल[illegible] ने कहा—"अरे इसी कृष्ण ने रोते रोते पैर उछाल कर छकड़ा उलट दिया। हम कहते हैं।" किन्तु उन बड़ों ने उन बाल[illegible] बात को "लड़क बात" कह कर हँसी [illegible] दिया। उन लोगों को उस बालक के बल का ज्ञान तो था ही नहीं। अतः य[illegible] इस उत्पात को ग्रहजनित समझ बाल[illegible] गोद में उठा लिया। फिर ब्राह्मणों से [illegible] यन मंत्रों का पाठ करा उन्हें दूध पि[illegible] तदनन्तर गोपों ने श्री कृष्ण को नवीन [illegible] पहना कर वेदी पर विठाया तब ब्राह्म[illegible] बलराम सहित हवन किया [illegible] अक्षत का टीका लगा कुश प[illegible] श्रीकृष्ण का मार्जन किया। तदन[illegible] मंत्रों से ओषधियों द्वारा श्री कृष्ण व[illegible] किया गया। इन कृत्यों के समाप्त हो[illegible] ने बालक के अभ्युदय की कामना [illegible] को सुस्वादु उत्तम अन्न एवं सर्वगु[illegible]

गौएँ, वस्त्र, माला और रत्नों के हार दिये। उसके बदले ब्राह्मणों ने भी सत्य एवं सफल आशीर्वाद दिये। उस समय के लोगों का यह पूर्ण विश्वास था कि वेदविद् ब्राह्मणों के दिये आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं जाते।

एक दिन यशोदा श्री कृष्ण को गोद में ले दूध पिला रही थीं। इतने में उनको श्री कृष्ण का बोझ पर्वत शिखर के समान भारी जान पड़ा। वे बहुत देर तक बालक को गोद में न रख सकीं। अन्त में बोझ से विकल हो यशोदा ने बालक को गोद से उतार भूमि पर बिठा दिया। यशोदा उस घटना से बड़ी अचम्भित हुईं और ईश्वर का स्मरण तथा ध्यान करती हुई घर के धन्धे में लग गयीं इतने में कंस का भेजा हुआ तृणावर्त्त असुर, आँधी बवण्डर के रूप में ब्रज में आया और भूमि पर बैठे श्रीकृष्ण को उठा ले गया। दसों दिशाओं से उस आँधी रूप असुर के घोर शब्द की गूञ्ज होने लगी। धूल से ब्रज मण्डल छा गया। धूल भर जाने से लोगों के नेत्र मुँद गये। दो घड़ी तक सारा ब्रज धूल और अन्धकार से छा गया। तब तो यशोदा श्री कृष्ण को ढूँढ़ने उस जगह गईं जहाँ वे उन्हें बैठा आयी थीं। पर उन्हें वहाँ न पाया। उस समय तृणावर्त्त ने कङ्कड़ियों के ऐसे छर्रे चलाये कि सब लोग उद्विग्न हो गये। अन्धकार के मारे सब मोहित हो गये। लोग अपने परायों को न पहचान सके। प्रचण्ड बवण्डर के कारण धूल की वर्षा देख यशोदा पुत्र को इधर उधर खोजने लगीं। किन्तु उसे कहीं भी न पाकर वे उस गौ की तरह विलाप करने लगीं जिसका बछड़ा मर गया हो। इतने दिधूल का उड़ना बन्द हुआ।

यशोदा का रोना सुन अन्य गोपियाँ उनके पास गयीं और कृष्ण के खो जाने का वृत्तान्त सुनकर बहुत ही दुखित हुईं।

बवण्डर रूप तृणावर्त्त श्री कृष्ण को लेकर ऊपर आकाश को चला गया अतएव पृथिवी पर उसका वेग ठण्डा पड़ गया। उधर श्री कृष्ण इतने भारी पड़ गये कि तृणावर्त्त उन्हें उठा कर आगे न जा सका। इतने में श्री कृष्ण ने उसके गले को दोनों हाथों से पकड़ लिया। उस दैत्य ने अपना गला छुड़ाने का बहुत कुछ यत्न किया। परन्तु भला अद्भुत बालक कृष्ण से गला छुड़ाना सहल काम न था। सो उनके हाथों से वह अपना गला न छुड़ा सका। गला दबने के कारण दैत्य बेदम हो गया और उसकी आँखें निकल पड़ीं। मरते समय चीत्कार करता वह ब्रज की भूमि पर गिर पड़ा। उधर सारी गोपियाँ श्री कृष्ण को न पा कर विलाप कर रही थीं। उन्होंने देखा कि वह भयानक राक्षस आकाश से एक शिला के ऊपर गिरा और गिरने से उसके सब अङ्ग चूर चूर हो गये। श्री कृष्ण उसकी छाती पर थे। गोपियों ने दौड़ कर उन्हें उठा लिया और वहाँ से लाकर उन्हें यशोदा को दे दिया। दुष्ट राक्षस कृष्ण को आकाश में ले गया था। पर वह वहाँ से गिर कर स्वयं ही मर गया और बालक के चोट तक न आयी। इस प्रकार बालक का बाल बाल बचना देख सब को बड़ा आश्चर्य हुआ। बालक को सुरक्षित अवस्था में देख गोपियाँ और नन्द आदि गोप बहुत प्रसन्न हुए और आपस में कहने लगे—"बड़े आश्चर्य की बात है। इस असुर ने बालक को मारना चाहा था, पर बालक का बाल भी बाँका न हुआ—वह फिर कुशल क्षेम से हमें मिला और वह दुष्ट हत्यारा अपने किये का फल अपने आप पा गया। सत्य है साधु लोग सब को समान मानते हैं अतएव आयी हुई भयानक विपत्तियों से सदा बचे रहते हैं; ईश्वर उनकी रक्षा करता है। हमारे किसी अज्ञात सुकृत का यह फल है कि बालक मरते मरते बचा है।

गोकुल में बारम्बार ऐसी घटनाओं को देख नन्द जी मन ही मन कहने लगे—"वसुदेव जी का कहना ठीक ही निकला।

विराट दर्शन।

एक दिन यशोदा जी श्री कृष्ण को दूध पिला रही थीं जब श्री कृष्ण भली भाँति दूध पी चुके तब प्यार कर यशोदा ने उनके मुख को चूमा। इतने में श्री कृष्ण ने जमुहाई ली। यशोदा ने जमुहाते हुए श्री कृष्ण के मुख में देखा कि आकाश अन्तरिक्ष ज्योतिर्मण्डल दसों दिशाएँ, सूर्य्य, चन्द्रमा, पवन, सप्त महासागर, सप्तद्वीप और समस्त चराचर प्राणी विराज रहे हैं। पुत्र के मुख में अकस्मात् समस्त ब्रह्माण्ड देख कर यशोदा का हृदय आश्चर्य के बढ़ने से धड़कने लगा। डर के मारे नन्दरानी ने अपनी आँखें बन्द कर लीं और वे ईश्वर को स्मरण करने लगीं।

महर्षि गर्ग का आगमन और दोनों बालकों का नाम करण संस्कार।

महर्षि गर्गाचार्य यादवों के कुल पूज्य पुरोहित थे और वे बड़े तपस्वी थे। वसुदेव जी के कहने से वे नन्द जी के गोकुल में गये। उन्हें देख नन्द जी बहुत प्रसन्न हुए। उठ कर नन्द जी ने उन्हें प्रणाम किया और उनका पूजन किया। अतिथि-सत्कार कर चुकने पर नन्द जी ने उनसे बड़े मीठे वचनों में कहा:—

नन्द—हे ब्रह्मन्! आप पूर्ण काम हैं। अब हम आपकी क्या सेवा करें। आप जैसे महात्माओं का पधारना स्वार्थमूलक नहीं है। किन्तु जिन लोगों का मन गृहस्थाश्रम में लिप्त होने के कारण दीन हो रहा है, उनके कल्याण साधन के लिये आप हैं। आप उस ज्योतिष शास्त्र के निर्माता हैं जिसके द्वारा लोग भूत भविष्य और वर्तमान का हाल जान सकते हैं। भगवान आप ज्योतिर्विदों और ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं। अतएव इन मेरे बालकों के नाम करण आदि संस्कार आप ही कीजिये। यदि कहिये कि आप हमारे गुरु नहीं हैं, तो यह कहना इसलिये ठीक नहीं कि ब्राह्मण सब के गुरु हैं।

गर्गाचार्य—नन्द जी! पृथिवी भर पर यह प्रसिद्ध है कि मैं यादवों का आचार्य हूँ। यदि मैं तुम्हारे पुत्रों का संस्कार कराऊँ तो कहीं ऐसा न हो कि कंस तुम्हारे पुत्र को देवकी का पुत्र समझ बैठे। और उसके ऐसा समझने के और भी कई एक कारण हैं। पहला तो यह है कि वह पापबुद्धि है। दूसरे वह यह भी जानता है कि तुममें और वसुदेव में गहरी मैत्री है। तीसरे उसे यह भी विश्वास है कि देवकी के आठवें गर्भ में कभी कन्या नहीं हो सकती। अतः इन कारणों से और देवकी की कन्या के कहने से यदि कंस ने कहीं तुम्हारे पुत्र का वध कर डाला, तो यह बड़ा अनर्थ होगा।

नन्द—भगवन् यहाँ एकान्त में चुपचाप स्वस्त्यवाचन मात्र करके मेरे पुत्रों का आवश्यक द्विज संस्कार करा दीजिये। औरों की बात दूर रहे, हमारे जाति भाई भी इसे न जान पावेंगे।

गर्गाचार्य तो इसलिये आये ही थे; अतएव नन्द के इस प्रकार प्रार्थना करने पर उन्होंने छिप कर दोनों बालकों का नामकरण संस्कार किया। गर्गाचार्य ने रोहिणी के पुत्र का नाम राम रख कर कहा कि यह बालक अपने गुणों से अपने सुहृद्जनों को रमावेगा। इसमें बल अधिक होगा, अतः यह बलभद्र भी कहलावेगा तथा यादवों में अभिन्नभाव होने के कारण इसका नाम संकर्षण भी होगा।

इसके बाद गर्गाचार्य
विषय में कहाः—

गर्गाचार्य—गत तीन
और पीले रङ्ग के तीन
इस युग में इसका कृष
अतः इसका नाम कृष
पुत्र कभी वसुदेव के यह
लिये विद्वान् लोग इ

देव भी कहेंगे। हे महाभाग! तुम्हारे इस पुत्र के गुण और कर्मों के अनुरूप अनेक नाम हैं। उनको मैं ही जानता हूँ। सामान्य जन नहीं जानते, इस बालक द्वारा तुम्हारा कल्याण होगा इससे गोप और गौओं को बड़ा आनन्द प्राप्त होगा। तुम्हारे अनेक सङ्कट इसकी सहायता से दूर हो जायँगे। हे नन्द! यह तुम्हारा पुत्र गुण, लक्ष्मी, कीर्त्ति और प्रभाव में नारायण के तुल्य है। अतः सावधानता पूर्वक तुम इसकी रक्षा करो।

यह कह कर गर्गाचार्यजी अपने घर लौट गये। गर्गाचार्य के मुख से दोनों पुत्रों का भावी फल सुन नन्द यशोदा दोनों बहुत प्रसन्न हुए।

थोड़े ही दिनों बाद कृष्ण और बलभद्र दोनों भाई घुटनों चलने और बालक्रीड़ा करने लगे। कुछ दिनों बाद दोनों बालक खड़े खड़े चलने लगे।

एक बार बलभद्र आदि ग्वालबालों ने यशोदा से आकर कहा कि देखो कृष्ण ने आज मिट्टी खा ली है। यशोदा ने कृष्ण का हाथ पकड़ लिया और पुत्र के हित के लिये डाँटा। उस समय श्रीकृष्ण की भय से पूर्ण चञ्चल चितवन और भोला मुख बड़ा अच्छा लगता था।

यशोदा कहने लगीं—क्यों रे ढीठ! तूने छिप कर मिट्टी क्यों खा ली? देख तेरे साथी सङ्गी और तेरा भाई ही क्या कह रहे हैं।

श्रीकृष्ण—मैया! मैंने तो मिट्टी चिट्टी खाई नहीं ये सब मुझे झूठ मूठ ही दोष लगाते हैं यदि तुझे मेरे कहने का विश्वास न हो तो मेरा मुँह देख ले।

यशोदा—अच्छा! तू बड़ा सत्यधारी है तो दिखला तो अपना मुँह।

यह सुन और खेल करने के अर्थ, मनुष्य वपुधारी साक्षात् परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना मुख खोल दिया। मुख में श्रीकृष्ण ने चौदहों भुवन चराचर, तारा, पृथिवी, देव सभी तो दिखला दिये। सारांश यह कि माता को श्रीकृष्ण ने अपना विराट् रूप अपने मुख के भीतर दिखला दिया। उसे देख यशोदा को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे मन ही मन कहने लगीं कि यह है भी क्या? क्या मुझे भ्रम हो गया है या यह हरि की माया है या मेरे इस पुत्र का कोई न समझने योग्य ऐश्वर्य प्रताप है। इस प्रकार यशोदा को चिन्ताकुल देख श्रीकृष्ण ने पुत्रस्नेहरूपी प्रबल माया फिर फैला दी। तुरन्त ही यशोदा सब भूल गयीं और हृदय में पुत्र स्नेह उमड़ आया। पुत्र को गोद में ले वे उसे फिर दुलारने लगीं।

श्रीकृष्ण का उलूखल बन्धन।

एक दिन घर की टहलनी अन्य कामों में लगी हुई थीं। इससे नन्दरानी यशोदा स्वयं दही बिलोने लगीं। बिलोते समय वे कृष्ण की बाल लीलाओं को गाती जाती थीं। इतने में श्रीकृष्ण ने आकर मथनी पकड़ ली और दही न मथने दिया। तब यशोदा ने पुत्र को गोद में लेकर दूध पिलाना आरम्भ किया। इतने में चूल्हे पर रखा दूध उफनने लगा। अतएव कृष्ण को छोड़ आप दूध उतारने को दौड़ीं। श्रीकृष्ण चन्द्र ने भर पेट दूध नहीं पी पाया था। अतः वे क्रुद्ध हुए और उन्होंने पास पड़े लोढ़े से दधेड़ी फोड़ डाली और रोने का बहाना कर वे वहाँ से चल दिये। फिर कोठे में जा और वहाँ रखा मक्खन अकेले अकेले खाने लगे। यशोदा ने दूध को चूल्हे से उतार कर रख दिया और अपनी दधेड़ी के पास आकर देखा तो दधेड़ी फूटी पड़ी पाई और श्रीकृष्ण वहाँ नहीं है। तब तो वे जान गयीं कि यह सारी करतूत उन्हीं के पुत्र की है। यह जान कर वे हँसने लगीं। यशोदा ने घूम कर कोठे में जो देखा तो श्रीकृष्ण को उलूखल औंधा कर और उस पर खड़े होकर मक्खन खाते पाया। वे स्वयं खाते ही न थे पर वानरों को भी लुटा रहे थे। साथ ही कोई देख न ले इससे वे बार बार अपने चारों ओर देखते भी जाते थे। यह देख यशोदा चुपके

से जाकर पीछे से कृष्ण के पास पहुँची। इतने में यशोदा को छड़ी लिये हुए श्रीकृष्ण ने देखा। देखते ही वे वहाँ से रफूचक्कर हुए। उन्हें भागते देख यशोदाजी पकड़ने को उनके पीछे दौड़ीं पर वे बहुत दूर न दौड़ सकीं और थोड़ी दूर जाकर ही उन्होंने कृष्ण को पकड़ लिया। यशोदा ने देखा अपने को दोषी समझ श्रीकृष्ण अपने आप रो रहे हैं। हाथों से दोनों आँखें मलते जाते हैं। आँसुओं के बहने से आँखों का काजल सारे मुख पर फैल गया है। यशोदा ने कृष्ण के दोनों हाथ पकड़ लिये और उन्हें घुड़कने और लकड़ी से डराने लगीं। किन्तु बालक को अधिक डरा देख, पुत्रवत्सला यशोदा ने हाथ से छड़ी फेंक दी और उन्हें बाँधने को वह तैयार हुईं। यशोदा जी अपने अपराधी बालक को जिस रस्सी से बाँध रहीं थीं वह गाँठ देते समय दो अँगुल छोटी पड़ गयी। तब वे जाकर और रस्सी लायीं। इसे जोड़ने पर भी रस्सी फिर घटी। इस प्रकार घर भर ही की नहीं किन्तु अड़ोस पड़ोस की मँगनी माँगी हुई रस्सियाँ जोड़ी गयीं, पर वे सब छोटी हुईं। यह देख यशोदाजी बहुत विस्मित हुईं और परिश्रम करने के कारण उनके शरीर में पसीना निकल आया। माता को थकी जान श्रीकृष्ण चन्द्र को दया आयी और वे आपही बँध गये। तब उन्हें उलूखल में बाँध कर यशोदाजी अपने घर के काम काज में लगीं। उधर नन्दभवन के द्वार पर लगे हुए अति प्राचीन यमलार्जुन वृक्षों पर श्रीकृष्णजी की दृष्टि पड़ी। पूर्व जन्म में वे दोनों वृक्ष यक्षपति कुबेर के पुत्र थे। इनका नाम था मणिकूबर नलग्रीव मदमत्त होने के कारण नारद ने इनको शाप दिया था और उसी शाप के कारण इनको वृक्षयोनि मिली थी।

श्रीकृष्णचन्द्र उन दोनों वृक्षों के बीच होकर निकले। बेड़ा होकर उलूखल उन दोनों वृक्षों के बीच में अड़ गया। तब बालरूपधारी दामोदर ने रस्सी को उलूखल सहित बल लगा कर अपनी ओर खींचा। इससे वे दोनों वृक्ष जड़ से उखड़ कर धड़ाम से पृथिवी पर गिरे। उन वृक्षों के गिरते ही, उनमें से महातेजस्वी दो पुरुष निकले। उनकी विमल कान्ति से चारो ओर प्रकाश होगया। तब उन दोनों कुवेरपुत्रों ने सीस झुका कर कृष्ण की यह स्तुति की।

कुवेर पुत्र—हे कृष्ण! आप महायोगी हैं। आप बालक नहीं हैं, किन्तु आदि पुरुष नारायण हैं। जो ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण हैं वे इस विश्व को आपका सूक्ष्म और स्थूल रूप जानते हैं। सब प्राणियों की देह, प्राण, आत्मा और इन्द्रियों के ईश्वर आप ही हैं। आपही अव्यय भगवान् विष्णु हैं। काल आपकी लीलामात्र है। यद्यपि आप शरीर रहित हैं, तथापि आप अवतार लेते हैं। संसार की उन्नति करने और प्राणीमात्र को निर्भय करने के लिये यह आपका पूर्णावतार हुआ है। हे परम मङ्गलमय! आपको प्रणाम है।

ओखली में बँधे हुए गोकुलेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने हँस कर उन दोनों यक्षों से कहाः—

कृष्ण—मैं पहले ही जानता था कि तुम दोनों मद से मत्त हो। नारद ने अनुग्रह कर तुम्हें शाप दिया। जिससे तुम्हें वृक्ष होना पड़ा। जिस प्रकार सूर्य्य के दर्शन करने से आँखें खुल जाती हैं, वैसे ही अपने धर्म पर चलनेवाले आत्मज्ञानी और मेरे में दृढ़ता सहित मन संलग्न करने वाले सज्जनों की भेंट होने पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं रहता और ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं। अतः हे नलग्रीव और मणिकूवर अब तुम दोनों अपने घरों को जब तुम्हारा मन मुझमें लगा है और तुम्हारी भक्ति उत्पन्न हो चुकी है, त[illegible] ही वह मोक्षरूपी परम पदार्थ तुमक[illegible] जिसकी सब लोग कामना करते हैं।

यह सुन उन दोनों यक्षों ने [illegible] परिक्रमा की और उनको प्रणाम क[illegible] विदा होकर, वे उत्तर की ओर चले।

उलूखल-बन्धन

ऊपर कह आये हैं कि यमलार्जुन के दोनों वृक्ष बड़े घड़ाके के साथ पृथिवी पर गिरे थे। उनके गिरने का शब्द सुन, नन्दादि सब गोप वहाँ जुर वटुर आये। उन लोगों ने आकर देखा कि वे दोनों महावृक्ष जड़ से उखड़े हुए भूमि पर पड़े हैं। उस समय उलूखल से अटकी हुई रस्सी से बँधे श्रीकृष्ण सामने सामने खड़े थे। तिस पर भी वे लोग यह न ठीक ठीक जान सके कि वे दोनों वृक्ष क्योंकर गिरे। वे लोग आपस में यह कहने लगे—"यह किसका काम है? इतने पुराने वृक्षों को किसने गिरा दिया? बड़े ही आश्चर्य की बात है?" इस प्रकार आपस में कहते वे उन पेड़ों के गिरने का कारण खोजते हुए इधर उधर घूमने लगे। वहाँ जो आसपास लड़के खेल रहे थे उन्होंने कहा कि इसी कृष्ण ने इन दोनों वृक्षों के बीच में उलूखल अड़ा कर इनको उखाड़ा है। इन वृक्षों के नीचे दो दिव्य पुरुष भी निकले थे। पर उन लोगों की समझ में उन बालकों की कही बात न आयी। वे कहने लगे कि इतने पुराने वृक्षों का एक बालक द्वारा उखाड़ा जाना सर्वथा असम्भव है। नन्द ने देखा कि कृष्ण उलूखल को घसीटते आ रहे हैं। यह देख नन्द हँसे और कृष्ण के बन्धन खोल दिये। इसी प्रकार कृष्ण बाललीला किया करते थे।

वृन्दावन गमन।

यमलार्जुन उखाड़ने के अनन्तर एक दिन श्रीकृष्ण यमुना के तट पर खेल रहे थे। उसी समय रोहिणी ने उन्हें घर आने के लिये पुकारा किन्तु श्रीकृष्ण और बलराम दोनों लड़कों के साथ खेल में मग्न थे। इससे वे रोहिणी की बात को सुना अनसुना कर घर न गये [illegible] रोहिणी ने यशोदा को भेज कर दोनों [illegible]कों को बुलवाया। पिछली घटनाओं से [illegible]ल वाले बहुत डरे थे। इसलिये यशोदा उन बालकों को झटपट लिवा ले गयी। उधर [illegible] गोपों ने आपस में परामर्श करने के अभिप्राय से कहा—"गोकुल में किसी प्रकार का अमङ्गल न हो—इसका क्या उपाय करना उचित है।" उस गोप मण्डली में एक उपनन्द नामक गोप थे, जो बड़े बूढ़े होने के अतिरिक्त देश काल पात्र को अच्छी तरह समझते थे और श्री कृष्ण तथा बलराम के परम हितैषी थे। इन्हीं उपनन्द ने कहाः—

उपनन्द—यदि गोकुल का हित चाहते हो तो हम लोगों को यह स्थान छोड़ कर अन्यत्र चल देना चाहिये। क्योंकि देखा जाता है कि यहाँ नित्य ही एक न एक उपद्रव उठ खड़ा होता है जिससे बालकों के लिये बड़ा भय है। यहाँ से कुछ ही दूर पर वृन्दावन नामक एक विचित्र वन है। वहाँ पर्वत हैं और घास चारा भी बहुत है। वहाँ अनेक तालाब होने से पानी की भी कमी नहीं है। वहाँ नवीन हरे भरे अनेक छोटे छोटे वन हैं। वहाँ हमारे पशु सुख पूर्वक चरेंगे यदि आप लोग वहाँ चलना पसन्द करें तो चलो हम लोग अभी चल दें। अब देर करनी ठीक नहीं। उपनन्द के इस प्रस्ताव को सब ने पसन्द किया और उसी समय अपना माल असबाब छकड़ों पर लाद वे गोकुल से वृन्दावन की ओर चल दिये।

वत्सासुर और बकासुर का वध।

वृन्दावन पहुँच कर उन सब ने छकड़ों को अर्द्धचन्द्राकार खड़ा कर दिया और वहीं पर डेरे डाल दिये गये। बलराम और श्रीकृष्ण यमुना की रमणीकता को देख बड़े प्रसन्न हुए। अब कृष्ण और बलराम इतने बड़े हो गये थे कि वे दोनों बछड़े चराने वन में जाने लगे। वहाँ वन में जब बछड़े चरने में लगते तब ये दोनों भाई अपने साथियों के साथ मिल कर अनेक प्रकार के खेल खेलते थे। कभी तो वे पक्षियों की बोली बोलते और कभी आपस में बैल बन कर बैलों की तरह डकराते और आपस में लड़ते थे। एक दिन वे दोनों गोप बालकों के

साथ यमुना के तट पर बछड़े चरा रहे थे। उसी समय उनका वध करने के अभिप्राय से एक दैत्य आकर बछड़े का रूप धर उन बछड़ों में मिल गया। श्री कृष्ण इस बात को तुरन्त ताड़ गये और सैन से यह बात अपने बड़े भाई बलराम को भी जता दी। फिर वे बड़ी ला ?र-वाही से घूमते फिरते उसके पास पहुँच गये और पीछे जा कर श्री कृष्ण ने उसके दोनों पैर एवं पूँछ पकड़ ली। फिर उसे घुमा कर पास ही एक कैथे की जड़ पर दे मारा, जिससे उसके तुरन्त ही प्राण निकल गये। यह देख सब गोप बालक विस्मित हुए और वाह वाह कर श्री कृष्ण की प्रशंसा करने लगे।

बलराम और श्री कृष्ण नित्य ही कलेवा लेकर बछड़ों को चराने वन में जाते थे। वहाँ एक दिन सब ग्वाल बाल एक तालाव के पास अपने अपने बछड़ों को जल पिलाने लगे। उसी समय उन्होंने देखा कि एक बड़ा भारी कोई जीव बैठा है। उसे देख कर सब ग्वाल बाल बहुत ही भय-भीत हुए। वह बालघाती एक असुर था जो बगले का रूप धर कर वहाँ गया था। वह बका-सुर झट पट कृष्ण को निगल गया। यह देख बलराम तथा अन्य ग्वालबाल इतने घबड़ाये कि वे सब अचेत हो गये। उधर कृष्ण ने बकासुर के तालू को अग्नि के समान जलाना आरम्भ किया। तब ग्वालबाल रूप जगत्गुरु कृष्ण को उस असुर ने तुरन्त ही उगल दिया। फिर कृष्ण को ज्यों का त्यों देख वह दैत्य चोंच से उन्हें मारने के लिये उन पर झपटा। तब तो श्री कृष्ण जी ने उसकी चोंच के ऊपर नीचे के पलटों को पकड़ तिनके की तरह चीड़ डाला। यह देख देवताओं ने आकाश से नन्दन कानन के पुष्पों की वर्षा की। उधर बालकों के आनन्द की सीमा न रही। सब बालक हँसते खेलते अपने अपने घरों को लौट गये और घर पहुँच कर सारा हाल घर वालों से कहा। बकासुर का हाल सुन गोप गोपियाँ बड़ी विस्मित हुईं। इन घट-नाओं से श्री कृष्ण पर गोप और गोपियों का स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। नन्द आदि गोप श्री कृष्ण के कई बार बच जाने और उनको मारने वालों के स्वयं मारे जाने की बातें स्मरण कर कहने लगे:—"भला ब्रह्मज्ञानी ऋषियों की कही बातें भी अन्यथा हो सकती हैं। महर्षि गर्गाचार्य ने जो बातें कहीं थीं वे अक्षर अक्षर ठीक उतर रही हैं।"

उधर श्रीकृष्ण और बलराम की इस प्रकार बालक्रीड़ा करते करते कुमार अवस्था बीत गई।

अघासुर का बध।

एक दिन श्री कृष्ण ने अपने मन में कहा कि आज तो चल कर वन ही में कलेवा करना चाहिये। यह विचार कर उस दिन श्रीकृष्ण बड़े तड़के उठे और अपने नरसिंहा के शब्द से अपने सङ्गी साथियों को बुला बछड़े ले वन को चल दिये। वन में पहुँच कर उन सब ने बछड़ों को चरने के लिये छोड़ दिया। फिर आपस में अनेक प्रकार के खेल खेलने लगे। इतने में अघ नामक एक भयानक दैत्य आकर वहाँ उपस्थित हुआ। यह अघासुर बड़ा उद्दण्ड था। यह ऐसा दुष्ट था कि इसके मारे अमर देवता भी सदा प्राणों के भय से भयभीत रहते थे और यही मनाया करते थे कि यह दुष्ट किसी प्रकार मारा जाय। वह कंस का भेजा वृन्दावन में पहुँचा था। वह पूतना और बकासुर का छोटा भाई था। अपनी बहिन और सहोदर के मारने वाले कृष्ण को उसने देखा और देखते ही उसके चित्त में यह बात उत्पन्न हुई कि आज कृष्ण को दल बल सहित मारना चाहिये। यह विचार [illegible] दैत्य बगलों को निगलने के अभिप्राय से वन के मार्ग में पड़ रहा। उसका वह रू[illegible] बालक कौतूहल वश उसकी परीक्षा ले[illegible] समीप गये। वह मुख खोले तो बैठा [illegible] वे बालक हँसते और ताली बजाते [illegible] में घुस गये; पर उसने अपना मुख [illegible] न किया। वह तो श्रीकृष्ण की प्र[illegible] और श्रीकृष्ण को तो सारा हाल म[illegible]

वे अपने साथियों को काल के मुख में गया हुआ जान और उनके उद्धार का उपाय निश्चित कर स्वयं भी उस दुष्ट के मुख में घुस गये। उनके घुसते ही अघ ने चाहा कि अब मैं अपना मुख बन्द कर लूँ पर गले में पहुँच श्री कृष्ण ने अपना आकार इतना बढ़ाया कि गले का द्वार ही बन्द हो गया और साँस के न आने जाने से उसका दम घुटने लगा। उसके नेत्र निकल पड़े और वह छट पटाने लगा। जो पवन उसके शरीर में गला बन्द होने के कारण रुक गया था, वह ब्रह्माण्ड फोड़ कर निकल गया। उसके मरने पर श्रीकृष्ण ने मृतवत्स और गोप बालकों को अपनी अमृत वर्षिणी दृष्टि से फिर जिला दिया। फिर वे उनको लिये हुए अघासुर के मुख से निकले।

श्री कृष्ण का यह अद्भुत कर्म उस समय का है जब वे केवल पाँच ही वर्ष के थे। वे बालक १ वर्ष तक उस अजगर के मुख में रहे और जब कृष्ण छः वर्ष के हुए तब अर्थात् १ वर्ष बाद यह वृत्तान्त उन बालकों ने अपने घरों में जा कर लोगों से कहा था।

ब्रह्मा द्वारा वत्सहरण।

अघासुर के मुख से निकल श्रीकृष्ण ग्वाल बालों को यमुना के तट पर लाये और वहाँ उन से कहा—"साथियो! यह यमुना का तट बड़ा रमणीक है। यहाँ खेलने की सभी सामग्री हैं। यहाँ की बालू भी बड़ी कोमल और स्वच्छ है। आओ हम सब बैठ कर यहीं कलेवा करें। क्योंकि दिन भी बहुत चढ़ आया है और भूख [illegible]ग रही है। बछड़ों को छोड़ दो। वे पानी [illegible] धीरे घास चरें। ग्वालबाल [illegible] कह और अपना कलेवा खोल चारों ओर से घेर कर बैठे [illegible] करने लगे। कोई पत्तों पर कोई [illegible]और कोई शिला पर रख कर ही [illegible]र रहे थे। इतने में बछड़े चरते चरते [illegible]छ दूर निकल गये। तब श्री कृष्ण के [illegible]वालवाल घबड़ाये और उन्हें ढूँढ़ कर लाने के लिये स्वयं जाना चाहा, पर कृष्ण जी ने उनसे कहा—"मित्रो! भोजन करते रहो, मैं अभी बछड़ों को लौटाये लाता हूँ।

हाथ में कौर लिये श्री कृष्ण ने बछड़ों की खोज में वन, कन्दरा, पर्वत सभी, डाले। पर बात यह थी कि ब्रह्मा जी ने कृष्ण की महिमा देखने के लिये पहले तो उनके बछड़ों को हरा, फिर कृष्ण के जाने पर ग्वालवालों को भी वे हर ले गये और उनको अपने लोक में एक अचेत स्थान में रख आये। उधर श्री कृष्ण को जब बछड़ों का पता न चला तब लौट कर वे उस स्थान पर आये जहाँ उनके साथी कलेवा कर रहे थे। पर वहाँ उन्हें वे ग्वालवाल भी न मिले। तब श्री कृष्ण जी अपने ग्वालवालों और बछड़ों दोनों को ढूढ़ने लगे। किन्तु दोनों में से एक का भी पता न चला। अन्त में सर्वज्ञ हरि को असली बात जानने में कुछ भी देर न लगी। वे जान गये कि यह सारी करतूत ब्रह्मा जी की है। बस फिर क्या था। ग्वालबालों की माताओं को और बछड़ों की गौओं को सन्तुष्ट रखने के लिये तथा ब्रह्मा जी को नीचा दिखाने के अभिप्राय से विश्व के रचयिता श्री कृष्ण स्वयं ही उतने ही बछडे और उतने ही ग्वाल बन गये। जिस बालक या बछड़े का जैसा शरीर, जैसे हाथ पैर, जैसी लकड़ी, जैसे सींग और बाँसुरी और छींका था, जैसे वस्त्र और आभूषण थे जैसा उनका शील, गुण, नाम स्वरूप और अवस्था थी एवं जैसा जिसका आहार विहार था वैसे ही प्रकार के हो कर सर्वस्व रूप श्री कृष्ण ने सर्व विष्णुमयजगत् को सार्थक कर दिखाया। फिर वे नित्य की तरह घर गये। जिस जिस घर के जो जो बछड़े थे उन्हें उन्हीं ग्वालबालों के रूप में साथ लिये कृष्ण ने अलग अलग घरों में प्रवेश किया और उन बछड़ों को उनके स्थानों में बाँध दिया। उनकी माताओं को उनके असली होने में तिल भर भी सन्देह न हुआ। वे बालक ठीक उसी तरह सब काम काज खेल

कूद करते थे जैसे हरे हुए बालक नित्य किया करते थे।

इस प्रकार पूरा एकवर्ष होने में पाँच या छः दिन रह गये थे। इसो वीच में एक दिन श्री कृष्ण जी अपने वड़े भाई वलदाऊ जी सहित वछड़े चराने वन में गये उस समय बहुत दूर पर गोवर्द्धन पर्वत की चोटी पर सब गौएँ चर रही थीं। उन गौओं ने वहाँ से देखा कि व्रज के निकट ही उनके वछड़े चर रहे हैं। उनको देखते ही वे गौएँ स्नेह से व्याकुल हो गईं और हुङ्कारती हुई दौड़ पड़ीं। चराने वाले गोपों ने बहुत रोकने का यत्न किया पर सब व्यर्थ हुआ दुर्गम मार्ग से कूदती फाँदती, गर्दन, कान, पूँछ और मुख उठाये गौएँ आयीं। वे इतने वेग से आयीं कि जान पड़ता था कि उनके दो ही पैर हैं। उनके स्तनों से दूध की धार गिर रही थी यद्यपि उनके और भी छोटे वछड़े थे तो भी वे दौड़ कर अपने वड़े वछड़ों के पास आयीं और पर्वत के नीचे आ वछड़ों को दूध पिलाने लगीं। चराने वाले गोपों के बहुत रोकने पर भी जब वे न रुकीं तब तो वे बहुत क्रुद्ध और लज्जित हुए, पर जब उन्होंने वछड़ों के पास ही अपने पुत्रों को देखा तब तो उनका सारा क्रोध जाता रहा और वे स्नेह में भर गद् गद् हो गये। यह देख वलदेव जी को आश्चर्य हुआ और तब उन्होंने ज्ञान द्वारा यह जाना कि असल में वे सब गोप वालक और वछड़े स्वयं कृष्णही हैं। तब उन्होंने कृष्ण से इसका कारण पूँछा। यह तो बतलाओ तुमने इतने भिन्न भिन्न रूप क्यों धारण किये हैं। तब कृष्ण ने उनसे सारा हाल कहा और तब वलराम ने जान पाया।

यहाँ तो लगभग एक वर्ष के वीता और ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की आयु का बहुत ही थोड़ा समय वीता। ब्रह्मा ने व्रज में जाकर देखा कि हमारी करतूत से वहाँ क्या वखेड़ा हुआ। पर जो देखा उससे उनका मोह जाता रहा। उन्होंने देखा पूर्ववत् वछड़े और ग्वाल वालक्रीड़ा करते हैं और वछड़े चरा रहे हैं। यह देख कर ब्रह्मा दङ्ग रह गये। और मन ही मन नाना प्रकार के तर्क वितर्क करने लगे। वे सोचते थे कि वछड़ों और वालकों को तो मैं माया की निद्रा में अचेत छोड़ आया हूँ और वे अभी तक नहीं उठ सके हैं तब उन वछड़ों और वालकों को छोड़ ये बालक और वछड़े कहाँ से आये। पर ब्रह्मा की समझ में बहुत सोचने विचारने पर भी यह बात न आई कि असली वछड़े और बालक ये हैं या वे जो उनके लोक में हैं ब्रह्मा जी आये तो थे श्री कृष्ण को भ्रम में डालने पर पड़ भ्रम में स्वयं गये।

इतने में ब्रह्मा को एक और अद्भुत घटना दीख पड़ी। ब्रह्मा के देखते ही देखते उनके सब वछड़े और उनके रक्षक ग्वालवाल कृष्णरूप हो गये। सब का रङ्ग सजलमेघों जैसा हो गया। सभी पीताम्बर पहने चतुर्भुज, शङ्ख, चक्र, गदा, और कमल हाथ में लिये, क्रीट कुण्डल, वन माला आदि से विभूषित दीख पड़े। ब्रह्मा जी ने और भी देखा कि कृष्ण नाट्य त्रेष से हाथ में भोजन का कौर लिये पहले की तरह वन में इधर उधर खोये हुए वछड़े और बालकों को खोज रहे हैं। तब तो ब्रह्मा जी तुरन्त अपने वाहन हँस से उतर पड़े और भूमि पर गिर कर चारों मुकुटों के अग्रभाग से श्री कृष्ण के चरणों को प्रणाम कर उन्हें अश्रुजल से धोने लगे। फिर ब्रह्माजी ने श्री कृष्ण चन्द्र जी की स्तुति कर क्षमा प्रार्थना की। तदनन्तर वे तीन बार श्री कृष्ण की प्रदक्षिणा कर अपने लोक को चले गये। वालक और वत्सों को ब्रह्मा जी ने पहले ही से पहुँचा दिया था। उनसे भगवान् जा कर मिले।

धेनुकासुर वध।

एक दिन श्रीकृष्ण जी अपने साथी सङ्गियों और वलदाऊ समेत खेल कूद के लिये वन में गये। वहाँ जाकर वलराम से श्री कृष्ण ने कहाः—

श्री कृष्ण—हे देवश्रेष्ठ! इन सब वृक्षों को इनके पूर्वजन्म के पापों के फल से वृक्ष योनि मिली है। उन पापों को नष्ट करने के अभिप्राय से आपको अपने फल फूलों की भेंट देते हैं और झुक कर प्रणाम करते हैं। हे अनन्त[1] निश्चय ही ये सब आपके भद्र सेवक ऋषिगण हैं। आप गुप्तरूप से अपने तेज को छिपाये घूम रहे हैं, तो भी ये आपको नहीं छोड़ते। क्योंकि आप इनके आत्मदेव हैं। हे पूज्य! ये सब वनवासी जीव धन्य हैं। देखिये ये सब मयूर आपको घर में आया देख कर आनन्द के मारे नाच रहे हैं और ये हिरनियाँ कैसी सतृष्ण दृष्टि से आपकी ओर देख रही हैं। उधर कोइलें अपनी मधुर वाणी से आपका आदर सत्कार कर रही हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र अपने बड़े भाई से हँसते खेलते वन में घूमने फिरने लगे। एक दिन जब श्री कृष्ण इस प्रकार खेल रहे थे, तब उनके कई साथियों ने दोनों भाइयों को सम्बोधन करके कहाः—

ग्वालबाल—हे श्रीकृष्ण और हे बलदाऊ! यहाँ से थोड़ी ही दूर पर एक बड़ा भारी तालवन है। वहाँ बहुत से तालफल गिरे हैं और बहुत से टूटे पेड़ हैं। किन्तु दुष्ट धेनुक उन्हें किसी को नहीं खाने देता वह असुर गर्दभ के रूप का बड़ा पराक्रमी है और बहुत से पराक्रमी असुरों को गधे के रूप में अपने साथ रखता है। जो लोग वहाँ जाते हैं, उन्हें वह खा डालता है इससे मारे डर के कोई वहाँ नहीं जाता। हम लोगों ने आज तक इन सुगन्धित फलों को नहीं खाया। चारों ओर उन्हींकी महक फैल रही है और इस सुगन्ध से हमारा मन ललचा रहा है। यदि आपको रुचे तो आप लोग चल कर उन फलों को स्वयं खाइये और हम लोगों को खिलाइये।

अपने साथी सङ्गियों की यह प्रार्थना सुन कर और उनको प्रसन्न करने के लिये दोनों भाई उनको लिये हुए उस तालवन में पहुँचे। वहाँ बलदाऊ ने हाथी की तरह ताल के पेड़ों को बड़े वेग से हिलाया। उनके हिलाते ही सैकड़ों फल टपक पड़े। उन फलों के गिरने का शब्द सुन कर वह गर्दभासुर बलदाऊ की ओर दौड़ा और एक दुलत्ती उनकी छाती में मारी। दुलत्ती झाड़ कर वह उच्च स्वर से रेंका फिर क्रोध में भर उसने दुलत्ती झाड़नी चाही। इस बार बलदेव जी ने एक हाथ से उसके दोनों पैर पकड़ लिये और उसे गुफना की तरह कई बार घुमा फिरा कर एक ताल वृक्ष की जड़ से दे पटका। प्राण तो उसके घुमाने ही से निकल गये थे। जिस पेड़ की जड़ पर धेनुकासुर पटका गया वह बड़े वेग से हिल कर स्वयं टूट पड़ा और भूमि पर गिरते समय एक दूसरे पेड़ को हिला कर तोड़ा। इस प्रकार आपस की टक्कर से तीन पेड़ टूटे। उनके टूटने से और बलदेव जी के हिलाने से इतने तालफल गिरे कि उनकी सम्हाल न हो सकी, इतने में धेनुकासुर के अन्य भाई बन्धु भी अपने भाई को मरा देख गोप ग्वालों पर झपटे। पर दोनों भाइयों ने उन्हें भी धेनुकासुर की तरह तालवृक्षों की जड़ पर पटक पटक कर मार डाला। उस वनभूमि पर जिधर देखो उधर ही असुर की लाशें और तालफल ही दीख पड़ने लगे। तब से वह तालवन निर्भय स्थान समझा जाकर सब के लिये खुल गया। लोग निडर हो वहाँ जाने लगे और गौएँ निर्भय हो घास चरने लगीं। क्योंकि अब धेनुकासुर का डर जाता रहा था।

कालिय दमन।

श्री कृष्णचन्द्र एक दिन बलदाऊ को लिये बिना ही ग्वालबालों को साथ ले गौवें चराने के लिये यमुना के तट पर चले गये। घाम की गरमी बढ़ने पर सब को प्यास लगी। पास कहीं शुद्ध जल न पाकर उन्होंने नाग के विष से दूषित कालीदह का जल पी लिया। उसे

[1] बलदेव जी अनन्तनाग के अवतार थे।

पीते ही विष के प्रभाव से गोप और गौएँ, मर कर तट पर गिर पड़े। पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने सेवकों की यह दशा देख, अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टि से उनको उसी समय सजीव कर दिया। वे सब उठ खड़े हुए और पिछली घटना को स्मरण कर बड़े विस्मित होकर एक दूसरे के मुख की ओर देखने लगे। अन्त में उन लोगों ने निश्चय किया कि हम लोग विषैला जल पीकर मरे थे और हमारे पुनर्जीवन के कारण श्रीकृष्णचन्द्रजी ही हैं।

बात यह थी कि कालिन्दी के भीतर एक बड़ा गहरा और लम्बा चौड़ा कुण्ड था। उसी में एक नाग रहता था जिसका नाम कालिय था। विष की प्रचण्ड झार से उस कुण्ड का जल खौल खौल कर ऊपर उछला करता था, जिससे उसके ऊपर होकर आकाशचारी पक्षी भी गिर पड़ा करते थे। विष मिश्रित कण से युक्त वायु के स्पर्श से किनारे के चर अचर सभी जीव मर जाते थे।

श्रीकृष्णचन्द्रजी ने, जो दुष्टों के दमन ही के लिये उत्पन्न हुए थे देखा कि यह तो बड़ी ही बुरी बात है। यही नहीं, किन्तु उस नाग के कारण यमुनाजल भी दूषित हो रहा है। यह विचार उत्पन्न होते ही श्रीकृष्णचन्द्रजी एक बड़े ऊँचे कदम्ब के वृक्ष पर जो यमुना के तट पर ही था चढ़ गये और वस्त्र सहित करधनी को कमर में कस कर तथा खम्भ ठोंक कर उस कुण्ड में कूद पड़े। उनके उतने ऊँचे कूदने के कारण कुण्ड के जल में बड़ी भारी हलचल मच गई। सर्पपरिवार क्षुभित हुआ। उसके अमित विष उगलने से जल ऊपर को उछलने लगा। विष कलुषित भयङ्कर लहरों की चपेटों से कुण्ड का जल चारों ओर चार सौ हाथ तक फैल गया; परन्तु अनन्तबलशाली श्रीकृष्ण के लिये यह कोई बड़ी बात न थी। वे उस कुण्ड के जल में खेलने लगे। अनेक भुजदण्डों से विलोड़ित हो जल चक्कर खाने लगा और उससे भयङ्कर शब्द निकला। तब कालिय नाग ने जाना कि उसके भवन पर किसी ने चढ़ाई की है। यह बात उस सर्प से न सही गयी, कालिय तुरन्त कृष्ण के पास गया। उसने देखा कि अति कोमलाङ्ग दर्शन करने योग्य घनश्याम श्रीवत्स और पीताम्बर पहने हुए और मन्द मन्द हास कर मन को चुरा रहे हैं। उसने जाते ही श्रीकृष्ण के शरीर को जकड़ लिया और मर्मस्थलों को वह डसने लगा। गोपों को तो श्रीकृष्ण परम प्रिय थे। वे तो श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे। वे प्यारे कृष्ण को सर्प द्वारा वेष्टित देख, अत्यन्त कातर हुए और दुःख पश्चात्ताप तथा भय से अचेत हो भूमितल पर गिर पड़े। गौ, बछिया, बछड़े और बैल सब अत्यन्त दुःखी होकर दीनता पूर्वक बड़ा दुःख प्रकट करते थे। साथ ही अत्यन्त भय विस्फारित नेत्रों से दृष्टि लगा, वे श्रीकृष्ण को देखते हुए खड़े थे।

उधर व्रज के भीतर पृथिवी आकाश और शरीर में तीनों प्रकार के उपद्रव होने लगे जो व्रजवासियों को किसी आसन्न घोर अनिष्ट के सूचक थे। उन उत्पातों को देख नन्दादि गोप, मारे डर के घबड़ा गये। उनको जब यह बात विदित हुई कि आज कृष्ण अकेले ही वन में गौ चराने गये हैं और बलदेवजी को नहीं ले गये तब तो वे विकल हो श्रीकृष्ण के विषय में अनिष्ट चिन्तन करने लगे। उन लोगों से अधिक देर तक वहाँ न रहा गया। वे सब वहाँ से निकले और श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने लगे। उन सब को इस प्रकार विकल देख बलदेवजी ने कहा तो कुछ भी नहीं, पर वे हँस दिये। इसका कारण यह था कि वे अपने अनुज श्रीकृष्ण के प्रभाव को भली भाँति जानते थे। श्रीकृष्ण के वज्राङ्कुशध्वज चिन्हित चरण की छाप को धूल में देखते देखते वे यमुना के तट पर जा पहुँचे। वहाँ पर कुण्ड में श्रीकृष्ण को सर्प से वेष्टित और गोपालों को तट पर मूर्च्छित तथा

पशु पक्षियों को चारों ओर चिल्लाते देख वे सब भी मूच्छित हो गिर पड़े। जिन गोपियों के मन में श्रीकृष्ण का अनुराग सर्वप्रधान था वे श्रीकृष्ण को ऐसी सङ्कटापन्न दशा में देख बहुत ही अधिक सन्तप्त हुईं। उनको तो कृष्ण बिना तीनों लोक शून्य दीखने लगे। कृष्ण की माता की दशा का कहना ही क्या था। वे पुत्र को इस दशा में देख दीन हो विलाप करने लगीं और पुत्र के पास जाने के लिये कुण्ड में पैठने लगीं। किन्तु सब गोपियों ने जो यशोदा के समान ही व्यथित थीं रोती हुई यशोदा को पकड़ लिया। तब नन्द आदि गोप कुण्ड में पैठने को उद्यत हुए, पर कृष्ण के बल को जानने वाले बलदेव ने उनको रोक लिया।

श्रीकृष्णजी अभी तक केवल मनुष्य भाव का अनुकरण कर रहे थे, किन्तु जब उन्होंने अपने अनन्यों को अपने कारण अत्यन्त दुखी पाया, तब तो उसी क्षण वे उस सर्प के बन्धन से अलग हो गये। वे उतने स्थूल हो गये कि सर्प का शरीर और फन व्यथित हो गया। वह अधिक समय तक श्रीकृष्ण को बन्धन में न रख सका। तब उसने श्रीकृष्ण को छोड़ तो दिया पर अत्यन्त क्रोध से अपने समस्त फनों से फुफकारता हुआ कृष्ण पर आक्रमण करने का अवसर ढूँढ़ने लगा। उस समय उसके फुफकारों के साथ विष की लपटें निकल रहीं थीं। उसके नेत्र भट्टी के समान जल रहे थे और नेत्रों से अग्नि-ज्वाला सी निकल रही थी। उधर श्रीकृष्ण भी गरुड़ की तरह निर्भयभाव से कालिय के चारों ओर चक्कर लगाने लगे। उधर सर्प भी उन पर आक्रमण करने का अवसर ढूँढ़ता हुआ उनके चारों ओर घूमने लगा। इस प्रकार चक्कर लगाते लगाते ही उस सर्प की शक्ति शिथिल हो गयी और मारे थकावट के उसके कन्धे ऊँचे हो गये। तब श्रीकृष्ण उसके फनों को नवा कर, उचक कर उसके ऊपर जा चढ़े और उन पर ठुनकने लगे उस समय नाग के फनों की आभा से श्रीकृष्ण के चरणद्वय की कान्ति और भी ललौंही हो गयी। भगवान् को नाचने के लिये उद्यत देख गन्धर्व मुनि आदि चारण और अप्सराओं के झुण्ड प्रसन्नता पूर्वक मृदङ्ग, पणव, आनक आदि बाजे बजा कर गाने लगे फिर पुष्पों की वर्षा कर श्रीकृष्ण के समीप आये।

कालिय नाग के एक सौ फन थे। वह जिस फन को उठाता था, उसीको दुष्टदमनकारी श्रीकृष्णचन्द्र अपने चरणों के आघात से नवा देते थे। उस नाग की आयु और शक्ति क्षीण हो गयी और उसे घन्नेटे आने लगे। मुखों और नासिकाओं से रक्त प्रवाहित हुआ और वह नितान्त निःसंज्ञ हो गया। वह सर्प क्रोध में भर बड़े वेग से श्वास छोड़ रहा था और नेत्रों द्वारा विष उगल रहा था। वह जिस फन को ऊँचा करता उसीको श्रीकृष्ण नाच नाच कर शिथिल कर देते थे। देवगण फूलों की वर्षा करते थे। श्रीकृष्ण के इस प्रकाण्ड ताण्डव नृत्य से कालिय के सब फन व्यथित हो गये। सारे अङ्ग चूर चूर हो गये और मुखों से रक्त गिरने लगा। तब उस नाग को ज्ञान हुआ और उसने चराचर गुरु-नारायण का स्मरण किया और उनके शरणागत हुआ। उधर अपने पति को अत्यन्त क्लान्त देख नागपत्नियाँ बड़ी विकल हुईं। यहाँ तक कि मारे घबड़ाहट के उनके केशपाश शिथिल हो गये। अङ्गों से वस्त्र खिसक पड़े परन्तु उन्हें उनकी कुछ सम्हार न रही। वे अत्यन्त दुःखित हो आदि पुरुष के पास गयीं। वे विह्वलमना साध्वी नागनारियाँ अपने बालकों को करुणा उत्पन्न करने के अभिप्राय से आगे कर भगवान् के चरणों में गिर पड़ीं। फिर अपराधयुक्त अपने पति के छुटकारे के लिये जगदाश्रय भगवान् श्रीकृष्ण का आश्रय लिया। नागनारियाँ बोलीं:—

नागनारियाँ—भगवन्! आपने इस अपराधी को दण्ड देकर बड़ा ही उत्तम और उचित काम किया। क्योंकि आपका अवतार दुष्टों को

दण्ड देने के लिये ही हुआ है तो भी आप समदर्शी हैं। आपकी दृष्टि में शत्रु और सन्तान दोनों एक ही हैं आपका दण्ड दण्ड नहीं है, किन्तु अपराधी के लिये हितकर है। क्योंकि आप जब उसका भला किया चाहते हैं तभी उसे दण्ड देते हैं अतः नागराज को आपने यह दण्ड नहीं दिया, किन्तु इन पर बड़ा अनुग्रह किया है क्योंकि आपके दण्ड देने से पापियों का प्रायश्चित्त होता है। इस नाग का भी पातक स्पष्ट ही है यदि ऐसा न होता तो इसे सर्प जैसी अधमयोनि में क्यों जन्म लेना पड़ता? अतएव आपका क्रोध भी इसके पक्ष में मङ्गलकारक अनुग्रह है।

भगवन्! यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इसने पूर्व-जन्म में स्वयं अभिमानहीन हो किसी दूसरे का सम्मान करते हुए, कौन ऐसा भारी तप किया है, या इसने मुख्य कर्म्म का (प्राणी मात्र पर दया करना) अनुष्ठान किया है। यदि यह ऐसा न किये होता तो सब जीवों के जीवात्मा आप इस पर प्रसन्न न होते। आपके जिन चरणों की रज पाने के अर्थ श्रीलक्ष्मीजी ने बड़ा कठोर तप किया उसी लक्ष्मी वाँछित आपकी चरण-रज को इस अधम सर्प ने किसी उग्र सुकृत के बल से धारण किया। देव! जो जीव आपके चरणरज को पा गये हैं वे फिर स्वर्ग अथवा चक्रवर्त्ती राज्य, पृथिवी के आधिपत्य अथवा ब्रह्मपद भोग की सिद्धि या मुक्ति को भी तुच्छ समझते हैं। हे देव! यह नागेन्द्र धन्य है; क्योंकि यह तमोगुणी और क्रोधी होकर भी उसी चरणरज का अधिकारी हुआ है। आप तो घटघट व्यापी हैं। अतः हे नाथ! आप अपने इस दास के इस प्रथम अपराध को क्षमा करें। हे शान्तरूप! यह नाग मूढ़ है, आपको नहीं चीन्हता। अतः इस अज्ञानी को क्षमा करना ही उचित है। हे भगवन् प्रसन्न हूजिये। क्योंकि अब यह सर्प समाप्त हुआ चाहता है। हम इसकी स्त्रियाँ हैं इसके मरने से हमारी बड़ी दुर्दशा होगी। हमारे पति को प्राणदान दीजिये। भगवन् हमें अपनी दासी समझ सेवा के लिये आज्ञा दीजिये। क्योंकि आपकी आज्ञा पालन करने से सारे भय दूर हो जाते हैं।

जब श्रीकृष्ण ने नागनारियों की यह भाव-भरी स्तुति सुनी, तब उन्होंने सर्पराज को छोड़ दिया। वह बहुत घायल हो गया था और मारे पीड़ा के अचेत सा था। तब कालिय कुछ सचेत हुआ और उसकी इन्द्रियों की जड़ता दूर हुई। प्राणलाभ के अनन्तर अति कष्ट से वेग पूर्वक साँसें लेता हुआ हाथ जोड़ कर वह श्रीकृष्ण से कहने लगाः—

नाग—नाथ! हम जन्म ही से दुष्ट स्वभाव के होते हैं। क्योंकि तमोगुण विशिष्ट होने से हम बड़े क्रोधी होते हैं। नाथ! सहज में कोई भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। अतः स्वभाव असत् ग्रह के समान अमिट है। हे विधाता! आपने इस सृष्टि को रचा है। अनेक गुणों के संयोग से इस सृष्टि की रचना हुई है। अतएव इसमें स्वभाव, वीर्य, बल, योनि, चित्त और आकार भी विलक्षण हैं। भगवन्! इस विश्व में हम सर्पयोनि में उत्पन्न हुए हैं, हम आपके दुस्त्यजभाव को कैसे तर सकते हैं। हे सर्वज्ञ! जगदीश्वर आपही यदि चाहें तो प्राणियों को अपनी माया से छुड़ा सकते हैं। अनुग्रह अथवा दण्ड इनमें हमारे लिये जो अच्छा समझिये सो कीजिये।

यह सुन श्रीकृष्ण ने कहाः—

श्रीकृष्ण—अच्छा हे सर्प! अब तू यहाँ न रहने पावेगा। अब तू सपरिवार समुद्र को चल दे। अब देर मत कर, तेरे डर के मारे गौ और ब्राह्मण इस कुण्ड का जल नहीं पीने पाते।

यह कह कर श्रीकृष्णजी ने उसे छोड़ दिया। तब नाग नागिनियों ने सहर्ष दिव्यवस्त्र और बहुमूल्य मणि रत्नादि खचित अलङ्कार दिव्य गन्ध और अनुलेपन एवं श्रेष्ठ कमल मालाओं

से भगवान् की पूजा की। फिर कालिय भगवान् को प्रसन्न कर उनकी प्रदक्षिणा कर और उनसे आज्ञा ले आनन्द पूर्वक सकुटुम्ब समुद्र की ओर चला गया। वहाँ वह समुद्र के बीच में बने हुए रमणक द्वीप में जा बसा। तब से उस कुण्ड का जल बड़ा निर्मल और स्वादिष्ट हो गया।

कालिय पहले रमणक ही द्वीप में अन्य नागों के साथ रहा करता था। जब वहाँ गरुड़ जी पहुँच कर नागों का संहार करने लगे, तब सब सर्पों ने मिल कर यह निश्चय किया कि हम में से प्रत्येक कुटुम्ब का एक एक सर्प बारी बारी से गरुड़जी के लिये पहुँच जाया करे। इसी ठहराव के अनुसार बारी बारी से एक एक नाग गरुड़जी के पास पहुँचने लगा। किन्तु कालिय अपने उग्र विष के अभिमान में चूर था, इसलिये उसने बारी आने पर और गरुड़ को हीन समझ कर, अपने हिस्से का नाग उन्हें न दिया तब तो गरुड़ को बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ और वे कालिय को मारने के लिये तैयार हुए। जब गरुड़ ने कालिय पर आक्रमण किया तब कालिय भी उनके साथ युद्ध करने लगा। तब गरुड़ ने वामपक्ष के आघात से कालिय को आहत किया और तभी से कालिय गरुड़जी के भय से रमणक द्वीप से भाग कर कालिन्दी के दह में चला आया था। यह स्थान गरुड़जी के लिये अगम्य था। क्योंकि एक बार गरुड़ द्वारा इस कुण्ड की एक मछली के खाये जाने पर और मछलियों को दुःखी देख, दया परवश सौभरि ऋषि ने शाप दिया था कि—"यदि आज से गरुड़ इस कुण्ड में घुस कर किसी मछली या जीव को खायँगे तो उसी समय उनके प्राण निकल जाँयगे।" इस शाप की बात को कालिय को छोड़ और दूसरा नाग नहीं जानता था।

जब श्रीकृष्णचन्द्रजी दिव्य माला गन्ध, वस्त्र तथा अनेक बहुमूल्य आभूषण से सुसज्जित हो उस कुण्ड से निकले, तब उनको पाकर, सब अचेत गोप सचेत हो गये। सचेत हो और श्रीकृष्ण को सामने देख उन सबको जो प्रसन्नता हुई, उसका उल्लेख हमारी निर्जीव लेखनी की शक्ति के परे है। सब गोप दौड़ दौड़ कर उनको अपने हृदय से लगाने लगे। नन्द और यशोदा के आनन्द का तो कहना ही क्या था। कृष्ण के प्रभाव को जानने वाले बलदेवजी ने भी श्रीकृष्ण को हृदय से लगा लिया तब ब्राह्मणों ने आकर कहाः—

ब्राह्मणगण—नन्दरायजी! आप बड़े भाग्यवान् हैं इसीसे आपका पुत्र कालिय के सामने जाकर भी कुशल क्षेम से लौट आया।

दावानल से परित्राण।

यह सुन नन्दजी ने बहुत सा धन दिया। सब लोग दिन भर के थके माँदे और भूखे प्यासे तो थे ही सो वे रात होने पर वहीं कालिन्दी के तट पर गौवें सहित बस गये। सब लोग निश्चिन्त तो थे ही, कि आधी रात के समय रेंड के वन से आप ही आप दावानल प्रकट हुआ। चारों ओर से दावानल घेर कर व्रजवासियों की ओर बढ़ने लगा। तब तो व्रजवासी घबड़ा कर उठ खड़े हुए। जब किसी से कुछ भी करते धरते न बन पड़ा तब उन लोगों ने श्रीकृष्ण का आश्रय ग्रहण किया। अपने आश्रितों को विकल देख, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उस तीव्र अनल को पी गये। फिर सब गोप ग्वालों और गौवों सहित श्रीकृष्णजी ने व्रज में प्रवेश किया।

प्रलम्ब वध।

धीरे धीरे ग्रीष्मऋतु का प्रादुर्भाव हुआ। रमणीय वृन्दावन की वृक्षावली रङ्ग बिरङ्गे फूलों से सुशोभित हुई वहाँ पर बिहरने के अभिप्राय से श्रीकृष्ण ने बलदाऊ और अन्य गोपों के साथ गौवों को आगे कर, बाँसुरी बजाते हुए उस वन

में प्रवेश किया। मूँगा, मोरपङ्ख फूलों के गुच्छे और माला आदि से अपने को सजा कर, बलदेव और कृष्ण गोप बालकों के साथ नाचने लगे। परस्पर मल्लयुद्ध तथा अन्य प्रकार के खेल कूदों में वे निमग्न हो गये। जब कृष्ण नाचते तब कोई बालक तो ताल देता था, कोई सींग बजाता था और कोई उनके नृत्य की प्रशंसा करता था। बीच बीच में जब दोनों भाई विश्राम लेने के अर्थ नाचना बन्द करते, तब अन्य गोप नाचने लगते और वे स्वयं ताल देते जाते थे। कभी कभी बेल, आमला और कुम्भ वृक्षों के फलों को परस्पर मारते थे। यही क्यों आँख मिचौनी, कबड्डी, गुट्टी फिकौवल आदि अनेक प्रकार के खेल होते थे।

इधर तो ये लोग इस प्रकार खेलों में मग्न थे उधर प्रलम्बासुर नामक एक दैत्य श्री कृष्ण और बलराम को हर ले जाने के लिये उसी वन में घुसा और गोपरूप धारण कर उन गोपों में मिल गया। श्री कृष्ण जी इस बात को तुरन्त ताड़ गये और उसे उसकी इस प्रवञ्चना का पूरा फल चखाने के अभिप्राय से अपने गोल में मिल जाने दिया। फिर अपने ग्वालबालों को बुला कर कहा:—

कृष्ण—मित्रो! अब हम आधे आधे जन एक एक गोल में हो जाँय फिर दोनों गोलों का खेल हो।

दो गोल बने। एक के नायक हुए बलराम और दूसरे के श्री कृष्ण। खेल आरम्भ हुआ। इस खेल में ऐसा नियम था कि खेल में हारने पर हारे हुए दल वालों को जीते हुए दल वालों को अपनी पीठ पर चढ़ा कर निर्दिष्ट स्थान पर ले जाना पड़ता था। इस प्रकार खेलते और गौवों को चराते श्री कृष्ण को आगे कर वे सब भाण्डीरक वट के निकट पहुँचे। जब बलदाऊ के गोल के श्रीदामा आदि गोप श्री कृष्ण के गोल से जीत गये तब श्रीकृष्ण के गोल वाले बलदेव जी के गोल वालों को चड्ढी देने लगे। श्री कृष्ण ने श्री दामा को भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्बासुर ने बलदेव को अपने ऊपर चढ़ाया। बलदेव का बोझा सम्हालने में अपने को असमर्थ जान कर वह दैत्य कृष्ण की दृष्टि बचा कर, बलदेव जी को ज़ोर से लेकर भागा और निर्दिष्ट स्थान से आगे निकल गया। उस दैत्य का शरीर सजल मेघ जैसा काला था और वह अपने सम्पूर्ण अङ्गों में सुवर्ण के आभूषण पहने हुए था। पर्वतराज जितने बोझिल बलराम को ले जाते समय वह दैत्य मण्डली मण्डित चन्द्रमाधारी चलते हुए मेघ के समान जान पड़ता था। वह बड़े वेग पूर्वक आगे बढ़ा चला जाता था। उसकी दोनों आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं। उसकी भयानक भौहों से युक्त कुटिल दृष्टि बड़ी भयङ्कर दीख पड़ती थी। उसके केशों का रङ्ग ताम्र जैसा था। जब उसने अपना बनावटी रूप परित्याग कर अपना असली रूप धारण किया, तब पहले तो बलदेव जी उसे देख कुछ विस्मित हुए और डरे परन्तु तत्क्षण ही अपने आपे में आ बड़े ज़ोर से उसके एक मूँका मारा। मूँका के आघात से प्रलम्ब का सिर फट गया। मुख से लोहू बहने लगा। स्मृति शक्ति लुप्त हो गई। वह मरते समय इन्द्र के वज्र द्वारा आहत पर्वत के समान एक बार बड़े ज़ोर से चिल्ला कर धरणी तल पर गिर पड़ा। बलशाली बलदेव जी द्वारा प्रलम्बासुर मारा गया। यह देख सब गोप बहुत विस्मित हुए और बारम्बार वे उनकी प्रशंसा करने लगे। कोई कोई तो उन्हें आशीर्वाद देने लगे। जैसे लोग जैसी उत्कण्ठा के साथ किसी पुनर्जीवित मनुष्य से मिलते हैं वैसी ही उत्कण्ठा और प्रेम के साथ गोपमण्डली बलदाऊ जी से मिली।

एक दिन सब गोपग्वाल खेल कूद में मग्न थे। इसी अवसर में उनके पीछे किसी रक्षक के न होने से इच्छानुसार घूमते फिरते तृण के लोभ से दूर निकल कर अगम्य तृणपूरित स्थान की ओर चले गये। गौवें, भैंसें और बकरियाँ एक

वन से निकल कर दूसरे वन में चरने गयीं। अकस्मात् पास ही उस वन में आग लग गयी। उस आग के ताप से प्यासे पैाहे चिल्लाते हुए भागे और अन्त को मूञ्ज के वन में घुस गये। इधर श्री कृष्ण, बलदेव आदि गोपगण पशुओं को न देख कर पछताते हुए उनकी खोज करने लगे। किन्तु वे उनको न देख सके। गोपों की जीविका पशु ही थे अतः उस आजीविका को नष्ट देख, वे गोप अचेत हो गये। फिर वे पशुओं के खुरों के चिन्हों के सहारे उनको खोजते हुए आगे बढ़े। अन्त में उन्हें वे सब पशु चिल्लाते हुए उस मुञ्ज के वन में मिले। प्यासे और थके गोप अपने पशुओं को पाकर लौटे। इसी अवसर में वनवासियों को नष्ट करने वाला दावानल प्रकट हुआ और प्रचण्ड वायु के सहारे प्रत्येक क्षण घोर रूप धारिणी लपटों से आस पास के स्थावर जङ्गमों को भस्म करता हुआ वह चारों ओर फैलने लगा। उस दावानल को अपने निकट ही आया हुआ देख कर गौवें और गोपगण मारे भय के विकल हो गये। फिर मृत्यु के भय से डरे वे सब गोपग्वाल कृष्ण के निकट जा बड़े कातर-स्वर से कहने लगेः—

गोपग्वाल—हे कृष्ण ! हे बलभद्र ! आप महान विक्रमशाली हैं। हम लोगों को इस समय दावानल का बड़ा भय लग रहा है। कृपा कर इससे हमें बचाइये। हे कृष्ण ! आप जिनके कुटुम्बी हैं अथवा जो आपके कुटुम्बी हैं उन्हें तो किसी प्रकार का भय होना ही नहीं चाहिये। हे सर्वधर्मज्ञ ! हम तो आप ही को अपना नाथ समझते हैं और आप ही हमारी परमगति हैं।

यह सुन श्री कृष्ण ने उन डरे हुए और कातर वचन कहते हुए गोपों से कहा—"डरो मत और आँखें बन्द कर लो।" कृष्ण के कथनानुसार जब उन लोगों ने अपने नेत्र बन्द कर लिये तब योगेश्वर कृष्ण उस अग्नि को पान कर गये। इस प्रकार कृष्ण ने अपने आश्रित जनों की रक्षा की थी। तदनन्तर जब गोपों ने अपने नेत्र खोले, तब उन्होंने अपने को भाण्डीर-वट के समीप पाया। गौवों सहित अपने को इस प्रकार अग्निभय से मुक्त देख, वे सब गोप-ग्वाल बड़े विस्मित हुए और कृष्ण की इस अद्भुत करतूत को देख उन्हें निश्चय हो गया कि कृष्ण अवश्य ही कोई देवता हैं।

गोपों ने व्रज में पहुँच कर गोपियों से कृष्ण द्वारा दावानल से परित्राण पाने और बलभद्र द्वारा प्रलम्बासुर के मारे जाने का वृत्तान्त कहा। वृद्ध गोप और गोपियाँ यह वृत्तान्त सुन बहुत प्रसन्न हुए। उनके मन में यह धारणा और भी विशिष्ट रूप से खचित हो गयी कि कृष्ण और बलदेव अवश्य ही कोई श्रेष्ठ देवता हैं।

वस्त्र हरण।

हेमन्त ऋतु के प्रथम मास अर्थात् अगहन में नन्द के व्रज में रहने वाली गोपकन्याओं ने हविष्यान्न भोजन करके कात्यायिनी के पूजन और व्रत का नेम साधा। गोपकुमारियाँ बड़े तड़के यमुना के तट पर जाती थीं। वहाँ यमुना जल में स्नान कर जल के समीप देवी की बालू से प्रतिमा बनाती थीं। फिर उस प्रतिमा का चन्दन माला आदि से पूजन करती थीं। पूजन करने के उपरान्त हाथ जोड़ कर वे यह प्रार्थना करती थीं।

गोपकुमारियाँ—हे कात्यायिनी ! हे महा माया ! हे महायोगिनी ! हे अधीश्वरी ! नन्द के पुत्र को हमारा पति बनाओ। हम आपको प्रणाम करती हैं।

इस प्रकार और इस उद्देश्य से गोपियों ने एक मास तक भद्रकाली का पूजन किया। ये गोपकुमारियाँ बड़े तड़के एक दूसरे का नाम ले जगातीं और रास्ते भर श्रीकृष्ण के चरित्रों को गाती जाती थीं।

एक दिन नित्य के नियमानुसार जब सब गोपकुमारियाँ अपने वस्त्र यमुना के तट पर रख जल में स्नानार्थ पैठीं और जल के भीतर श्री

कृष्ण की गुणावली गाने लगीं; तब योगेश्वर श्री कृष्ण उनके मन का अभिप्राय समझ और उनकी मनोकामना पूरी करने के अर्थ गोप-कुमारों सहित यमुना के तट पर जा पहुँचे। वहाँ गोपकुमारियों के वस्त्र तट पर रखे देख, उन्हें उठा पास ही लगे हुए एक कदम्ब के वृक्ष पर वे चढ़ गये। गोपकुमारों के साथ उपहास करते हुए श्री कृष्ण ने हँसी में गोपकुमारियों से कहाः—

श्री कृष्ण—गोपकुमारियो ! तुम यहाँ आ कर, अपने अपने वस्त्र ले जाओ। डरने की कोई बात नहीं है। हँसी मत समझो मैं तुमसे सच-मुच कहता हूँ तुम व्रत करते करते निर्बल हो रही हो। मैं झूठ कभी नहीं बोलता यह बात मेरे ये सङ्गीगोपकुमार भली भाँति जानते हैं। एक एक करके अथवा एक सङ्ग आकर तुम अपने वस्त्र ले जाओ।

श्री कृष्ण को इस प्रकार उपहास करते देख गोपकुमारियाँ प्रेम में विह्वल हो गयींऔर मारे लज्जा के एक दूसरे को ताकने लगीं। गोपकुमा-रियों के मुखमण्डल पर हँसी झलकने लगी और जल के भीतर ही वे अपने अपने स्थानों पर जहाँ की तहाँ खड़ी हो गईं। गले भर जल के भीतर जाड़े से काँपती गोपियाँ श्री कृष्ण से बोलीं:—

गोपकुमारियाँ—हे कृष्ण ! यह अनीति न करो। हम तुम्हें भली भाँति जानती हैं, तुम नन्दनन्दन हो। तुम व्रज भर में सब से बढ़ कर शिष्ट हो। तुम्हारी शिष्टता की सब लोग बड़ाई किया करते हैं। इसीसे हम भी तुम्हें चाहती हैं। हम मारे जाड़े के काँप रही हैं। अतएव हमारे कपड़े हमें दे दो। फिर इन गोपकुमारियों में से कुछ ने कहा:—

गोपकुमारियाँ—हे श्यामसुन्दर ! हम तुम्हारी चेरियाँ हैं तुम्हारी आज्ञा कारिणी हैं। अतः हे धर्मज्ञ ! अब कृपा कर हमारे वस्त्र हमको दे दो।

इन गोपकुमारियों में से जो अवस्था में बड़ी थीं उन्होंने रुखाई के साथ धमका कर कहाः—

गोपकुमारियाँ—यदि तुम हमारे वस्त्र अभी न दोगे, तो हम अभी कंसराज से तुम्हारी इस करतूत को कह आवेंगी।

श्री कृष्ण—गोपियो ! यदि तुम सचमुच मेरी आज्ञाकारिणी दासियाँ हो और मेरे कहने पर चलती हो तो मैं कहता हूँ कि यहाँ आकर अपने कपड़े ले जाओ।

जबगोपकुमारियों ने देखा कि श्रीकृष्ण ऐसे न मानेंगे तो वे मारे जाड़े के थर थर काँपतीं और गुप्ताङ्गों को हाथ से छिपाये जल से निकलीं। उनके इस शुद्धभाव से प्रसन्न होकर सब वस्त्रों को अपने कन्धे पर रख कर, श्रीकृष्ण ने मुसका कर कहाः—

श्री कृष्ण—गोपियो ! तुमने इस प्रकार नितान्त नङ्गी होकर जल में घुस कर स्नान किये—सो भी व्रत में, यह काम तुमने बड़ा अनु-चित किया है। क्योंकि तुम्हारे इस कृत्य से वरुण तथा अन्य देवों का अपमान हुआ है। अब इस अपराध को क्षमा कराने के लिये दोनों हाथों को जोड़ और सीस नवा कर प्रणाम करो और फिर अपने वस्त्र लेकर पहनो।

जब श्री कृष्ण ने नग्न स्नान करने के लिये उनको इस प्रकार दोषी ठहराया, तब गोपकुमा-रियों को विश्वास हो गया कि सचमुच उनके व्रत में विघ्न पड़ा। अतएव श्री कृष्ण के कथना-नुसार व्रत के निर्विघ्न पूर्ण होने की कामना से उसी प्रकार प्रणाम किया। उस प्रकार उन सब को प्रणाम करते देख, श्री कृष्ण सन्तुष्ट हुए और उनको उनके वस्त्र लौटा दिये। उपहास में श्री कृष्ण ने गोपियों को इस प्रकार छकाया, पर उन्होंने उनकी इस बात का ज़रा भी बुरा न माना। प्रत्युत श्री कृष्ण पर वे प्रसन्न हुईं। तब उनको सम्बोधन कर श्री कृष्ण ने कहाः—

श्री कृष्ण—हे साध्वी सुन्दरियों ! मुझे तुम्हारा संकल्प अवगत है तुमने वह व्रत मुझे प्रसन्न करने के लिये ही धारण किया है। तुम्हारी मनोकामना अवश्य पूरी होगी। हे गोपकुमारियों ! तुम्हारा व्रत सफल हुआ, अब तुम व्रज को जाओ।

श्री कृष्ण के इन वचनों को सुन और अपने को कृतार्थ मान तथा श्री कृष्ण के चरणों का ध्यान करतीं, वे सब बड़े कष्ट से व्रज को लौट गयीं। तदनन्तर श्री कृष्ण भी अपने बड़े भाई और गोपग्वाल सहित एवं गौवें चराते हुए वृन्दावन से दूर चले गये। मार्ग में हेमन्त ऋतु की कड़ी धूप को स्वयं सह कर और अपने सिर पर छत्र के समान छाया किये हुए वृक्षों को देख श्री कृष्ण ने अपने साथियों से कहाः—

श्री कृष्ण—मित्रों ! इन भाग्यवान् वृक्षों को तो देखो। इनका जीवन केवल परोपकारार्थ ही है। ये स्वयं तो वायु वर्षा, घाम, पाला सहते हैं पर दूसरों को इनसे बचाते हैं। अतः इन्हींका जन्म धन्य है। जिनसे अन्य प्राणियों का काम निकलता है, जो दयालु होते हैं उनके पास पहुँच कर याचक को विमुख नहीं लौटना पड़ता। ये वृक्ष भी उसी दयालु पुरुष के समान हैं। इनके पास पहुँचा हुआ भी याचक रीता नहीं लौटता। ये वृक्ष अपने पत्ते, फूल, फल, छाया, जड़, छाल, लकड़ी, गन्ध, गोंद, राख, कोयला, अंकुर, नवपल्लव, आदि से, प्राणीमात्र का उपकार करते हैं। सचमुच देहधारी ये ही धन्य हैं जो निज प्राण, सम्पत्ति, बुद्धि और वाणी से सदैव सब प्राणियों की भलाई करते हैं।

इस प्रकार उन वृक्षों की प्रशंसा करते और उनकी छाया के नीचे नीचे चल कर वे यमुना के तट पर पहुँचे। वहाँ गोपों ने गौवों को जल पिलाया और स्वयं भी पिया।

इन्द्र का मान भङ्ग।

श्री कृष्ण ने एक दिन देखा कि गोपगण इन्द्र-यज्ञ करने का उद्योग कर रहे हैं। भगवान् तो घट घट वासी ठहरे। उनसे कोई बात छिपी न थी। तो भी उन्होंने बड़ी नम्रता से नन्दादि बूढ़े गोपों से पूँछाः—

श्रीकृष्ण—पितृदेव ! यह तो बताइये यह धूमधाम क्यों है। यह किस काम के लिये इतनी सामग्री एकत्र की जा रही है। यह यज्ञ कौन करेगा और किस देवता के उद्देश्य से यह यज्ञ किया जायगा और इसका फल क्या है ? कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक ज्ञात और दूसरे अज्ञात। ज्ञात कर्म वे हैं जिनका तत्व एवं फलाफल पहले ही अवगत हो जाय और अज्ञात वे हैं जो बिना विचारे आरम्भ किये जाते हैं। ज्ञात कर्म किये जाने पर भले प्रकार सिद्ध होते हैं और अज्ञात कर्म ज्ञातों जैसे सुसिद्ध नहीं होते। आपका यह यज्ञ शास्त्रानुसार है या लौकिक रीत्यानुसार ? ये सब बातें मुझे समझा कर बतलाइये।

नन्द—वत्स ! भगवान् इन्द्र जल बरसाते हैं। मेघ उनकी प्रिय मूर्त्ति हैं। ये ही मेघ प्राणीमात्र को प्रसन्न करने वाला जल प्रदान करते हैं। इस जल द्वारा अन्नादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और इन अन्नादि द्वारा हम लोग यज्ञ कर इन्द्र को प्रसन्न करते हैं। यज्ञ के अन्त में जो अन्न बच जाता है, उसके द्वारा हम अर्थ और काम की सिद्धि करके, अपने जीवन की रक्षा करते हैं। लोगों का सारा व्यवसाय वाणिज्य वर्षा ही पर तो निर्भर है। क्योंकि यदि वर्षा न हो तो खेती बारी कुछ भी न हो और खेती बारी ही सब का जीवन स्वरूप है। हमारे यहाँ यह प्रथा आज की नहीं है। किन्तु बहुत दिनों से चली आती है। जो कोई इस धर्म के काम को द्वेष भय अथवा लोभ के वशवर्ती होकर त्याग देता है। उसका अमङ्गल होता है।

यह सुन श्रीकृष्ण ने इन्द्र को व्रजवासियों पर क्रुद्ध करते हुए नन्द से यह कहाः—

श्रीकृष्ण—पितृदेव ! प्राणीमात्र का जन्म अपने अपने कर्मानुसार होता है और कर्मानु-

सार ही वे मरते हैं। समय समय पर उनको कर्मों के अनुसार ही सुख दुःख, बुराई भलाई प्राप्त होती है। इसे छोड़ कर यदि ऐसा कोई ईश्वर हो भी जो स्वयं कर्म्मों में लिप्त न होकर दूसरों को उनके कर्म्मों का फल दिया करता हो, तो वह ईश्वर उसीका ईश्वर हो सकता है जो कर्म करता है। अतः जब जीव कर्मों के बन्धन में जकड़े हुए हैं; तब उन्हें इन्द्र से क्या प्रयोजन? पूर्वसञ्चित कर्म्मफलों से बने भाग्य में इन्द्र तिल भर भी हेरफेर नहीं कर सकता। मनुष्यमात्र स्वभाव ही के वशवर्त्ती हैं और स्वभाव ही के अनुसार उन्हें चलना पड़ता है। यह जीव अपने कर्म्मों के अधीन होकर उत्तम और अधम शरीर पाकर अपने कर्म्मों का फल भोगता है और यथासमय शरीरों को छोड़ा करता है। परस्पर शत्रुता अथवा मैत्री भी कर्म्मों ही के अधीन है। अतः जब स्वभावसिद्ध कर्म्म ही सब फलों के कारण हैं तब केवल कर्म ही पूज्य है। अतः प्राणियों को चाहिये कि वे स्वभावानुसार कर्म करें और उसीको पूजें।

यह कह कर श्रीकृष्ण ने आगे वह कर्त्तव्य निर्दिष्ट किया, जो उनको अभीष्ट था। वे नन्द को सम्बोधन कर कहने लगे:—

श्रीकृष्ण—प्राणियों का इष्टदेव उनकी आजीविका का द्वार है। अर्थात् जिसके द्वारा सुख पूर्वक आजीविका हो वही इष्टदेव है। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को उचित है कि वे क्रमशः वेदाध्ययन, पृथ्वीपालन, वार्त्ता और द्विजों की सेवा द्वारा अपनी जीविका का निर्वाह करें। वैश्यों की वार्त्ता वृत्ति चार प्रकार की है। १ खेती, २ वनिज, ३ पशुपालन, ४ व्याज चलाना। इन चारों में गोपालन हमारी जीविका है। तुम्हारी यह धारणा ठीक नहीं कि इन्द्र जल बरसाते हैं। सच बात तो यह है कि रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण ही से सृष्टि उत्पन्न होती है। इन्हीं तीन से सृष्टि की रक्षा होती और इन्हींसे उसका नाश भी होता है। इन तीनों में रजोगुण इस सारे चराचर जगत् और ब्रह्माण्ड के परस्पर उत्पन्न होने का कारण है। रजोगुण ही की प्रेरणा से मेघ जल की वर्षा करते हैं। जल से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न द्वारा सब का पालन होता है। इसमें इन्द्र क्या कर सकते हैं?

इसके अतिरिक्त न तो हमारा कहीं घर द्वार है और न नगर पुर या जनपद। हम तो वनवासी हैं। अतः इस यज्ञ में गौ, ब्राह्मण और गोबर्द्धन पर्वत ही की पूजा होनी चाहिये। इन्द्रयज्ञ के लिये एकत्रित सामग्री से गोबर्द्धन गिरि का पूजन कीजिये।

इसके आगे श्रीकृष्ण ने पूजन की विधि बतलाते हुए कहा:—

श्रीकृष्ण—खीर, पूरी, पुआ, मोहनभोग आदि भाँति भाँति के पकवान बना कर, सब गैयों का दूध इकट्ठा करो। फिर वेदपाठी ब्राह्मणों से अग्नि को तृप्त कराओ और उन ब्राह्मणों को भोजन करा कर, दक्षिणा के साथ गौवें दो। श्वपच हो अथवा चाण्डाल ही क्यों न हो। उसको भी यथायोग्य अन्न देकर, तृप्त और सन्तुष्ट करो। गौवों को हरी हरी घास खिला और आभूषण पहना तथा चन्दन लगा कर, गौ, ब्राह्मण तथा पर्वत की प्रदक्षिणा करो।

हे पितृदेव! मेरी समझ में तो हम लोगों का यही कर्त्तव्य है। आगे आपकी जैसी इच्छा हो कीजिये।

इन्द्र का मद तोड़ने के अभिप्राय से श्रीकृष्ण ने जो बातें कहीं, उन्हें नन्दादि गोपों ने मान लीं और श्रीकृष्ण की बड़ाई भी की। तदनन्तर श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जैसा कहा था वैसा ही किया गया। प्रथम स्वस्त्ययन पाठ हुआ तदनन्तर सारी सामग्री ब्राह्मणों को दी गयी। गौवों को भी हरी हरी घास खिलाई गई। तदनन्तर गौवों को आगे कर सब गोप

गोपी गिरिराज की प्रदक्षिणा के लिये चले। गोपियाँ शृङ्गार किये हुए छकड़ों पर सवार थीं और श्रीकृष्ण की लीला के गीत गा रही थीं। ब्राह्मण मण्डली सन्तुष्ट और प्रसन्न होकर शुभ और अमोघ आशीर्वादों की वर्षा कर रहे थे। उधर श्रीकृष्णजी गोपों को विश्वास दिलाने के लिये गिरिराज के ऊपर अपने दूसरे विशाल रूप से प्रकट होकर, और "मैं ही गिरिराज हूँ" कह कर दोनों हाथों से सारी भोज्य सामग्री खा रहे थे अपने पहले रूप से श्रीकृष्ण ने गोपों सहित अपने दूसरे रूप को प्रणाम किया। फिर गोपों से बोले:—

श्रीकृष्ण—आहा! देखो तो, गिरिराज महाराज ने स्वयं प्रकट होकर हमारे ऊपर कैसी दया की है। क्यों न हो! इनमें सब सामर्थ्य है। ये जब जैसा चाहें, तब वैसा रूप धारण कर सकते हैं। वनवासी होकर जो लोग इनका अनादर करते हैं, उनका इनके क्रोध से नाश हो जाता है। अपने और सम्पूर्ण व्रज के कल्याण के निमित्त आओ हम सब इनको प्रणाम करें।

इस प्रकार श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार गौ, ब्राह्मण और गिरिराज का पूजन कर सब गोप श्री कृष्ण सहित व्रज में लौट गये।

गोवर्द्धन-धारण।

अपने को ईश्वर समझने वाले इन्द्र इस घटना का संवाद पाकर बहुत क्रुद्ध हुए। मेघों को व्रज पर आक्रमण करने के लिये भेजा। उनको भेजने के पहिले इन्द्र ने उन मेघों को सम्बोधन कर कहा:—

इन्द्र—हे मेघो! ये वनवासी गोप लक्ष्मी के मद में मत्त हैं, तिस पर इन्होंने एक साधारण मनुष्य कृष्ण के बल पर, भूल कर आज देवताओं की अवहेला की है। व्रजवासी गोपों ने आज वाचाल, बालक, अविनीत, पण्डिताभिमानी अज्ञ मनुष्य कृष्ण की प्रेरणा से अपने ऊपर मुझे अप्रसन्न किया है। तुम शीघ्र व्रज पर चढ़ाई करो और उनके गर्व को खर्व कर उनके सर्वस्व पशुओं को मार डालो। तुम चलो मैं भी उनचास मरुद्गण के सहित और ऐरावत पर चढ़ नन्द के व्रज का नाश करने के लिये आता हूँ।

इन्द्र की आज्ञा पाते ही वे मेघ बड़े वेग से व्रज पर जल वर्साने लगे। उस वृष्टि से गोप विचलित हुए। क्षण क्षण पर चपला दमकने लगी, बादल वज्र गहराने जैसी कड़-कड़ाहट कर गरजने लगे। वायु के झकोरों से चालित हो मेघ व्रज पर शिला वृष्टि करने लगे। देखते ही देखते पृथिवी जल के नीचे डूबने लगी। महा प्रचण्ड वृष्टि और आँधी के मारे पशु काँपने लगे। तब जाड़े से विकल गोप एवं गोपियाँ श्रीकृष्ण के शरण में गयीं और बोलीं:—

गोप गोपियाँ—हे कृष्ण! हे प्रभो! आपही तो इस गोकुल के रक्षक हैं। हे भक्तवत्सल! अब क्रुद्ध इन्द्र से आप हमें बचाइये।

व्रज में जल शिला एवं पवन का प्रचण्ड उपद्रव देख श्रीकृष्ण ने समझ लिया कि ये सारी करतूत इन्द्र ही की है। तब वे बोलेः—

श्रीकृष्ण—हम समझ गये, यज्ञ लोप होने ही से, इन्द्र ने ये उपद्रव खड़े किये हैं। अतः योग द्वारा अभी इनको रोके देता हूँ। इन इन्द्रादि देवताओं को मोह के वशवर्त्ती होने के कारण स्वतंत्र ईश्वर होने का अभिमान हो गया है। सो मैं इनके उस अभिमान को अभी चूर किये देता हूँ। ये सब व्रजवासी मेरे हैं और मेरे शरण में आये हैं। इनकी रक्षा मैं अवश्य करूँगा।

यह कह श्रीकृष्ण ने फूल की तरह बिना किसी प्रकार के प्रयास के गोवर्द्धन पर्वत को

उठा लिया और गोपों से कहा:—

श्रीकृष्ण—हे व्रजवासियो! तुम सब लोग निडर हो और आनन्द पूर्वक अपने पशुओं सहित गोवर्द्धन गिरि के गढ़ में आ जाओ। डरो मत यह गिरिराज मेरे हाथ से गिर नहीं सकता। इस मूसलाधार वृष्टि और प्रचण्ड पवन से तुम रत्ती भर भी मत भयभीत हो। क्योंकि यह यत्न उन्हींसे बचाने के लिये किया गया है।

यह आश्वासन सूचक वचन सुन व्रजवासियों के जी में जी आयो। वे अपने गोधन, आश्रितजन तथा माल असवाब सहित गोवर्द्धन के नीचे आ खड़े हुए। किसी को वहाँ स्थान की तिल भर भी कमी न हुई। श्रीकृष्ण तो योगेश्वर थे अतः वे उस गिरिराज को सात दिनों तक उठाए खड़े रहे। इस बीच में न तो उन्हें भूख लगी न प्यास लगी और न उन्हें नींद ही ने सताया और न उन्हें विश्राम ही की आवश्यकता पड़ी। थकावट की तो बात ही क्या वे एक पग भी इधर उधर न हटे। श्रीकृष्ण के इस अद्भुत व्यापार को देख गोप और गोपियाँ विस्मित हो, इकटक उन्हींकी ओर देखती थीं।

उधर इन्द्र का भी अभिमान धूल में मिल गया और उन्होंने मेघों को निषेध कर वर्षा रुकवा दी। जो बड़ा तूफान आया था वह रुक गया और सूर्य्य के दर्शन हुए। यह देख गिरिधारी श्रीकृष्ण ने गोपों से कहा:—

श्रीकृष्ण—अब तो आँधी पानी का चिन्ह तक नहीं; बढ़ी हुई नदियाँ भी उतर गयीं। अब डरने की कोई बात नहीं। तुम सब अपने बाल बच्चों समेत यहाँ से निकल चलो।

यह सुन उन गोपों ने अपना सारा सामान छकड़ों पर लादा और अपने पशुओं को आगे कर वे उस गिरगर्त्त से बाल बच्चों सहित निकले। जब सब उस गढ़े से निकल गये तब उन सब के सामने ही श्रीकृष्ण ने उस पर्वत को जहाँ का तहाँ रख दिया।

एक बड़े सङ्कट से उबरने पर जो आनन्द किसी जन समुदाय को हो सकता है वही अब गोपों को प्राप्त हुआ। इस सङ्कट से उबारने वाले श्रीकृष्ण को गोप और गोपियों ने घेर लिया। उनमें से उनके समवयस्क तो उन्हें गले लगा कर मिले, किन्तु जो बड़े थे उन्होंने उन्हें माङ्गलिक आशीर्वाद दिये। गोपियों ने अक्षत मिले हुए दही और जल के छीटों से श्री कृष्ण का पूजन किया और असीसें दीं। स्नेहवश हो नन्द यशोदा तथा महाबली बलराम ने श्रीकृष्ण को छाती से लगा लिया और मन भर के आशीर्वाद दिये। उधर स्वर्ग से देवगण, सिद्ध, गन्धर्व, पुष्पों की वृष्टि कर साध्य और चारण श्री कृष्ण की स्तुति करने लगे।

इन्द्र स्तुति।

इन्द्र ने श्रीकृष्ण की अवहेला की थी, इसलिये वे अपने मन में बड़े लज्जित थे। अतः अपने मन की ग्लानि दूर करने के लिये वे गोलोक की सुरभी को ले श्रीकृष्णजी के पास एकान्त में गये। श्रीकृष्ण का अतुलित प्रभाव देख इन्द्र के मन में त्रिलोकी के अधिपति होने का जो अभिमान उत्पन्न हो गया था वह अब दूर हो गया। उन्होंने आते ही श्रीकृष्ण के चरणों पर अपना सूर्य्य के समान चमकता हुआ मुकुट रख दिया और बड़ी नम्रता से भगवान् की प्रार्थना कर कहने लगे:—

इन्द्र—प्रभो! आप विशुद्धस्वरूप हैं, शान्त हैं, सर्वदा एक रूप हैं और सर्वज्ञ हैं। आप निर्गुण इसलिये हैं कि आपमें रजोगुण और तमोगुण का लेश तक नहीं है। माया का प्रपञ्च रूप यह संसार आपमें नहीं है, क्योंकि यह तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ है और आप अज्ञान से परे हैं। अतएव हे प्रभो! शरीर के

गोवर्द्धन-धारण

सम्बन्ध से उत्पन्न लोभ आदि भाव तथा अज्ञान के अन्य चिन्ह आपमें नहीं हैं। तिस पर भी आप शिष्टों की रक्षा और दुष्टों का दमन करने के अभिप्राय से समय समय पर शरीर धारण किया करते हैं। आपही जगत्पिता गुरु, अधीश्वर और दुर्निवार्य्य काल हैं। आप लोकहितार्थ ही मुझ जैसे मूढ़ों का भ्रम, दण्ड द्वारा दूर कर, खेल खेला करते हैं। आपको भय के समय भी निर्भय देख कर ही, मुझ जैसे अभिमानियों का अभिमान दूर हो जाता है। अतएव आपका खेल भी दुष्टों के पक्ष में दण्ड रूप ही है। मेरे इस अपराध का कारण यह है कि मैं ऐश्वर्य के मद में मत्त था और आपके प्रभाव को भूल गया था। हे प्रभो! मेरे अपराध को अब आप क्षमा करिये और ऐसा कीजिये जिससे मेरी ऐसी मति फिर कभी न हो। हे देव! भूभाररूपी असुरों के संहार के लिये ही आपका यह मनुष्यावतार हुआ है। आप घटघट व्यापी हैं और सर्वत्र व्याप्त होने से आप अखण्ड हैं। अतः आपको प्रणाम है। मैंने अभिमान के वशवर्त्ती हो और कुपित हो व्रज को नष्ट करना चाहा था। भगवन्! आपने मेरा घमण्ड दूर कर दिया यह आपका मुझ पर बड़ा ही अनुग्रह है। आप मेरे गुरु और आत्मा हैं। मैं अब आपके शरण में हूँ।

इस प्रकार इन्द्र द्वारा स्तुति किये जाने पर, मेघ की तरह गम्भीरवाणी से मुसका कर श्रीकृष्ण ने इन्द्र से कहाः—

श्रीकृष्ण—इन्द्र! तुमने ऐश्वर्य के मद में चूर होकर मुझे भुला दिया था। अतः तुम्हें तुम्हारी भूल समझाने के लिये ही मुझे तुम्हारा यज्ञ रोकना पड़ा। ऐश्वर्य और श्री से अन्ध मुझे नहीं देख सकता। तिस पर भी ऐसे मदान्धों में भी जिस पर मेरा अनुग्रह होता है, उसकी मैं सारी सम्पति हर लिया करता हूँ। ऐसा करते ही उसके ज्ञाननेत्र उन्मीलित हो जाते हैं। इन्द्र! तुम्हारा भला हो, अब तुम अपने लोक को लौट दो मेरी आज्ञा का सदा पालन करते रहो और अभिमान कभी मत करो।

अभिषेक।

तदनन्तर सुरभी ने अपने बाल बच्चों समेत जाकर श्रीकृष्ण को प्रणाम किया और कहाः—

सुरभी—हे कृष्ण! हे महायोगी! आपने इन्द्र के कोप से हमारी रक्षा की है। आपही हमारे परमदेव हैं! अतः गौ, ब्राह्मण और साधुओं के मङ्गल के लिये आपही हमारे इन्द्र हैं। ब्रह्मा जी की आज्ञानुसार हम आपको अपना इन्द्र बना कर, आपका अभिषेक करेंगी।

यह कह सुरभी ने अपने दूध से श्रीकृष्ण जी का अभिषेक किया। फिर ऐरावत द्वारा लाये गये आकाशगङ्गा के जल से इन्द्र ने श्री कृष्ण का अभिषेक कर, उनका नाम "गोविन्द" रखा। इतने में गन्धर्व और अप्सराएँ आकर श्रीकृष्ण की लीला गा कर नृत्य करने लगीं। अन्य देवता श्रीकृष्ण का स्तव करके, उन पर नन्दन कानन के पारिजात पुष्पों की वर्षा करने लगे। तीनों लोक बहुत प्रसन्न हुए। गौवों के स्तनों से अपने आप दूध की धारें निकलने लगीं। सारी प्रकृति आनन्दमय हो गयी।

इस प्रकार गौवों और गोकुल के गोविन्द का अभिषेक कर और उनकी अनुमति पाकर देवर्षियों सहित इन्द्र स्वर्ग को चले गये।

श्रीकृष्ण द्वारा नन्द का वरुणालय से उद्धार।

एक बार नन्दजी ने एकादशी का व्रत किया और जनार्दन की पूजा की। अगले दिन द्वादशी बहुत ही थोड़े समय तक थी। अतः अरुणोदय के पहले ही आसुरी वेला में वे स्नानार्थ यमुना में घुसे। उस समय वरुण का एक किङ्कर नन्द को पकड़ कर वरुण के पास ले गया। उधर जो गोप नन्द के साथ आये थे, वे नन्द को जल

से न निकलते देख "हा कृष्ण, हा बलदेव !" कह कर उच्चस्वर से चिल्लाने लगे। वरुण के किङ्कर द्वारा नन्दजी का ले जाना सुन, श्रीकृष्ण ने गोपों को धीरज बँधाते हुए कहाः—"आप लोग डरें नहीं मैं उन्हें अभी लिवाये लाता हूँ।" यह कह श्रीकृष्ण उसी समय वरुण के पास गये। भगवान् को अपने लोक में देख वरुण ने उनका बड़ी धूमधाम से स्वागत किया। तदनन्तर वरुण बोलेः—

वरुण—प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हुआ। सचमुच आज मुझे बड़ी सम्पत्ति मिल गई। आपका ऐश्वर्य्य सर्वोत्कृष्ट है। आप पूर्णरूप परमात्मा हैं। आपको मैं प्रणाम करता हूँ। करने अनकरने काम को न जानने वाला मेरा यह अनुचर, अनजाने आपके पिता को यहाँ ले आया। अतएव हे प्रभो! उसके अपराध को क्षमा कीजिये। हे गोविन्द! यह रहे आपके पिता, आप इन्हें ले जाइये। हे सर्वज्ञ! मैं आपका अनुचर हूँ, मुझ पर भी आप कृपा कीजिये।

इस प्रकार के अति विनम्र व्यवहार से वरुण ने श्रीकृष्णचन्द्र को प्रसन्न कर लिया। श्रीकृष्ण अपने पिता को लिये हुए वरुणलोक से व्रज में आये। गोपराज नन्द, वरुण के अपूर्व ऐश्वर्य को तथा उनके द्वारा किये गये श्रीकृष्ण के सत्कार को देख स्वयं विस्मित तो थे, पर जब यह वृत्तान्त उन्होंने लौट कर व्रज-वासियों को सुनाया, तब व्रजवासी भी बड़े विस्मित हुए और वे जान गये कि श्रीकृष्ण ईश्वर हैं। साथ ही उनके मन में यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि कृष्ण कभी उनको भी अपनी सूक्ष्म गति तक पहुँचा देंगे। श्रीकृष्णचन्द्रजी तो सर्वज्ञ थे। वे गोपों के इस संकल्प को जान गये और उन पर अनुग्रह कर उनकी अभि-लाषा पूर्ण करने के अर्थ वे विचारने लगे। यह जीव इस लोक में अविद्या, कामना और कर्म्मों के द्वारा, उत्तम अथवा अधोगति को प्राप्त हो, अपने तत्त्व को नहीं जान सकता। यह निष्कर्ष निकाल भगवान् उन सब गोपों को अपने वैकुण्ठ लोक में ले गये और वहाँ अपना वह रूप उनको दिखलाया जो सत्य है, ज्ञान रूप है, अनन्त है, नित्य है, स्वयं प्रकाशमान है, जो निर्गुण है और जिसे एकाग्र मन कर सकने वाले मुनि गण देख पाते हैं। उस लोक में जाकर गोपगण मग्न हो गये। तब श्रीकृष्ण ने उनको सचेत किया। वहाँ गोपों ने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र विराजमान हैं और वेदों द्वारा उनकी स्तुति की जाती है। यह देख गोप प्रसन्न एवं विस्मित हुए।

रास।

गोपकुमारियों के साथ श्रीकृष्ण ने जो प्रतिज्ञा की थी उसीके अनुसार कार्य्य करने का अब समय उपस्थित हुआ। शरदऋतु की एक रात के समय श्रीकृष्ण बंसी बजा कर व्रजबालाओं के मनों को हरने वाले सुश्राव्य गीत गाने लगे। उन गीतों को सुन गोपकुमा-रियाँ अपने घरों के कामकाज और प्रिय आत्मियों को छोड़ उस स्थान पर पहुँचीं, जहाँ श्रीकृष्ण बंसी बजा रहे थे। उनके पिता, पति भाई और अन्य घरवालों ने उन्हें बहुत रोका, पर वे किसी के रोके न रुकीं। कुछ गोपियाँ जो घर के भीतर बन्द कर देने के कारण न निकल सकीं वे मनद्वारा श्रीकृष्ण के पास पहुँच गयीं। गोपियों को अपने निकट देख श्रीकृष्ण ने उनसे कहाः—

श्रीकृष्ण—सौभाग्यवन्तियों! तुम भली आयीं। कहो मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ? यह तो कहो इस समय तुम क्यों यहाँ आयी हो? एक तो रात का समय दूसरे वन का स्थान जहाँ बनैले हिंस्र जन्तु घूमा करते हैं। ऐसे समय और ऐसे स्थान पर तुम्हारा रहना उचित नहीं। अतः तुम व्रज को लौट जाओ। तुम्हारे माता पिता पुत्र भाई और पति तुम्हें घर में न देख, तुम्हें खोजते फिरते होंगे। उनको व्याकुल मत करो। यदि तुम वन की शोभा देखने आई हो, तो तुम चाँदनी से उज्ज्वल

और फूलों से परिपूर्ण वृन्दावन की छटा देख चुकीं और यमुना जल के संयोग से शीतल पवन की मन्दगति से हिलते हुए वृक्षों के नव पल्लवों की शोभा भी अच्छे प्रकार निरख चुकीं। अब यहाँ विलम्ब न करो शीघ्र घर लौट कर अपने अपने पतियों की सेवा में लगो। तुम्हारे बालक और बछड़े चिल्ला कर रुदन कर रहे होंगे, उनको जाकर दूध पिलाओ।

यह कह कर श्रीकृष्ण ने गोपियों को सम्बोधन कर पातिव्रत्य का उपदेश दिया। वे बोलेः—

श्रीकृष्ण—हे गोपियों! निष्कपट भाव से अपने स्वामी और स्वामी के भाई बन्धुओं की सेवा तथा बाल बच्चों का पालना पोसना ही. स्त्रियों का परम धर्म है। जो स्त्रियाँ अपनी सद्गति चाहती हों, उन्हें उचित है कि वे अपने स्वामी को चाहे वह बूढ़ा, अशक्त, दरिद्र अथवा उन्मत्त ही क्यों न हो कभी न छोड़ें। हाँ यदि उसे हत्या का दोष लगा हो तो ऐसे पति को सती स्त्रियाँ छोड़ सकती हैं। उपपति की सेवा करना कुलवती नारियों के लिये निन्दा का काम है। इस निन्द्य कर्म के करने से स्त्रियाँ स्वर्गलोक से वञ्चित रहती हैं और लोक में उनकी निन्दा होती है। इसमें उन्हें बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं और उन्हें सदा भय बना रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इससे बढ़ कर तुच्छ कर्म्म दूसरा नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि तुम्हें अपनी प्रीति की मात्रा मुझमें बढ़ानी है, तो इसका सब से बढ़ कर उपाय यह है कि मेरे दर्शन और मेरा ध्यान करो। क्योंकि इन उपायों से मुझमें जितनी प्रीति बढ़ सकती है, उतनी मेरे समीप रहने से नहीं। अतः तुम अपने अपने घरों को लौट जाओ।

श्रीकृष्ण के इस प्रकार रूखे वचन सुन गोपियों को बड़ा दुःख हुआ। उनके मन में जो उछाह उत्पन्न हुआ था वह मन्द पड़ गया और उनका मन चञ्चल हुआ। वे बारम्बार उसाँसे लेने लगीं और इससे उनके होंठ सूख गये। वे नीचा मुख कर चुप चाप पैर के अँगूठे से पृथिवी खोदने लगीं। आँखों के काजल से मिल कर नेत्र जल ने उनके वक्षःस्थल को काला कर दिया। फिर हथेलियों से आँसुओं को पोंछ कर गोपियों ने श्रीकृष्ण से कहा.—

गोपियाँ—विभो! आपके मुख से ऐसे कठोर वचन शोभा नहीं पाते। हम सब को छोड़ कर आपकी सेवा के लिये आपके शरण हुई हैं। हमें आप न छोड़ो। किन्तु भक्तवत्सल नारायण जिस प्रकार मुमुक्षवों को आश्रय प्रदान करते हैं उसी प्रकार आप भी हमें अपनावें। प्रियतम! आप धर्मज्ञ हैं। आपके इस कथन को हम मानती हैं कि स्त्रियों का धर्म पति पुत्र और अन्य घर वालों की सेवा करना है। पर हमें इस समय जो यह उपदेश दे रहे हैं, उन ईश्वर की सेवा करने ही से इन सब की सेवा हो जायगी। जो शास्त्रवेत्ता हैं और चतुर हैं वे तो आप ही पर प्रेम करते हैं, क्योंकि आप नित्यप्रिय आत्मा हैं।

नाथ! क्या पति पुत्र सुख दे सकते हैं? वे तो दुःख दायक हैं। अतएव हे प्रभो! आप हम पर प्रसन्न हूजिये। अनेक दिनों की पाली पोसी हमारी साध को पूरी कीजिये।

गोपियों की इस प्रकार की कातरोक्ति सुन कर नन्दनन्दन हँसे और उनके कथनानुसार उनके साथ विहरे। इस पर गोपियाँ अपने को सौभाग्यवती समझ अभिमान के मद में मत्त हुईं, तब तो उनके अभिमान को दूर करने के लिये श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये।

फिर क्या था—गोपियों का सारा अभिमान बात की बात में जाता रहा। वे श्रीकृष्ण को खोजती वन में फिरने लगीं। वे श्रीकृष्ण के विरह में ऐसी अपने आपको भूलीं कि उन्हें जड़ चेतन का ज्ञान न रहा। वे मार्ग में खड़े वृक्षों से श्री कृष्ण का पता पूँछने लगीं। इसी भाव को लेकर स्वर्गवासी बाबू हरिश्चन्द्र ने

वियोगनी चन्द्रावली से एक पद्य कहलाया है। उसे हम यहाँ उद्धृत किये देते हैं:—

पद्य।

"अरे पैान सुख भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहो राधिका रौन सों मौन निवारो॥
अरे भँवर तुम श्याम रङ्ग मोहन व्रतधारी।
क्यों न कहौ वा निठुर श्याम सों दशा हमारी॥
अहो हँस तुम राजवँस सरवर की सोभा।
क्यों न कहौ मेरे मानस सों या दुख के गोभा॥
हे सारस तुम नीके विछुरन वेद न जानो।
तो क्यों पीतम सों नहिं मेरी दसा बखानो॥
हे कोकिल कुल श्याम रङ्ग के तुम अनुरागी।
क्यों नहिं बोलहु तहाँ जाय जहँ हरि बड़ भागी॥
हे पपिहा तुम पिउ पिउ पिय पिय रटत सदाई।
आजहु क्यों नहिं रटि रटि कै पिय लेहु बुलाई॥
अहो भानु तुम तो घर घर में किरन प्रकासो।
क्यों नहिं पियहिं मिलाइ हमारो दुःख तुम नासो॥

हाय!

कोउ नहिं उत्तर देत भये सब ही निरमोही।
प्रान पियारे अब बोलौ कहाँ खोजौं तोहीं॥"

—चन्द्र वंशी।

श्रीकृष्ण को खोजती गोपियाँ जब थक गईं। तब वे स्वयं श्रीकृष्ण जी की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। जैसे उनमें से एक कृष्ण बनी और दूसरी पूतना बन कर उसे दूध पिलाने लगी। एक गोपी छकड़ा बनी दूसरी ने उसे ठेंस देकर गिरा दिया। इसी प्रकार उन गोपियों ने श्रीकृष्ण की सारी लीलाओं का अनुकरण किया। तदनन्तर वे फिर श्रीकृष्ण को ढूढ़ती हुई वृन्दावन में श्रीकृष्ण के पद के चिन्ह देख, उन्हींके सहारे आगे बढ़ीं। श्रीकृष्ण के ध्वजपद्म चिन्हित पदचिन्ह के पास ही उन्हें एक कामिनी के पदचिन्ह भी दीख पड़े। उसे देख वे अत्यन्त क्षुब्ध हुईं और मनमानी कल्पनाएँ करने लगीं। कुछ दूर आगे बढ़ कर उन्हें केवल श्रीकृष्ण ही के पदचिन्ह दीख पड़े।

असल बात यह थी कि क्रीड़ावश श्रीकृष्ण एक गोपी को अपने साथ ले गये थे। उसे जब इस बात का गर्व हुआ कि श्रीकृष्ण मुझ ही को चाहते हैं तब तो वह अभिमानिनी श्रीकृष्ण से बोली कि मुझ से तो नहीं चला जाता अब तुम मुझे अपने कन्धे पर चढ़ा कर ले चलो। इस पर श्रीकृष्ण ने बहुत अच्छा कहा और उसे कन्धे पर चढ़ाने के लिये वे बैठे और ज्योंहीं वह गोपी उनके कन्धे पर बैठने लगी त्योंहीं वे वहाँ से भी अन्तर्धान हो गये और उसके अभिमान को तोड़ा। श्रीकृष्ण को न देख वह गोपी विलाप करने लगी। इतने में पहले वाली गोपियाँ श्रीकृष्ण को ढूढ़ती वहाँ पहुँची। अब वह गोपी अकेली खड़ी रो रही थी। उसके मुख से माधव द्वारा सम्मानित किये जाने और अपनी ही भूल के कारण अपमानित होने का वृत्तान्त सुन उन सब गोपियों को बड़ा विस्मय हुआ। जब तक चाँदनी रही तब तक तो वे गोपियाँ श्रीकृष्ण को ढूढ़ती रहीं; किन्तु जब चन्द्रमा अस्त हो गया, तब वे सब एक स्थान पर बैठ श्रीकृष्ण के गुण गाने लगीं।

श्री मद्भागवत दशमस्कन्ध के ३१ वें अध्याय में गोपिका गीत है। उन गीतों का गद्य मय अनुवाद न देकर हम पं० श्रीधर पाठक रचित हिन्दी का गोपिका गीत नीचे उद्धृत किये देते हैं। इससे पाठकों को कवि की मधुर रचना का आनन्द भी मिलेगा।

गोपिका गीत।

बाम भुजा पै बामगण्ड भृकुटी करि बाँकी
अधर मुरलिया धरी अमित सोभा छवि जाकी
मृदु अँगुरिन करि मुरलिया जबै बजावत श्याम
सिद्धि यक्ष गन्धर्व त्रिय इक संग होति सकाम

श्याम बिन कैसे जीओं आलि

हृदय विराजत हार कंठ राजत वनमाला
लीने त्रिभुवन मोहि कान्ह दीनन प्रतिपाला
जवै वजावत बाँसुरी गै। चरत वन माँहि
खग, मृग, पशु, धुनि सुनि सवै, चित्र लिखित रहि जाहिं

स्याम विन कैसे जीओं आलि

मोर मुकुट वन लतनु मल्लवर वेषवनायौ
ललित काछनी कछं विविध छवि रूप सुहायौ
सव गोपनु संग सरित तट जवै वुलावत गायँ
चरण रेणु हित ते सरित अचल धार ह्वै जायँ

स्याम विन कैसे जीओं आलि

ब्रह्मा आदि सुरेश शेष गावत जस जाको
आदि पुरुष भगवान भेद पायो नहिं ताको
ऊँचे सुर करि गौन को जव टेरति वन माँहिं
कुसुम लता हरि जानि तहँ चुअत प्रेम अधिकाहिं

स्याम विन कैसे जीओं आलि

तिलक भाल गल माल भ्रमर भौंरत मद जाके
ता छिन वेनु वजाय संग गावत हरि ताके
सरवर हँस विहँग गन मोहित ह्वै सुनि तान
इक टक सव रहि जात हैं तन मन लगि भगवान

स्याम विन कैसे जीओं आलि

ललित छवीले केश गण्ड कुण्डल की झाँईं
गल वैजन्ती माल लाल त्रिभुवन के साँईं
हर्पित है गिरिवर विपे सुर पूरत नदनन्द
त्रिभुवनपति अपमान हर गरजत घन अति मन्द

स्याम विन कैसे जीओं आलि

विविध गोप रस खेल हेल परवीन गुपाला
खैंचत सुर भरि तान गान गुन वुद्धि विशाला
सुनि ब्रह्मादिक देव सव गूढ़ सुरीली तान
रहे चकित विस्मित सवै भेद पर्‍यो नहिं जान

स्याम विन कैसे जीओं आलि

ध्वजा वज्र अरु कमल पत्र चिन्हित पदधारी
मत्त गयन्दी चालि आलि हरिजन सुखकारी
धरी अधर जव वाँसुरी मोहन रूप निधान
जड़मति हम गोपी भईं सुधि वुधि हीन अजान

स्याम विन कैसे जीओं आलि

गौ संख्या के हेत गिनत तुलसी की माला
कवहुँ कन्ध धरि भुजा तान गावत नंदलाला

क्वणित वेनु सुर सुनि सखी सवै हरिन नववाल
हम समान गृह त्यागि के अनुरोधे नंदलाल
स्याम बिन कैसे जीओं आलि

कुन्द दाम सुललाम वेष गौअन बिच भ्राजें
सखन सहित बल स्याम यमुन जल क्रीड़त रोजें
मन्द भवन बन गन्ध युत वहति मृदुल मृदु भाप
बरसावत पुष्पावली वन्दी गण तहँ आप
स्याम बिन कैसे जीओं आलि

गोवरधन कर धर्यौ हर्यौ दुख ब्रज जन ताको
वन्दत चरन सरोज वृद्ध ब्रजवासी जाको
धूलि लगी मृदुगात सूँ ललित मनोहर वेष
गौ लावत आवत सखी व्रज जन सुख निश्शेष
स्याम बिन कैसे जीओं आलि

रतनारे अति नैन मयन मद खण्डन हारी
वदत पाण्डु मृदु गण्ड कर्न कुण्डल युगधारी
ग्वाल बाल संग स्याम जब लावत गौअनु आपु
उदित निशामुख चन्दसम हरत सकल दिन तापु
स्याम बिन कैसे जीओं आलि

ऐसे श्री ब्रजराज गुण गावति नव ब्रजवाल
काल वितावति सों भई हिरदै धरि नन्दलाल
यह गाथा गोपीन की प्रेम भरी गंभीर
लीलाधर [1] आनंद भयौ पढ़त सुनत जिमिकीर [2]

श्रीकृष्ण का प्रकट होना और गोपियों को समझाना ।

जिस समय गोपियाँ इस प्रकार उच्चस्वर से गाकर विचित्र रूप से प्रलाप कर रही थीं उसी समय उनके सामने श्रीकृष्ण जी प्रकट हो गये। जैसे प्राण आ जाने पर मृत शरीर उठ खड़ा होता है वैसे ही श्रीकृष्ण को देख गोपियाँ उठ खड़ी हुईं। किसी गोपी ने श्रीकृष्ण का हाथ अपने हाथ में पकड़ लिया। किसी ने उनके चरण को अपने वक्षःस्थल से चिपटा लिया और किसी ने श्रीकृष्ण की मूर्त्ति को नेत्रों द्वारा अपने हृदय मन्दिर में पहुँचा कर अपने दोनों नेत्र बन्द कर लिये। वह गोपी श्रीकृष्ण का ध्यान कर उसी प्रकार आनन्दित हुई जैसे मुमुक्षु

१ पं० श्रीधर पाठक ने यह कविता अपने पूज्यपाद पिता पं० लीलाधर जी की प्रसन्नता के लिये बनाई थी।

२ ऐसी ही अनेक उत्तमोत्तम कविताएँ जिन्हें पढ़नी हों वे श्रीधर जी का मनोविनोद उनसे मँगा कर अवश्य पढ़ें।

जीव ईश्वर को पाकर प्रसन्न होता है। श्री कृष्ण भी उन गोपियों के साथ यमुना के तट पर विहार करने लगे। उन्होंने श्रीकृष्ण के बैठने के लिये अपने अपने दुपट्टे बिछा कर एक सुन्दर आसन बनाया। फिर जब वे उस आसन पर विराजमान हो गये तब उनके चरणों को दबाती हुई गोपियाँ उनसे कहने लगीं—

गोपियाँ—श्री कृष्ण! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो अपने भजने वालों को भजते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो अपने न भजने वालों को भी भजते हैं। ऐसे भी कुछ लोग होते हैं जो अपने भजने वालों और न भजने वाले दोनों को भजते हैं। इसका कारण आप हमें कृपा कर बतलाइये? इसके उत्तर में श्री कृष्ण ने कहा:—

श्री कृष्ण—जो अपना किसी प्रकार का काम निकालना चाहते हैं वे ही भजन की अपेक्षा करते हैं किन्तु उनका यह भजना सच्चा भजना नहीं है। प्रत्युत स्वार्थपूरित और बनावटी है। किन्तु जो न भजने वालों को भी भजते हैं उनकी संज्ञा माता पिता की भाँति दो प्रकार की है। एक दयाशील और दूसरी स्नेहशील। इसमें से दयालुओं को शुद्ध धर्म और स्नेहियों को सौहृदसुख मिलता है।

जो लोग नभजने वालों ही को नहीं भजते तब नभजने वालों की बात ही क्या रही। वे चार प्रकार के हैं। १ आत्माराम २ पूर्णकाम ३ कृतघ्न और ४ गुरुद्रोही। आत्माराम अर्थात् परम हँस, पूर्णकाम अर्थात् जिन्हें किसी प्रकार के भोग की इच्छा ही नहीं है। कृतघ्न जो किये को न माने और गुरुद्रोही वे हैं जो गुरु के साथ द्रोह करें।

गोपियो! यद्यपि मैं भजने वालों को भी नहीं भजता, तथापि इन चारों में से मैं किसी भी श्रेणी में नहीं हूँ। मैं तो परमदयालु और प्राणी मात्र का सुहृद हूँ। मैं उनको नहीं भजता इसलिये वे निरन्तर मुझे भजा करते हैं। जैसे निर्धन पुरुष धन पाकर उसे जब गँवा देता है तब उसका ध्यान सदा उसी धन की ओर लगा रहता है, वैसे ही हे गोपियो! तुमने भी मेरे सामने धर्म का ध्यान न कर सब आत्मीय जनों को छोड़ दिया है और मेरे भजन में तुम सब मग्न हो गयी हो। मैं इसी अभिप्राय से छिपा था जिससे तुम्हारा मन मुझ में अटल हो जाय। मैं छिप कर भी तुम्हारे ही पास था। इससे तुम मुझ पर कुपित मत हो।

दृढ़तर गृह की ममता को तोड़ कर, तुम मुझसे आ मिलीं। यह तुम्हारा मिलन निन्द्य नहीं है। यदि मेरी आयु देवताओं जितनी भी हो, तो भी इस तुम्हारे साधु कृत्य का बदला मैं नहीं दे सकता। मैं तुम्हारा चिरऋणी हूँ, किन्तु मुझे भरोसा है कि तुम अपनी उदारता और सुशीलता से मुझे इस ऋण से उन्मुक्त करोगी।

रास।

इस प्रकार के युक्तिपूर्ण और मधुर वाक्यों को सुन गोपियों का क्रोध दूर हो गया। तब श्रीकृष्ण ने रासनृत्य का उपक्रम रचा। गोपियाँ एक दूसरे का हाथ पकड़ मण्डलाकार खड़ी हुईं। उस मण्डल में दो दो गोपियों के बीच में योगेश्वर कृष्ण की एक एक मूर्त्ति खड़ी हुई। उस रास मण्डल में खड़ी हुई प्रत्येक गोपी यही जानती थी कि प्यारे कृष्ण मेरे ही पास हैं। इस नृत्य को देखने के लिये अपनी देवियों सहित देवता भी आकाश में आ विराजे थे। नाचते समय गोपियाँ अचेत सी हो गई थीं। वे परस्पर एक दूसरे के नाचनेगाने की प्रशंसा करती थीं और श्रीकृष्ण भी उस प्रशंसा कार्य में सम्मिलित हो जाया करते थे। वे नृत्य में इतनी मग्न हुईं कि उनके अङ्ग के आभूषण गिरने लगे, पर उन्हें अपने शरीर की कुछ भी सुध बुध न थी।

परीक्षित की शङ्का।

जब श्री शुकदेव जी के मुख से महाराज परीक्षित ने यह कथा सुनी, तब उनके

मन में अनेक प्रकार की शङ्कारूपी तरङ्गें उल्लेल करने लगीं उनके वेगको रोकने में असमर्थ हो परीक्षित ने शुकदेव जी से पूँछाः—

परीक्षित—भगवान् का अंशावतार धर्म संस्थापनार्थ और अधर्म के नाश के लिये हुआ था। कहाँ तो उन्हें धर्मप्रणाली का वक्ता-कर्त्ता और अभिरक्षक होना उचित था, कहाँ वे परदाराभिमर्पण रूप प्रतिकूल धर्म के आचरण में प्रवृत्त हुए! भगवन् श्री कृष्ण ने स्वयं आप्त काम होकर यह निन्द्य कर्म किस अभिप्राय से किया? हे ब्रह्मन! हे सुव्रत! हमारी इस शङ्का को आप दूर कीजिये।

इसके उत्तर में श्री शुकदेव जी महाराज ने महाराज परीक्षित को सम्बोधन कर कहा:—

श्री शुकदेव—महाराज! जो प्रतापशाली और ईश्वर सदृश हैं जैसे प्रजापति, इन्द्र, सोम, विश्वामित्र आदि उनके अन करने कर्म भी दूषित नहीं होते। जैसे अग्नि में पवित्र अथवा अपवित्र वस्तु के डालने से वह दूषित नहीं होता। किन्तु जो ईश्वर नहीं है वह ईश्वर जैसे आचरण का कभी भूल कर भी संकल्प न करे। यदि वह करेगा तो वह अपनी मूर्खतावश स्वयं नष्ट हो जायगा। शिव ने कालकूट विष पिया—किन्तु यदि कोई उनका अनुकरण कर कालकूट पी ले तो उसकी जो गति होगी सो सब समझ सकते हैं। ईश्वर के वचन सत्य हैं। उनके अनुसार चलना उचित है। ईश्वर के कतिपय आचरणों का भी अनुकरण किया जा सकता; है किन्तु सब का नहीं। अतः ईश्वर के उपदेशानुसार आचरण करना और उनके किसी किसी आचरण का अनुकरण करना बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है। हे राजन्! जब पूर्णकाम जीवधारी है, उन्हींको जब कार्य्याकार्य्य का विधि निषेध नहीं तब अखिल भुवनपति जगदीश्वर ही अच्छे बुरे कर्म्मों के फलाफल में क्यों कर लिप्त हो सकते हैं, अपनी इच्छानुसार शरीर धारण करने वाले पाप पुण्य में क्योंकर लिप्त हो सकते हैं, जो भगवान् गोपियों, उनके पतियों ही के नहीं किन्तु संसार भर के प्राणी मात्र के हृदय में विराजमान हैं वे बुद्धि आदि के साक्षी मानवी लीला करने के लिये पृथिवी पर अवतरे हैं उनका मनुष्य शरीर धारण करना प्राणी मात्र पर दया करना है—क्योंकि उनकी लीलाओं के सुनने से उनकी भक्ति ईश्वर में दृढ़ होती है।

यह उत्तर सुन महाराज परीक्षित चुप हो रहे।

उधर भगवान् की माया में मोहित गोपियों के पति यह न जान पाये कि उनकी स्त्रियाँ कहीं बाहिर हैं—अतः उनके मन में किसी प्रकार का विकार कृष्ण के प्रति उत्पन्न न हुआ।

जब रात ढल गयी और दिन उगने में केवल दो घड़ियाँ शेष रह गयीं, तब कृष्ण की आज्ञानुसार सब गोपियाँ अपने अपने घर चली गयीं।

सुदर्शन मोचन और शंखचूड़-वध।

एक बार देवयात्रा के अवसर पर सब गोप मिल कर बड़ी उत्कण्ठा के साथ बैलों के छकड़ों पर बैठ कर अम्बिका वन को गये। वहाँ वे लोग सरस्वती नदी में नहाये और फिर बड़ी भक्ति के साथ अनेक सामग्रियों से महादेव और अम्बिका की पूजा की। भगवान् के सुप्रसन्नार्थ उन्होंने ब्राह्मणों को गौवें, वस्त्रालङ्कार तथा अनेक प्रकार के सुस्वादु अन्न दिये। तीर्थ में पहुँच कर प्रथम दिन उपवास करना आवश्यक है, अतः नन्द सुनन्द गोप आदि भी केवल जलपान करके उस रात को सरस्वती नदी के तट पर सो रहे। रात को एक भूखा अजगर घूमता फिरता वहाँ पहुँचा और सोते हुए नन्द का पैर निगल गया तब भयभीत हो नन्द ने पुकार कर कहा— "हे कृष्ण बेटा! यह अजगर मुझे निगले जाता है, मुझे इस सङ्कट से बचाओ।"

इस प्रकार नन्द का चिल्लाना सुन गोप-

मण्डली उठ बैठी और देखा कि अजगर द्वारा नन्द ग्रस लिये गये हैं। यह देख वे जलती हुई लकड़ियों से अजगर को दागने लगे, जिससे वह नन्द को छोड़ दे। पर उस अजगर ने नन्द को न छोड़ा। तब श्री कृष्ण ने उस अजगर को पैर से छू दिया। छूते ही उस अजगर के सारे पाप नष्ट हो गये और वह तुरन्त ही अजगर की योनि से छूट कर परम सुन्दर एक विद्याधर हो गया। उसने नम्रता पूर्वक श्रीकृष्णचन्द्र को प्रणाम किया और श्री कृष्ण द्वारा पूर्व वृत्तान्त पूँछे जाने पर उसने कहाः—

विद्याधर—नाथ! मैं विद्याधर हूँ और मेरा नाम सुदर्शन है। मेरा जैसा रूपरङ्ग सब से चढ़ बढ़ कर था उसी प्रकार मेरी सम्पत्ति भी अमित थी। मैं विमान पर चढ़ इधर उधर घूमा करता था। एक दिन मेरी दृष्टि अङ्गिरा के वंशधर उन मुनियों पर पड़ी जो अपनी कुरूपता के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्हें देख मुझसे हंसी न रोकी गयी और मैं हँस पड़ा। बस इसी अपराध के लिये उन मुनियों के शाप से मुझे यह सर्पयोनि मिली है।

किन्तु अब मैं समझता हूँ कि उन ऋषियों का शाप मेरे पक्ष में अनुग्रह है। यदि वे शाप न देते तो अनायास आज आपके चरणस्पर्श का पुण्य मुझे क्यों कर प्राप्त होता? अब आज्ञा दीजिये मैं निज लोक को जाऊँ।

इस प्रकार सुदर्शन विद्याधर ने श्रीकृष्ण की स्तुति की और उन्हें प्रणाम कर एवं उनकी परिक्रमा कर, एवं उनकी आज्ञानुसार वह अपने लोक को गया। साथ ही नन्द भी मरते मरते बच गये। इस घटना को देख गोपों को बड़ा विस्मय हुआ। वहाँ का कृत्य नियम पूर्वक निवटा और श्री कृष्ण की इस अद्भुत लीला का गुण गान करते, वे व्रज में लौट आये।

एक दिन श्री कृष्ण और बलराम गोपियों सहित वन में विहार कर रहे थे। दोनों भाई गोपियों के साथ मिल कर रास कर रहे थे और दोनों भाई मिल कर तान गा रहे थे। इतने में कुबेर का एक अनुचर जिसका नाम शङ्खचूड़ था वहाँ जा निकला और गोपियों को उठा श्री कृष्ण बलदेव के सामने ही से उत्तर को ओर भाग चला। जैसे गौवें बाघ को देख डकराँय वैसे ही गोपियाँ भी "हा कृष्ण, हा बलदेव!" कह कर चीत्कार करने लगीं।

यह देख दोनों भाइयों ने उन्हें धीरज बँधाया और एक एक शालवृक्ष उखाड़ वे उस यक्ष को पकड़ने के लिये लपके। कुछ ही दूर पर जाकर वे यक्ष के निकट जा पहुँचे। तब तो वह बहुत घबड़ाया और गोपियों को वहीं छोड़ वह प्राण ले भागा। पर श्रीकृष्ण उसका पीछा क्यों छोड़ने लगे क्योंकि अब उसे उसके इस कुकृत्य का दण्डमात्र ही नहीं देना था, पर श्रीकृष्ण की दृष्टि अब उसके सिर में छिपे हुए चूड़ामणि पर पड़ गयी थी। वे उसे लेना चाहते थे। बलदेवजी तो गोपियों की रक्षा के लिये वहाँ के वहीं खड़े हो रहे, पर श्रीकृष्ण उसके पीछे लग गये। थोड़ी ही दूर जाते जाते वह श्रीकृष्ण द्वारा पकड़ा गया और एक ही मूके की चोट से उसका सिर फट गया और प्राण निकल गये। तब भगवान् ने उसके सिर से वह चूड़ामणि निकाल लिया। इस प्रकार शङ्खचूड़ को मार और मणि ले श्रीकृष्ण लौटे और आकर प्रसन्नता पूर्वक गोपियों के सामने ही वह मणि बलदेवजी को अर्पण किया।

गोपियों द्वारा श्री कृष्ण का गुणगान।

गोपियों की रात तो इस प्रकार श्री कृष्ण के साथ कट जाती थी, परन्तु दिन नहीं कटता था, क्योंकि दिन में श्री कृष्ण गौवें चराने वन में जाया करते थे, अतः दिन में गोपी विकल हो परस्पर कृष्ण की लीलाओं का वर्णन कर किसी न किसी प्रकार दिन व्यतीत किया करती थीं।

अरिष्ट वध और व्रज में कंस की प्रेरणा से अक्रूर का आगमन।

एक दिन अरिष्ट नाम का एक असुर बैल का रूप धर और अपने खुरों से पृथिवी को खोदता और धूल उड़ाता व्रज में पहुँचा। उसका कूबड़ (ककुद) और शरीर बहुत लम्बा और ऊँचा था। वह बारम्बार पृथिवी को खोदता, सींगों से दीवारें ढहाता और ज़ोर से डकराता एवं बीच बीच में गोबर करता था। उसके डकराने को सुन व्रज की गौवें और गोपियाँ बहुत डरीं। यहाँ तक कि मारे डर के उनके गर्भ गिर पड़े और बह गये। सब पशु मारे डर के व्रज छोड़ इधर उधर भाग खड़े हुए। हे कृष्ण! इस वृषभासुर से हमारी रक्षा करो कहते हुए गोकुलवासी श्री कृष्ण के शरणागत हुए। यह सुन और सब को भयभीत देख श्री कृष्ण ने कहा—डरो मत। फिर वृषभासुर को फटकारते हुए कहा—"अरे डरपोंक, रे दुष्ट! इन बेचारे गोपों और पशुओं को क्यों वृथा डरा रहा है। तुझ जैसे दुष्टों का बल दर्प दूर करने वाला मैं खड़ा तो हूँ।" यह कह कर दीनों के दुःख हरने वाले श्रीकृष्ण ने ताल ठोंक कर हाथ आगे लपकाये। यह देख असुर बहुत क्रुद्ध हुआ और पृथिवी को खुरों से खोदता, श्री कृष्ण की ओर बढ़ा। किन्तु जैसे कोई हाथी दूसरे हाथी को लड़ते समय पीछे हटा दे, वैसे ही श्रीकृष्ण ने उस असुर को सींग पकड़ कर अठारह पग पीछे हटा दिया, किन्तु वह शीघ्र ही फिर सम्हल गया। यद्यपि एक ही बार की टक्कर में उसके शरीर से पसीना टपकने लगा था, तथापि वह ज़ोर से फुफकारता और क्रोध में भरा फिर श्रीकृष्ण पर झपटा। तब श्रीकृष्ण ने उसके दोनों सींग तो दोनों हाथों से पकड़े और पैर की चपरास उसकी टाङ्गों में मार, उसे धड़ाम से पृथिवी पर पटक दिया। तदनन्तर जैसे भींगा वस्त्र मरोड़ कर निचोड़ा जाता है, वैसे ही उसके शरीर को मरोड़ कर उसके दोनों सींग उखाड़ लिये और उन्हीं सींगों के आघात से उसे मार डाला। मरने के पहले अरिष्ट के मुख से रुधिर बहा, मलमूत्र भी निकल पड़ा था और आँखों की पुतलियाँ घूम गयी थीं उसने पैर पटक पटक कर, बड़े कष्ट से प्राण त्याग किये थे।

इस प्रकार अरिष्ट को मार और गोप गोपियों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनते हुए श्रीकृष्ण बलदेवजी के साथ व्रज में गये।

उधर एक दिन भगवान् की इच्छा जान नारदजी कंस के पास गये और उनसे बोलेः—

नारद—देवकी के आठवें गर्भ से कन्या नहीं हुई किन्तु वह कन्या यशोदा की थी। कृष्ण और बलभद्र दोनों देवकी और रोहिणी के पुत्र हैं। वसुदेव ने तुम्हारे भय से अपने मित्र नन्द के यहाँ धरोहर की तरह उन्हें रख छोड़ा है। उन्हीं दोनों के द्वारा तुम्हारे सब अनुचर मारे गये हैं।

यह सुनते ही मारे क्रोध के कंस का सारा शरीर थर थर काँपने लगा और वसुदेव को मारने के लिये उसने एक बड़ी पैनी तलवार उठायी। तब नारदजी ने उसे समझाया और उनके समझाने से वह मान भी गया। नारद ने कंस को समझाया कि वसुदेव द्वारा उसकी कुछ भी हानि नहीं हो सकती, किन्तु वसुदेव के दोनों पुत्र ही उसके काल हैं। इस पर कंस ने वसुदेव को मारा तो नहीं, किन्तु देवकी सहित उन्हें हथकड़ी बेड़ी पहना कारागार में बन्द करवा दिया।

नारद के चले जाने पर कंस ने केशी नामक असुर को बुला कर आज्ञा दी कि व्रज में जा कर बलभद्र और कृष्ण को मार आओ।

इतने ही से कंस अपने काल की ओर से निश्चिन्त नहीं हुआ। किन्तु उसने मुष्टिक, चाणूर,

शल, तोशल आदि पहलवानों को, महावतों को तथा अपने अन्य सचिवों को बुलाया और उनसे कहाः—

कंस—हे वीरों! नन्द के व्रज में वसुदेव के दो पुत्र कृष्ण और बलदेव रहते हैं। नारदजी कह गये हैं कि वे दोनों ही मेरे काल हैं। मैं उन्हें यहाँ बुलाऊँगा तुम्हें उचित है कि किसी न किसी दाँव पेंच से उन्हें मार डालो। तुम इस बीच में बढ़िया और देखने योग्य अखाड़े और रङ्गमञ्च तैयार करो और उनको भली-भाँति सजाओ। जिससे उन मञ्चों पर पैठ कर दर्शक मल्लयुद्ध देखें।

महावत! तुम उस दिन यह काम करना कि रङ्गशाला के द्वार पर कुवलयापीड़ हाथी की गरदन पर रहना और जब वे दोनों मेरे शत्रु आवें; तब उन पर हाथी दौड़ा कर दोनों को मरवा डालना। देखना वे बच कर न जाने पावें।

मन्त्रियों! ऐसा प्रबन्ध करो कि चतुर्दशी को यथाविधि धनुषयज्ञ आरम्भ हो और वर-दाता भूतनाथ महादेव के पूजन में अगणित पशुओं की बलि दी जाय।

स्वार्थसाधन में विलक्षण पटु कंस ने इधर तो अपने अनुचरों को इस प्रकार समझा कर तैयार किया और उधर अक्रूर को बुला कर उनसे बोलाः—

कंस—हे अक्रूर जी! यह कहने की आव-श्यकता नहीं है कि आप मेरे परम मित्र हैं। यही कारण है कि यादव मात्र में तुमसे बढ़ कर मेरे मन में दूसरा कोई आदरपात्र और हितू नहीं है। अतएव आज तुमको मेरा एक काम करना होगा। जिस प्रकार विष्णु की सहायता से इन्द्र के सब काम पूरे होते हैं, वैसे ही मुझे भरोसा है कि आपकी सहायता से मेरा काम पूरा होगा।

मित्र! आप नन्द के व्रज में जाइये। वहाँ वसुदेव के दो पुत्र रहते हैं। उन्हें बहुत शीघ्र रथ पर बिठा कर ले आइये। देखिये इस काम में विलम्ब न होवे। विष्णु के आश्रित देवताओं की यह करतूत है। उन्होंने मेरे वध के लिये इन दो बालकों को बनाया है। नन्द आदि गोपों को भी अनेक प्रकार की भेंटें लेकर लिवा लाना।

यह कह कर कंस ने जिस प्रकार कुवलया पीड़ चाणूर आदिकों की दोनों भाइयों के मारने की योजना की थी वह सब अक्रूर से कही। फिर उसने अक्रूर जी से यह भी कहाः—

कंस—कृष्ण और बलदेव के मारे जाने पर शोकाकुल वसुदेव आदि और उनके आत्मियों तथा अन्यान्य भोज, वृष्णि तथा दशार्ह वंशीय उनके मित्रों का मारना कोई कठिन बात नहीं है।

मेरा बूढ़ा पिता उग्रसेन जिसे इस बुढ़ौती में भी राज्य करने की साध है उसे भी बिना मारे काम न चलेगा। फिर रहा मेरा चाचा देवक तथा अन्यान्य शत्रु उनको भी मैं न छोड़ूँगा।

मित्र! जब मैं सब शत्रुओं को समाप्त कर लूँगा; तब यह राज्य निष्कण्टक होगा। अतः आप धनुषयज्ञ और मथुरापुरी की शोभा निर-खने के मिस उन दोनों बालकों को जाकर शीघ्र यहाँ ले आइये।

यद्यपि अक्रूरजी वसुदेव आदि के सुहृद् थे, तथापि बली कंस के कहने को न टाल सके और कंस की सारी बातें सुन उससे बोलेः—

अक्रूर—राजन्! आपने स्वकार्य सिद्धि के लिये जो उपाय विचारा है वह बहुत ठीक है। मनुष्य का कर्त्तव्य है वह अपना अमङ्गल मिटाने का यत्न करे। किन्तु उस यत्न का सफल होना न होना दैवाधीन है। अपने हाथ की बात नहीं है। ऐसा देखा जाता है कि दैव के प्रतिकूल होने पर मनुष्यों की उच्च अभिलाषायें यद्यपि पूर्ण नहीं होने पातीं तथापि वे उन अभिलाषाओं को अपने हृदय में स्थान देकर, सुखी भी होते

हैं और दुखी भी। पर जो हो मैं आपकी आज्ञानुसार काम करने को प्रस्तुत हूँ।

इस प्रकार अक्रूर को अपने में मिला और मन्त्रियों को विदा कर, कंस अन्तःपुर में चला गया। उधर अक्रूर जी भी उठ कर निज भवन को सिधारे।

केशी और व्योमासुर का वध।

कंस की आज्ञानुसार केशी असुर घोड़े का रूप धर नन्द-व्रज में पहुँचा। जहाँ वह अपने सुम रखता वहाँ की पृथिवी खुद जाती थी। श्री कृष्ण ने देखा कि केशी अपनी हिनहिनाहट से गोकुल को भयाकुल करता युद्धार्थ मुझे ढूँढ़ रहा है। यह जान तत्क्षण श्री कृष्ण ने उसके सम्मुख जाकर, लड़ने के लिये उसे ललकारा। श्री कृष्ण को सामने देख केशी उच्चस्वर से हिनहिनाया। फिर मुँह फाड़ बड़े वेग से वह श्री कृष्ण पर झपटा और उनके ऊपर दुलत्ती चलायी। किन्तु श्री कृष्ण उसकी दुलत्ती को बचा गये पर उसने उसी प्रकार फिर दुलत्ती चलायी। तब तो श्री कृष्ण ने लीला पूर्वक उसके दोनों पैर पकड़, गुफना की तरह उसे देर लों घुमाया और जैसे गरुड़ सर्प को झटकता है, वैसे ही उसे झटक वहाँ से चार सौ हाथ के अन्तर पर फेंक दिया।

चेत होने पर वह दैत्य फिर मुख खोल कर बड़े क्रोध पूर्वक श्री कृष्ण की ओर लपका। श्री कृष्ण ने मुसक्या कर अपना हाथ उसके मुख में घुसेड़ दिया। हाथ के स्पर्श ही से केशी के सब दाँत टूट गये। तदनन्तर श्री कृष्ण का बाहु भी उसके पेट तक पहुँच उपेक्षित रोग की तरह धीरे धीरे बढ़ने लगा। फल यह हुआ कि केशी की साँस रुकी और घबड़ा कर वह पृथिवी पर गिर पड़ा। वह पड़ा पड़ा पैर पटकने लगा और उसकी आँखें निकल पड़ीं। सारा शरीर पसीने से लस्तपस्त हो गया और मलपात के साथ ही उसके प्राण भी निकल गये। जैसे पकी हुई फूट खिल जाती है, वैसे ही उसका शरीर भी खिल गया। तब श्रीकृष्ण ने उसके शरीर से अपना हाथ खींच लिया। यद्यपि सारी सृष्टि के आदि कारण श्री कृष्ण भगवान् को इस असुर के मारने में रत्ती भर भी प्रयास न करना पड़ा, तथापि देवताओं को केशीवध को देख बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने प्रसन्न हो भगवान् के ऊपर पुष्पों की वर्षा की।

इतने में एकान्त देख श्रीनारद जी श्री कृष्ण जी से मिले और बोले:--

नारद—हे कृष्ण! जिसके डर के मारे देवताओं से स्वर्ग का रहना छूट गया था उस केशी असुर को आपने खेलते खेलते मार डाला मुझे भरोसा है कि मैं परसों आपके द्वारा चाणूर मुष्टिक आदि असुरों का वध भी देख सकूँगा।

यह कह कर नारदजी ने श्रीकृष्णचन्द्र जो लीलाएँ करने वाले थे उनको पहले ही कह दिया। तदनन्तर प्रणाम कर और श्री कृष्ण से विदा हो नारद जी चले गये।

एक दिन सब गोप बालक पर्वत शिखरों पर पशुओं को चराते और एक खेल खेल रहे थे। उस खेल में कुछ गोप तो चरवाहे बने और कुछ भेड़ और गौवें बने तथा कुछ उनमें से चोर बने। जो चोर बने थे वे निर्भय हो भेड़ आदि पशु बने हुए गोपों को ले जाते थे। व्योमासुर गोपरूप धर कर बालकों में मिल गया और पशु बने हुए बहुत से बालकों को उठा ले जाता और उन्हें पर्वत की एक गुफा में डाल आता था। फिर शिला से उस गुफा का द्वार बन्द कर आता था। अन्त में केवल पाँच ही गोप कुमार रह गये। यह बात श्रीकृष्ण ने झट जान ली और ज्योंही वह बालक लेकर चलने को हुआ त्योंही श्री कृष्ण ने झपट कर उसे दबा लिया। तब इस असुर ने अपने को श्री कृष्ण से छुड़ाना चाहा, पर छुट न सका। अच्युत ने दोनों हाथों से पकड़ कर पृथिवी पर उसे पटक दिया और

मारते मारते उसके प्राण ले लिये। उसे मार श्रीकृष्ण ने शिला हटा कर गोप बालकों को गुफा से निकाला। तदनन्तर गोप बालकों के और देवताओं के मुख से अपनी प्रशंसा सुनते हुए वे ब्रज को गये।

अक्रूर का ब्रजगमन

जिस दिन कंस और अक्रूर जी में ब्रज जाकर श्रीकृष्ण को मथुरा लाने के सम्बन्ध में बातचीत हुई थी उस दिन तो नहीं, किन्तु अगले दिन सवेरा होते ही अक्रूर जी रथ में बैठ ब्रज को गये। मार्ग में अक्रूर जी इस कारण बड़े प्रसन्न थे कि उन्हें भगवान् के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। मार्ग भर अक्रूर जी भगवतदर्शन सम्बन्धी अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प करते हुए गोकुल के निकट पहुँचे। उस समय सन्ध्या हो रही थी। मार्ग में श्रीकृष्ण के ध्वज, वज्र, चिन्हित पदचिन्हों को देख मारे प्रेम के धूल में लोटने लगे। उनके नेत्रों से मारे प्रेम के वे अश्रु धारा प्रवाहित हुई, शरीर के रोम खड़े हो गये। इस प्रकार आगे बढ़ कर अक्रूर जी नन्द के खरिक[1] में पहुंचे। वहाँ उन्होंने देखा कि पीताम्बर धारण किये श्रीकृष्ण और बलराम वहाँ विराजमान हैं। उनके नेत्र शरत्काल के कमल के समान शोभा दे रहे हैं। उनकी किशोर अवस्था है. श्याम और श्वेतवर्ण हैं। बड़ी बड़ी विशाल भुजाएँ हैं। हरि के दर्शन करते ही अक्रूर जी झट रथ से उतर पड़े। भक्ति भाव से विह्वल अक्रूर ने चरणों में गिर कर श्रीकृष्ण को प्रणाम किया। प्रेमानन्दाश्रु उनके नेत्रों में भर आये। थोड़ी देर तक तो उन से अपना परिचय भी न देते बना। पर घट घट वासी श्रीकृष्ण को परिचय देने की आवश्यकता ही क्या थी। वे झट सब बात जान गये और अक्रूर को उठा कर गले से लगा लिया। तदन्तर नम्रता पूर्वक हाथ जोड़े खड़े अक्रूर को महामनस्वी बलदेव जी हाथ पकड़ कर श्रीकृष्ण सहित घर लिवा ले गये। घर पहुँचकर अक्रूर जी का यथाविधि आतिथ्य किया गया और सर्वगुणसम्पन्न एक गौ उनको दी गयी। तदनन्तर अक्रूर जी ने कुछ काल तक विश्राम किया। जिस समय अक्रूर जी विश्राम करते थे, उस समय श्रीकृष्ण उन पर पङ्खा डुलाते थे। विश्राम कर चुकने पर अक्रूर जी को बलदेव जी ने अच्छे और स्वादिष्ट भोजन कराये। भोजनोपरान्त पान, इलायची, चन्दन, पुष्प माला से उनका सत्कार किया।

जब अक्रूर जी का यथोचित सत्कार हो चुका तब नन्द जी ने उनसे कुशल प्रश्न करते हुए कहाः—

नन्दजी—अक्रूरजी! कसाई के घर पली हुई भेड़ों की तरह निर्दयी कंस के पास रहने से तुम लोगों को तो प्रत्येक क्षण अपने प्राणों के लाले पड़े रहते होंगे। तुम अपना हाल तो कहो। जिसने विलाप करती अपनी बहिन के पुत्रों ही को मार डाला उसकी प्रजा की कुशल पूँछना तो अनावश्यक है।

अक्रूर जी सुख पूर्वक पर्यङ्क पर बैठे। इधर श्रीकृष्ण भी व्यालू कर अक्रूर के पास जा बैठे और उनसे पूँछाः—

श्रीकृष्ण—हे तात! तुम भले आये। आपके घर पर तो सब कुशल मङ्गल से हैं। अथवा रोग के समान यदु कुल को पीड़ित करने वाला हमारा मामा कंस जब मथुरा का राजा है, तब तुम्हारे परिवार और प्रजा की कुशल कहाँ! हा! मेरे ही कारण मेरे माता पिता कष्ट भोग रहे हैं। हे सौम्य! आज बड़े सौभाग्य का दिन है कि जो स्वजन के दर्शन मिले। मैं भी यही चाहता था। हे तात! अब आप अपने आने का कारण तो बतलाइये।

अक्रूर—कंस इस समय यादवों का कट्टर शत्रु बना हुआ है। कुछ दिन हुए वसुदेव को वह मारे ही डालता था। क्योंकि नारद जी ने उससे जा कर कहा था कि आप वसुदेव के पुत्र हैं।

[1] खरिक वह स्थान है जहां गौवें दुही जाती हैं।

यह कह कर अक्रूर जी ने श्रीकृष्ण से कंस का सन्देसा तथा भीतरी बातें सब कहीं। श्रीकृष्ण कंस की दुरभिसन्धि और संदेसा सुन हँसे और कंस का संदेसा नन्द जी से कह दिया।

मथुरागमन।

कंस का सन्देसा सुन नन्दजी ने सब गोपों को उसकी सूचना दी और कहला दिया कि सब गोरस और नाना प्रकार की भेंटें लेकर अपने अपने छकड़े सजाओ। क्योंकि बड़े प्रातः काल कंस के धनुर्यज्ञरूपी पर्व में उसे भेंट देने के लिये चलना पड़ेगा।" इस सूचना को पाकर गोपियाँ बहुत ही व्यथित हुईं। वे कहने लगीं:—

गोपियाँ—अहो विधाता! तू बड़ा ही निष्ठुर है। तू पहले तो प्राणियों को प्रेम की डोरी में बाँध लेता है और फिर उनकी इच्छा पूरी भी नहीं होने पाती और तू बिछोह करा देता है। तेरे भी सब काम बालकों की तरह मूर्खता से युक्त हैं। तू ही अक्रूर बन कर हमारे प्यारे श्रीकृष्ण को हरने के लिये आया है। उन के बिना हम किस प्रकार जी सकती हैं। अतः जैसे हो वैसे उन्हें रोकना ही उचित है।

इस प्रकार गोपियाँ रात भर विलाप करती रहीं। सवेरा होते ही अक्रूर जी सन्ध्या वन्दन कर और रथ पर कृष्ण बलदेव को बिठा और स्वयं उस पर बैठ मथुरा को चल दिये। नन्द आदि गोप भी अनेक गोरस भरे भाण्ड छकड़ों पर रख मथुरा चल दिये। गोकुल से चलते समय श्रीकृष्ण ने प्रेम भरे वाक्यों से धीरज बँधाया। पर उनको बहुत दुःखी देख श्रीकृष्ण ने उनसे कहा:—"मैं बहुत शीघ्र लौट आऊँगा।" यह सुन गोपियों का चित्त बहुत कुछ शान्त हुआ। पर जब तक श्रीकृष्ण के रथ की ध्वजा दीखती रही तब तक वे सब इकटक उस ओर निहारती रहीं। पर जब रथ न लौटा तब हताश हो अपने घर लौट गयीं और श्रीकृष्ण की लीलाओं को गा कर अपने मन को शान्त करने लगीं।

उधर श्रीकृष्ण जिस रथ[1] में बैठे थे वह बड़ी फुर्ती से चल कर यमुना के तट पर पहुँचा। रथ से उतर दोनों भाइयों ने यमुना में स्नान किये और फिर वे दोनों वृक्षों की छाया में खड़े रथ पर जा बैठे। तदनन्तर अक्रूर जी स्नान करने गये। अक्रूर जी जल में घुस कर गायत्री का जप करने लगे। जप करते करते उन्होंने देखा कि दोनों भाई वहीं अवस्थित हैं। तब तो अक्रूर को बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि वे तो उन दोनों को रथपर छोड़ आये थे। उन्होंने विचारा कि सम्भव है कौतूहल वश दोनों भाई फिर आ गये हों अतः उन्होंने रथ की ओर देखा तो वहाँ भी उन दोनों भाइयों को पाया। तब फिर अक्रूर जी ने जल के भीतर डुबकी मारी। इस बार भी दोनों भाई जल के भीतर दीख पड़े। किन्तु इस बार अक्रूर जी ने जो कुछ देखा वह था अद्भुत। उन्होंने देखा जल के भीतर अनन्त देव विराज रहे हैं। सिद्ध, सर्प, तथा असुर सिर नवाये उनका स्तव कर रहे हैं। अनन्तदेव के सहस्र सीस हैं। सहस्र फणों पर सहस्र मुकुट और कमल नाल के समान श्वेत बदन पर नीलाम्बर शोभा दे रहा है। सहस्र शिखर युक्त कैलास के समान अनन्त देव का विशाल शरीर है। उन्हीं शेष जी की गोद में पीताम्बर धारी नवघन सदृश श्याम वर्ण शरीर वाले चतुर्भुजी नारायण की शान्तमयी मूर्त्ति विराजमान है। उनके शरीर की गठन और सजावट का कहना ही क्या है। निर्मल मन वाले सुनन्द सनक आदि महर्षि ब्रह्मा रुद्र आदि देवादिदेव, प्रह्लाद नारद आदि महश्रेष्ठ भिन्न भिन्न वाक्यों से नारायण का स्तव कर रहे हैं। श्री, पुष्टि, वाणी

---

[1] "रथेन वायु वेगेन जगाम गोकुलं प्रति।" यह पाठ देख अनेक लोगों को भ्रम होता है [illegible] अर्थात् जिस प्रकार वायु चलता है उसी प्रका[illegible] रथ गोकुल की ओर गया। पर इसका [illegible] अक्रूर जी वायुवेग नामक रथ के द्वा[illegible] ओर गये। प्राचीन समय में रथों और [illegible] नाम हुआ करते थे।

शक्ति, माया सेवा में निरत हैं। यह देख अक्रूर का शरीर पुलकित हुआ और प्रेम विह्वल होने के कारण नेत्रों में अश्रुजल भर गया। तब अक्रूर जी ने अपने को सम्हाल कर श्री कृष्ण जी की यों स्तुति करनी आरम्भ की।

अक्रूर जी—हे कृष्ण! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप बालक नहीं हैं, किन्तु आदि पुरुष हैं। जल थल, स्थावर जङ्गम, सभी तो आपके अङ्ग से उत्पन्न हुए हैं। आपही विष्णु हैं, आप ही शिव हैं। सम्प्रदाय भेद से सब आप ही का आराधन करते हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न पर्वतों से निकली नदियाँ वर्षा का जल समुद्र में ले जाकर डालती हैं, और समुद्र ही उन सब का केन्द्र है, वैसे ही आपही सब मतों के केन्द्र हैं। हे भगवन्! मैं आपकी शरण में आया हूँ। हे अन्तर्यामी! आपके चरण कमल असज्जन लोगों को परम दुर्लभ है। तिस पर मुझ जैसे अधम को आपके चरणों का मिलना आपही की कृपा का फल है। हे पद्मनाभ! जब जीव का भव बन्धन छूटने को होता है, तब उसकी रुचि साधु सेवा में होती है और साधु सेवा करने से उसकी बुद्धि आपकी ओर जाती है। आप बुद्धि और मन के अधिष्ठाता हैं। अतः हे प्रभो! शरण में आये हुए मेरी रक्षा करो।

श्री कृष्ण का मथुरा में पदार्पण।

श्रीकृष्ण अक्रूर जी को अपने अद्भुत रूप का दर्शन दे फिर अन्तर्द्धान हो गये। अक्रूर जी भी जल के बाहिर निकले। फिर शीघ्रता पूर्वक सन्ध्या वन्दनादि आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हो रथ पर गये। अक्रूर जल के भीतर अद्भुत दृश्य देख, बड़े विस्मित हुए थे। भगवान् श्री कृष्ण ने उनसे पूँछा थाः—

हृषीकेश—हमें तुम्हारे मुख पर विस्मय के चिन्ह दीख पड़ते हैं, इससे जान पड़ता है कि तुमने पृथ्वी, आकाश अथवा जल में कोई अद्भुत दृश्य देखा है।

अक्रूर—भगवन्! पृथ्वी, आकाश और जल में जो कुछ अद्भुत है सो सब आपमें विराजमान है। क्योंकि आपही तो विश्वरूप हैं अतः जब आपही के मुझे दर्शन हो गये तब वह कौन सी अनोखी अद्भुत वस्तु रह गयी जो मैंने नहीं देखी।

यह कह अक्रूर ने वहाँ से रथ हाँका और सन्ध्या होते होते वे मथुरा के समीप पहुँचे। मार्ग में जिस जिस गाँव में होकर कृष्ण वलदेव का रथ निकलता, उस उस गाँव के लोग टक-टक उनकी ओर देखते ही रह जाते थे। नन्द आदि ब्रजवासी पहले ही मथुरा में पहुँच चुके थे। नगर के उपवन में डेरा डाल वे कृष्ण वल-देव के पहुँचने की वाट जोह रहे थे। इतने में कृष्ण वलदेवजी भी वहाँ जा पहुँचे। रथ से उतर और बड़े प्रेम से अक्रूर जी का हाथ में हाथ ले वे बोलेः—

श्री कृष्ण—आप तो रथ सहित सीधे अपने घर चलिये हम कुछ देर बाद मथुरा की शोभा देखने आते हैं।

अक्रूर—प्रभो! आपको यहाँ छोड़ मुझसे अकेले पुरी में न जाया जायगा। हे नाथ! मैं आपका भक्त हूँ। आप मुझे अकेला न छोड़िये। अपने चरणों की रज से इस दास का घर पवित्र कीजिये।

श्री कृष्ण—चाचा! मैं बलराम सहित अवश्य आपके घर पर आऊँगा और यदुवंश के वैरी कंस को मार सुहृदों को प्रसन्न करूँगा।

यह सुन अक्रूर जी वहाँ से उदास हो कंस के पास गये और श्री कृष्ण एवं वलराम के आगमन की सूचना दी। फिर वे अपने घर गये। उधर गोपों तथा बलराम को साथ ले श्री कृष्ण नगर देखने गये। कंस की राजधानी मथुरापुरी की शोभा अपूर्व थी। दोनों भाइयों को गोपों सहित राजमार्ग पर जाते देख उन्हें देखने की लालसा से पुरनारियाँ अपने अपने कोठों पर चढ़गयीं। श्री कृष्ण का मथुरा आगमन सुन उस समय जो स्त्री जिस काम में लगी थी वह उसे अधूरा छोड़ श्री कृष्ण के दर्शन करने

लगीं। दर्शन कर वह बहुत प्रसन्न हुई और आपस में कहने लगीं—"धन्य भाग्य है गोपियों के अवश्य ही उनकी पूर्वजन्म की बड़ी तपस्या है जिससे वे हर घड़ी भगवान् के दर्शन किया करती हैं।"

अस्तु जिधर से श्री कृष्ण जा रहे थे, उधर ही से एक धोबी आ रहा था यह धोबी कपड़े धोता भी था और उन्हें रँगता भी था। उसे देख श्री कृष्ण ने उससे कहाः—

श्री कृष्ण—अरे रजक! हमें ऐसे वस्त्र दे जो हमारे शरीर पर ठीक बने। निसन्देह हमें वस्त्र देने से तेरा कल्याण होगा।

यह धोबी साधारण धोबी न था। यह राजकीय धोबी था और राजा कंस के कपड़े धोया करता था। अतः उसे कम अभिमान न था। वह अपने घमण्ड में चूर हो बोलाः—

धोबी—अरे वन पहाड़ों में रहने वाले तुम गँवारों को तो मँगनी ही के कपड़े पहनने को मिला करते हैं। अब तुम्हें इतना अभिमान बढ़ा कि राजा कंस के कपड़े तुम पहनना चाहते हो अरे मूर्खो! यदि प्राणों की तुम्हें ममता हो तो शीघ्र भाग जाओ। जानते नहीं कि ऐसे लोगों की राजकर्मचारियों के हाथ से क्या दशा होती है। वे लोग ऐसे मूर्खों को पीटते हैं, बाँधते हैं और पागलों की तरह उनका सर्वस्व छीन लेते हैं।

उस नीच के छोटे मुँह से इतनी बड़ी बड़ी बातें सुन श्री कृष्ण को कुछ कुछ क्रोध आया और उन्होंने उसके गाल पर इतनी ज़ोर से तमाचा मारा कि उसका सिर ही टूट कर धड़ से अलग हो गया। धोबी को मरा देख उसके साथी अनुचर मारे डर के प्राण ले और रेशमी वस्त्रों की गठरियाँ वहीं छोड़ भागे। तब श्री कृष्ण और उनके साथियों ने उन गठरियों को खोल मनमाने वस्त्र पहने और जो बचे उन्हें वहीं छोड़ वे सब आगे बढ़े। आगे चले तो उन्हें एक दर्ज़ी मिला। वह दोनों भाइयों के अनूप रूप को देख बहुत प्रसन्न हुआ। प्रसन्न हो उसने उन कपड़ों की कसर निकाल दी और उन्हें ठीक कर दिया। उस पर प्रसन्न हो श्री कृष्ण ने उसे वे दुर्लभ पदार्थ दिये, जिनका मिलना ऐसे साधारण मनुष्य को सर्वदा दुर्लभ है। वहाँ से चल कर दोनों भाई अपने मित्र सुदामा माली के घर पहुँचे। वह दोनों भाइयों को सामने देख उठ खड़ा हुआ और श्रद्धा पूर्वक उनका आतिथ्य किया। तदनन्तर उसने कहाः—

सुदामा माली—प्रभो! आज आपके श्री चरण के आने से मेरा जन्म लेना सफल हुआ। पितृदेव और ऋषि सन्तुष्ट हुए। मैं उनके ऋण से उन्मुक्त हुआ। आप तो जगत के आदि कारण परब्रह्म हैं। संसार की भलाई के लिये ही आप दो रूप में इस धर.तल पर अवतीर्ण हुए हैं। आप समदर्शी हैं, आप जगत भर के आत्मा और हितैषी हैं। मैं आपका दासानुदास हूँ। आज्ञा कीजिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ? जिसे आपकी आज्ञापालन करने का सुअवसर प्राप्त होता है, उस पर आपकी परम कृपा समझनी चाहिये।

इस पर सुदामा ने उन दोनों भाइयों को आज्ञानुसार सुन्दर फूलों की मालाएँ पहनायीं। उन सुन्दर मालाओं से गोपों सहित श्री कृष्ण बलदेव सुसज्जित हुए। उस प्रणत, प्रपन्न और प्रसन्न चित्त सुदामा को उसकी इच्छानुसार वर देना चाहा। तब उस माली ने यही वर माँगा कि आपमें मेरी अटल भक्ति बनी रहे, आपके मित्रों से मैत्री रहे और प्राणी मात्र के लिये मेरे मन में दया हो।

श्री कृष्ण ने माली का माँगा वर तो उसे दिया ही, किन्तु कुछ वर अपनी ओर से भी अनमाँगे ही उसे दिये। बल, दीर्घ, आयु, वंश वृद्धि कारक लक्ष्मी, यश और कान्ति आदि

सब दुर्लभ पदार्थ सुदामा को अनमाँगे ही मिले।

कुब्जा और श्रीकृष्ण, धनुर्भङ्ग, कंस का बुरे स्वप्नों को देख व्याकुल होना।

तदनन्तर बलदाऊ और गोपों को साथ ले श्री कृष्ण और आगे बढ़े। आगे उन्हें एक सुन्दरी स्त्री दीख पड़ी। वह स्त्री सुन्दरी होने पर भी कुबड़ी थी। उसे देख श्री कृष्ण ने उससे हँस कर पूँछाः—

श्रीकृष्ण—हे सुन्दरी! तुम हो कौन? यह अनुलेपन तुम किसके लिये ले जा रही हो? यदि कुछ हानि न हो तो सब हाल ठीक ठीक बतला दो। यदि मेरा कहना करोगी तो तुम्हारा बड़ा भला होगा।

यह सुन कुब्जा बोलीः—

कुब्जा—हे सुन्दरों में श्रेष्ठ! मेरा अङ्ग तीन जगह से टेढ़ा है। इसीसे लोग मुझे त्रिवक्रा भी कहते हैं। मैं कंस की टहलनी हूँ। उसके मस्तक और शरीर में चन्दनादि लगाना मेरा काम है। मैं अपने काम में बड़ी पटु हूँ। इसीसे राजा मुझे बहुत मानते हैं और मेरे बनाये अनुलेपन को वे बहुत पसन्द करते हैं। आप पुरुष-रत्न हैं। अतः आपको छोड़ और कौन इस अनुलेपन के योग्य हो सकता है।

सचमुच कुब्जा उन पर मोहित हो गयी थी। इसीसे उसने श्री कृष्ण और बलदेव को यह अनुलेपन दे दिया। उसके तैयार किये अङ्गराग के लगाने से उन दोनों बालकों की अनुपम शोभा हो गयी। इससे प्रसन्न हो कर श्री कृष्ण ने उस कुबड़ी स्त्री के दोनों पैरों को आगे खड़े हो कर अपने दोनों पैरों से दबाये। फिर दो उङ्गलियाँ उसकी ठोड़ी में लगा कर एक झटका दिया। एक ही झटके से उसके सब अङ्ग सीधे हो गये और उसका कुबड़ापन दूर हो गया। रूपवती तो वह थी ही केवल वह कुबड़ी थी सो अब उसका वह भी दोष दूर हो गया और वह बड़ी सुन्दरी स्त्री हो गयी। श्री कृष्ण के दुपट्टे का छोर पकड़ कर कहने लगीः—

कुब्जा—वीर! हमारे घर चलो। तुम्हें छोड़ अकेले मुझसे घर नहीं जाया जाता। क्योंकि तुमने मेरे मन को अपनी मुट्ठी में कर लिया है। हे नरश्रेष्ठ! मुझे अपनी दासी समझ प्रसन्न हूजिये।

यह सुन बलदेव के सामने और गोपों की ओर देखते हुए श्रीकृष्ण ने उससे कहाः—

श्रीकृष्ण—हे सुन्दरी! मैं तुम्हारे घर अवश्य ही आऊँगा पर अभी नहीं, अपना काम पूरा कर के। क्योंकि हम जैसे अविवाहित बटोहियों के तप्त हृदय को शान्त करने के लिये तुम्हारा घर परम आश्रय है।

इस प्रकार उस कुब्जा को समझा कर और आशा बँधा श्री कृष्ण अपनी गोप मण्डली के साथ आगे बढ़े। मार्ग की दूकानों पर बैठे हुए दूकानदारों पर इस मण्डली के नायक कृष्ण बलदेव को देखने से बड़ा प्रभाव पड़ा। वे श्रद्धा और अनुराग सहित उठ कर उनको भेंटें देने लगे। पुरवासियों से पूँछते पूँछते कंस के धनुष भवन में पहुँचे। वहाँ पर इन्द्र धनुष जैसा विशाल एवं अद्भुत धनुष रखा हुआ था। उस धनुष की रखवाली के लिये कितने सिपाही नियुक्त थे। उन सिपाहियों के मना करने पर भी लड़कों के खिलवाड़ की तरह श्री कृष्ण ने उसे उठा लिया और पलक झपकने भी न पाये थे कि गन्ने की तरह उसे तोड़ डाला। धनुष के टूटने का शब्द दसों दिशाओं में व्याप्त हो गया। यही नहीं इस शब्द को सुन कंस का हृदय मारे डर के काँपने लगा।

धनुष को टूटा देख उसके रखवाले श्री कृष्ण की ओर यह कहते हुए लपके—"पकड़ो,

मारा जाने न पावे।" उनका दुष्ट अभिप्राय समझ कृष्ण बलदेव भी सतर्क हुए और धनुष के टूटे दोनों टुकड़ों को उठा कर, उन्होंने कंस के सिपाहियों को मारने लगे। इनमें से बहुत से सिपाही मारे गये और उनके मारे जाने का समाचार सुन, कंस ने श्रीकृष्ण और बलदेव पर आक्रमण करने के लिये एक सेना भेजी। इस सेना का भी संहार कर, दोनों भाई धनुष भवन से निकले और घूम फिर कर नगर की शोभा देखने लगे। कृष्ण के द्वारा धनुष के तोड़े जाने का संवाद नगर में प्रचारित होते ही पुरवासियों के मन पर विलक्षण प्रभाव पड़ा और वे इन दोनों को मनुष्य के परे सुखद समझने लगे। फिर नगर में इच्छानुसार घूम फिर कर सन्ध्या होने पर श्रीकृष्ण गोपमण्डली सहित अपने डेरे पर लौट गये।

धनुष का श्री कृष्ण द्वारा टूटना और रक्षक दल के मारे जाने का संवाद सुन कंस के भय की सीमा न रही। वह भय और चिन्ता में ऐसा विकल रहा कि रात भर उसे करवटें ही बदलते बीतीं और एक क्षण के लिये भी उसकी आँख न झपकी। जागते समय भी उसे वे सब दुर्लक्षण भासित हुए जो आसन्न मरणा-पन्न मनुष्य में पाये जाते हैं। जैसे जल में सिर का प्रतिबिम्ब न दीख पड़ना, कीचड़ अथवा धूल पर पैर के चिन्ह न उपटना।

ज्यों त्यों कर कंस की वह रात बीत गयी। सवेरा हुआ। पूर्व निश्चितानुसार कंस ने कर्म-चारियों को मल्लक्रीड़ा करने की आज्ञा दी। रङ्गशाला आज भलीभाँति सुसज्जित की गयी थी, जिससे दर्शकों के चित्त पर कंस का प्रभाव पड़े। दर्शकों से धीरे धीरे रङ्गशाला का स्थान भर गया। कंस की बैठक सबसे निराली और ऊँची थी। उसी पर कंस अपने सामन्तों और मन्त्रियों से घिर कर आ बैठा। पर उसका हृदय मारे डर के बड़े वेग से धड़क रहा था। बाजे बजने लगे इतने में अपने अपने मल्ल-विद्या के गुरुओं के साथ मल्ल लोग बड़ी धूम धाम से अखाड़े में आकर उपस्थित होने लगे। चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल आदि प्रधान प्रधान मल्ल बीच में आकर बैठे और नगाड़ों की मधुर ध्वनि को सुन कर प्रसन्न होने लगे।

मल्लक्रीड़ा।

श्री कृष्ण ने अगले ही दिन अपने मन में निश्चित कर लिया था कि जब कंस ने हमारे माता पिता को बन्दीगृह में बन्द कर रखा है और हम दोनों के मारने का षडयंत्र रच रहा है; तब वह हमारा मामा होने पर भी मारने योग्य है। उसे मारने से लोग हमारा नाम नहीं रख सकते। इसी विचार के अनुसार काम करने के लिये अग्रसर हुए। अपनी मण्डली को ले वे रङ्गशाला की ओर प्रस्थानित हुए।

कंस की दुरभिसन्धि के अनुसार कुवलया पीड़ रङ्गशाला का द्वार रोके खड़ा था। श्री कृष्ण ने उसे द्वार पर खड़ा देख, महावत को ललकारा और उससे कहा:--

श्री कृष्ण—ओवे महावत! रास्ता छोड़ दे। हमें भीतर जाना है। शीघ्रता कर हमें विलम्ब हुआ जाता है। अगर रास्ता न छोड़ा तो तू अपनी और अपने हाथी की कुशल न समझना।

इस प्रकार तुच्छ की तरह फटकारे जाने पर महावत को बड़ा क्रोध आया और उसके आवेश में भर हाथी के बड़ी ज़ोर से आँकुस मारा जिसके लगने से हाथी उन्मत्त सा हो गया। तब उस महावत ने उसे श्री कृष्ण की ओर बढ़ाया। हाथी ने झपट कर श्री कृष्ण को अपनी सूँड़ में लपेट लिया। किन्तु कृष्ण तुरन्त सूँड़ की लपेट से छूट और उसके एक घूँसा मार कर उसके पैरों में लिपट गये और

कृष्ण को इधर उधर न देख हाथी मारे क्रोध के लाल हो गया। पर उसने कुछ ही देर में सूँघ कर ढूँढ़ लिया और उन्हें फिर सूँड़ में लपेटना चाहा किन्तु श्रीकृष्ण चतुरता से उसकी लपेट में न आकर अलग हो गये। महा बलशाली गरुड़ जिस प्रकार सर्प को ले जाते हैं उसी प्रकार श्री कृष्ण हाथी की पूँछ पकड़ उसे सौ हाथ पीछे घसीट लें गये। हाथी जब उन्हें पकड़ने को दाहिनी ओर मुड़ता तब वे उसे बाईं ओर घुमा देते और जब वह बाईं ओर मुड़ता तब वे उसे दहिनी ओर मोड़ देते थे। श्री कृष्ण थोड़ी देर हाथी के साथ वैसे खेले जैसे कोई बालक बछड़े के साथ खेला करता है। फिर कृष्ण ने हाथी के सामने जा कर एक थप्पड़ मारा। वह भी श्री कृष्ण को पकड़ने के लिये क्रुद्ध हो कर लपका। हाथी समभता है कि श्री कृष्ण को अब पकड़ा अब पकड़ा. पर पकड़ना तो एक ओर रहा वह उनके पीछे दौड़ता दौड़ता थक गया। इस दौड़ा दौड़ी में हाथी एक बार गिरा भी। कौतूहलवश श्री कृष्ण भी स्वयं एक बार पृथिवी पर गिर पड़े और छिप गये। हाथी ने समभा श्री कृष्ण गिरे पड़े हैं अतः उसने उन्हें मार डालने के लिये बड़ी ज़ोर से अपने दोनों दाँत पृथिवी पर दे मारे। पर वहाँ श्री कृष्ण तो थे ही नहीं अतः हाथी के ही चोट लगी। अपना पराक्रम विफल हुआ देख कर कुवलयापीड़ बहुत क्रुद्ध हुआ। ऊपर से महावत ने उसके अंकुश का प्रहार कर उसे आगे बढ़ाया। इससे वह हाथी अत्यन्त क्रुद्ध हो श्री कृष्ण के पीछे फिर दौड़ा। जब वह हाथी भपट कर श्री कृष्ण की ओर गया तब उन्होंने उसकी सूँड़ पकड़ कर उसको ऐसा भटका दिया कि वह भूमि पर गिर पड़ा। तब श्री कृष्ण ने उसे दोनों पैरों से दबा उसके दोनों दाँत उखाड़ लिये और उन्हींकी चोट से कुवलयापीड़ गज और उसके महावत को यमलोक भेज दिया।

गजदन्तों को हाथ में लिये श्री कृष्ण और बलदेव अपने गोपों के साथ अखाड़े में पहुँचे। उस समय उनकी विचित्र शोभा थी। हाथी के दाँत को वह कन्धे पर रखे हुए थे और सारा शरीर गज के रुधिर और उसके मद से छिटाया हुआ था। मुख पर पसीने के बिन्दु मोती की तरह चमक रहे थे। उनको उस समय दर्शक मण्डली ने अपनी अपनी भावना के अनुसार पाया। जो उनके मित्र थे उन्हें वे मित्र जान पड़े, जो उनके शत्रु थे उन्हें वे शत्रु सरीखे दीख पड़े। वे कंस को साक्षात् काल, माता पिता को बालक और अज्ञानियों को जड़ रूप तथा योगियों को परम तत्व परब्रह्म जान पड़े।

कुवलयापीड़ के दाँतों को देख कंस ने जान लिया कि उनका हाथी मारा गया और ये दोनों भाई दुर्जन हैं। वह बड़ा बलशाली होने पर भी बहुत डरा। उधर दर्शकगण इन दोनों बालकों के विषय में जो जो बातें सुनी थीं उनको आपस में कह सुन रहे थे। इसी अवसर में चाणूर ने कृष्ण और बलदेव को सम्बोधन करके कहाः—

चाणूर—हे नन्दनन्दन! हे बलदेव! सुना तुम बड़े पराक्रमी हो। हमारे महाराज कंस को विदित हुआ है कि तुम मल्लयुद्ध में भी बड़े निपुण हो। इसीसे आज तुम्हारी निपुणता देखने के लिये तुम बुलाये गये हो। मन बाणी और कर्म द्वारा राजा को प्रसन्न करने से प्रजा का मङ्गल होता है। अन्यथा करने से विपरीत फल होता है। यह भी सब लोगों को विदित है कि गोप मल्ल क्रीड़ा करते हुए वनों में पशु चराया करते हैं। इस कारण हम लोग अपने कल्याण के लिये महाराज कंस को प्रसन्न करें। हमारे इस काम से सब लोगों को प्रसन्नता होगी। क्योंकि शास्त्रों में राजा सर्वजीवमय बतलाया गया है।

श्रीकृष्ण तो यह चाहते ही थे। अतएव चाणूर के वाक्य सुन उन्होंने पहले तो उसकी प्रशंसा की और, फिर देश काल पात्र के अनुसार उसे यह उत्तर दियाः—

श्री कृष्ण—हम महाराज कंस की वनवासी प्रजा है। अतएव इनको सब प्रकार से प्रसन्न करना ही हमारा कर्त्तव्य है। राजा की यह आज्ञा मानो हमारे ऊपर परम अनुग्रह रूप हैं। किन्तु हे मल्लशिरोमणि! हम बालक हैं। अतएव हम समानबल वाले से लड़ कर महाराज को प्रसन्न करेंगे। मल्लयुद्ध इस प्रकार उचित रीति से हो, जिससे दर्शकों को पाप का भागी न बनना पड़े।

चाणूर—अजी! तुम भी कहते क्या हो? तुम और तुम्हारा भाई क्या बालक है? तुमने अभी खेलते हुए उस गजराज का वध किया है जिसके शरीर में सहस्र हाथियों का बल था। तुम दोनों भाई बड़े बली हो। अतः तुम मुझसे और तुम्हारा भाई मुष्टिक से लड़े। इसमें अन्याय ही क्या है।

चाणूर मुष्टिक बध।

यह सुन श्री कृष्ण चाणूर से और बलदेव जी मुष्टिक से भिड़े। मल्ल लोग मल्ल युद्ध के समय जो दाँव पेंच करते हैं वे सब इन दोनों जोड़ों ने एक दूसरे पर चलाये। उधर पुरनारियाँ इन असम जोड़ों को भिड़ते देख कंस को इस अन्याय के लिये दोषी ठहराने लगीं। और श्री कृष्ण के लिये मन ही मन बहुत पछताने लगीं। इसी अवसर में श्री कृष्ण ने चाणूर को मारने का विचार पक्का किया। उधर पुरनारियों की बातें सुन वसुदेव देवकी के मन में बड़ी दुर्बलता उत्पन्न हुई और पुत्रों के लिये वे चिन्तित हुए।

उधर श्री कृष्ण के वज्र सदृश दृढ़ शरीर के अङ्गों के आघात प्रतिघात से चाणूर की हड्डी हड्डी चूर हो गई और उसका शरीर शिथिल हो गया। अवसर पा चाणूर ने भी अपने सारे बल को एक साथ लगा एक मूका श्री कृष्ण की छाती में मारा। किन्तु भाले के कोंचने पर भी जैसे हाथी को कुछ भी नहीं जान पड़ता वैसे ही श्री कृष्ण को भी उसकी चोट तिल भर भी न जान पड़ी। पर अब श्री कृष्ण ने उसके दोनों हाथ पकड़ कर उसे घुमाना आरम्भ किया। उसे भली भाँति घुमा कर पृथिवी पर ऐसा पटका कि तुरन्त उसके प्राण निकल गये। श्रीकृष्ण का जोड़ीदार मल्ल चाणूर मारा गया।

उधर मुष्टिक ने भी बलदेव जी की छाती पर तान कर दो घूँसे मारे। तब बलदेव जी ने मुष्टिक के गाल पर एक ऐसा तमाचा मारा कि उसका सारा शरीर थर्राने लगा। मुख से रक्त निकलने लगा और आँधी के वेग से उखड़े हुए महा वृक्ष के समान उसका शरीर पृथिवी पर गिर पड़ा।

तदनन्तर कूट नामक मल्ल आया उसे तो बलदेव जी ने बाएँ घूँसे से बात की बात में मार डाला। श्रीकृष्ण ने भी शल और तोशल के सिरों को पैर की ठोकरों से चकनाचूर कर, यमलोक भेज दिया। लगातार चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल जैसे नामी और बली जनों के मारे जाने पर, अखाड़े में दोनों भाइयों के साथ मल्ल युद्ध करने का किसी को साहस न हुआ। जो मल्ल बच रहे थे वे प्राणों को ले वहाँ से चुपचाप खिसक गये। जब कंस की ओर का कोई भी लड़ने वाला न रहा, तब श्री कृष्ण अपने साथी गोपों को अखाड़े में खींच उन्हीं के साथ मल्ल युद्ध करके नाचने लगे। कंस को छोड़ सब श्रेणी और वर्ण के दर्शक श्री कृष्ण और बलदेव के इस अद्भुत कर्म को देख और उन दोनों का उत्साह बढ़ाने के लिये बारम्बार उनकी प्रशंसा करने लगे।

कंस बध।

अपने चुने चुने मल्लों को मरा हुआ और शेष मल्लों का अखाड़े से भागना देख कंस क्रुद्ध हुआ। उसने नगाड़ों का बजाया जाना बन्द करवाया और कड़क कर कहाः—

कंस—अरे! वसुदेव के इन दोनों दुष्ट पुत्रों को नगर से शीघ्र निकाल बाहिर करो, गोपों
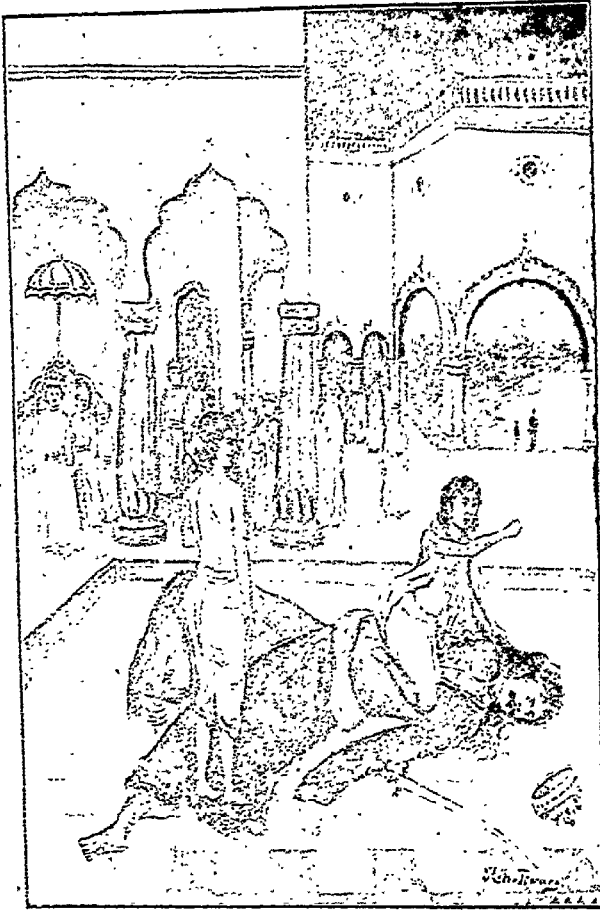
कंस वध

का सारा माल असबाव लूट लो और नन्द को वन्दी बना लो। महा दुष्ट बलदेव और उग्रसेन को उनके साथियों एवं पक्षपातियों सहित अभी मार कर सदा के लिये बखेड़ा दूर करो। क्योंकि उग्रसेन मेरा पिता होकर भी मेरे शत्रुओं से मिला हुआ है।

कंस के ऐसे परुष वाक्य सुन कर, श्री कृष्ण क्रुद्ध हुए और लघिमा नामक योग की सिद्धि की सहायता से उचक कर उस ऊँचे मचान पर चढ़ गये जिस पर अपनी अनुचर तथा सामन्त मण्डली से घिरा हुआ कंस बैठा हुआ था। कंस ने झट श्री कृष्ण का अभिप्राय जान लिया। वह वीर तो था ही झट ढाल ले कर खड़ा हो गया। खड़ा होकर वह बाज की तरह अवसर देखता हुआ घूम घूम कर पैंतरे बदलने लगा।

पर भला श्री कृष्ण के सामने उसकी यह पैंतरेबाज़ी कब तक काम दे सकती थी जैसे गरुड़ क्रुद्ध काले सर्प को पकड़ लेते हैं। वैसे ही श्री कृष्ण ने उस दुष्ट की चोटी पकड़ मचान से उसे अखाड़े में ढकेल दिया। साथ ही उसके ऊपर आप भी कूद पड़े। भला जो सर्वजगत के मूलाधार हैं, उन कृष्ण के शरीर के ऊपर गिरने से कंस क्यों कर प्राण धारण कर सकता था। वह तुरन्त मर गया। तब श्री कृष्ण ने उसके मृत शरीर को अखाड़े में चारों ओर घसीटा।

कंस को कुछ दिनों से प्रत्येक क्षण श्री कृष्ण ही का ध्यान बना रहता था और मरते समय साक्षात् श्री कृष्ण उसके सामने ही विराज रहे थे। अतः कंस के पक्ष में श्री कृष्ण के प्रति विरोध भी उसकी मोक्ष का कारण हुआ और उसकी मुक्ति हो गई।

कंस अकेला ही नहीं उत्पन्न हुआ था। उसके अङ्क और न्यग्रोध आदि आठ भाई और थे। वे अपने भाई का वध देख विकल हुए और अपने भाई का बदला लेने के लिये, श्री कृष्ण और बलदेव पर उन्होंने आक्रमण किया। किन्तु वे श्री कृष्ण के पास पहुँचने न पाये थे कि बीच ही में बलदेव जी ने एक बेलन उठा उसीसे उन सब को यमपुर का पाहुना बना दिया। उस समय आकाश में बाजे बजे, देवताओं ने दोनों भाइयों पर फूलों की वर्षा की और स्तुति की। मरे हुए कंस और कंस के भाइयों की सद्यजाता विधवा स्त्रियाँ रोती पीटती और विलाप करती वहाँ आयीं। अपने मरे हुए स्वामियों के मृत शरीरों से लिपट वे विलाप कर रोने लगीं।

तब श्री कृष्ण ने समझा बुझा और संसार की असारता दिखा उन स्त्रियों को कुछ कुछ शान्त किया और उन्हीं के हाथ से उनके मृत पतियों के शरीरों की अन्त्येष्टि क्रिया कराई।

फिर दोनों भाई अपने माता पिता के समीप गये और उन्हें बन्धन से मुक्त कर, तथा उनके पैर छूकर उन्हें प्रणाम किया। पर इस समय वसुदेव देवकी का ज्ञान जागृत हुआ और उन्होंने श्री कृष्ण को साक्षात् परब्रह्म समझ अपनी छाती से न लगाया और हाथ जोड़े खड़े रहे।

यह देख घट घट व्यापी श्रीकृष्ण ने विचारा कि हमारे प्रसन्न होने पर इन दोनों को ऐसा ज्ञान होना कोई कठिन बात नहीं है। किन्तु हम को पुत्र जान जो सुख ये भोग रहे हैं वह इनके लिये इस संसार में दुर्लभ पदार्थ है। यह विचार श्री कृष्ण ने वसुदेव देवकी के ज्ञान पर माया का पर्दा डाल दिया। फिर बड़ी नम्रता से श्री कृष्ण ने वसुदेव देवकी को सम्बोधन करके कहाः—

श्री कृष्ण—हे पितृदेव! हम आपके पुत्र हैं। प्रबल इच्छा रखते हुए भी आप हमारी बाल-क्रीड़ा आदि देखने का सुख न पा सके। यह सब हमारा ही दुर्भाग्य है। क्योंकि दैववश ही हमें आपसे पृथक रहना पड़ा। पिता की छत्र-छाया में रह कर हम माता पिता के दुलार से वञ्चित ही रहे। सम्पूर्ण फलों का साधन रूप यह शरीर जिन माता पिता के अनुग्रह से

उत्पन्न होता है, उन माता पिता के ऋण से यदि कोई उबरा चाहे तो सौ वर्ष की आयु भर सेवा करने पर भी नहीं उबर सकता। जो पुत्र सामर्थ्य रहते हुए भी तन मन धन से अपने माता पिता की सेवा नहीं करते, मरने पर ऐसों को यमराज के यहाँ बड़ी बड़ी यंत्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। कंस के भय से हम इच्छा रखते हुए भी आपकी सेवा न कर सके। अतएव हे माता पिता! हम आपसे इसके लिये क्षमा माँगते हैं।

इन वाक्यों को सुन वसुदेव देवकी मायां मोहित हो श्री कृष्ण और बलदेव को अपने पुत्र समझने लगे और उन दोनों पुत्रों को उन दोनों ने बारी बारी से अपनी छाती से लगा कर स्नेहाश्रु बहाये। स्नेह के वशीभूत हो उनका कण्ठ रुन्ध गया। उनसे कुछ भी कहते सुनते न बन पड़ा।

तदनन्तर श्री कृष्ण और बलदेव अपने नाना उग्रसेन के पास गये। उनको बन्धनों से मुक्त कर और यादवराज के पद पर अभिषिक्त कर, उनसे कहाः—

श्री कृष्ण—राजन्! हम सब आपकी प्रजा हैं। जो आज्ञा हो उसका हम पालन करें। हमारे वंश के पूर्वज यदु को उनके पिता ने शाप दिया था—अतः हम यादवों में से कोई भी राजसिंहासन पर नहीं बैठ सकता। अतएव हम प्रार्थना करते हैं कि अब आप निडर हो राज्य करो मुझ दास के रहते बापुरे राजाओं की तो बात ही क्या है—स्वयं देवता भी आपको सीस नवावेंगे।

कंस के भय से श्री कृष्ण के बहुत से सजातीय भाग गये थे—और सुदूर प्रदेशों में पड़े अनेक प्रवास कष्ट भोगा करते थे। उन सब को श्री कृष्ण ने सम्मान पूर्वक मथुरा में बुला लिया और धनादि से उन्हें सन्तुष्ट किया। वे मथुरा आकर फिर बसे।

तदनन्तर बलदेव और श्री कृष्ण नन्द जी के पास गये और उनसे कहने लगेः—

बलदेव और श्री कृष्ण—पितृदेव! आपने और माता यशोदा ने हम दोनों को निज सन्तान से बढ़ कर पाला पोसा। पिता माता अपने शरीर से बढ़ कर पुत्रों पर स्नेह ममता करते हैं। बन्धुओं से परित्यक्त बालकों को जो पालते हैं वे ही उन बालकों के माता पिता हैं। हे पितृदेव! आप अपने व्रज को लौट जाइये। अब हम स्वजनों के पास कुछ दिनों रह और उन्हें सुखी कर आप लोगों के पास आवेंगे।

इस प्रकार नन्दादि गोपों को समझा और वस्त्र भूषण पात्रादि भेंट कर, उनका पूजन किया। नन्द ने दोनों बालकों को गले लगाया। उस समय नन्दजी के नेत्रों में आँसू भर आये। अपने मन को बहुत कड़ा कर नन्द जी गोपों सहित व्रज को गये।

कृष्ण बलदेव का विद्याध्ययनार्थ गुरु-गृह-गमन।

तदनन्तर वसुदेव ने दोनों बालकों का गर्गाचार्य को बुला कर यज्ञोपवीत संस्कार कराया। यज्ञोपवीत के उपलक्ष्य में वसुदेव ने अनेक आभूषणादि से सुसज्जित गौवें ब्राह्मणों को दीं। कृष्ण बलदेव के जन्म के दिन जो गौवें ब्राह्मणों को दी थीं कंस ने मारे जलन के उन ब्राह्मणों से वे छीन लीं थीं। वे गौएँ भी आज उन ब्राह्मणों को फिर से दी गईं। यज्ञोपवीत संस्कार होने पर श्री कृष्ण और बलदेव ने यथाविधि ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण किया और विद्याध्ययनार्थ अवन्तिपुर निवासी काश्यप गोत्रज सान्दीपन मुनि के पास गये। वहाँ ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर बड़ी श्रद्धा के साथ गुरु की सुश्रूषा कर विविध विद्याओं को पढ़ा। यहाँ तक कि चौसठ दिन रात में उन दोनों ने चौंसठों कलाएँ सीख लीं। यावत विद्याओं को सीख उन्होंने अन्त में गुरु से गुरु-दक्षिणा बतलाने की प्रार्थना की।

एक बार प्रभास क्षेत्र में स्नान करने जाकर सान्दीपन का एक पुत्र जल में डूब गया था। कृष्ण बलदेव की विलक्षण महिमा देख सुन और अपनी स्त्री के परामर्शानुसार इस बार उन्होंने गुरुदक्षिणा में उसी पुत्र को माँगा। अच्छा देंगे—कह कर और रथ पर बैठ दोनों भाई प्रभास क्षेत्र में पहुँचे। समुद्र के तट पर वे पहुँचे ही थे कि तुरन्त समुद्र पुरुष रूप धारण कर उनके पूजन के लिये उपस्थित हुआ। तब श्री कृष्ण ने उससे गुरु-पुत्र को माँगा। उत्तर में समुद्र ने कहाः—

समुद्र—हे भगवन्! मेरे जल के भीतर पञ्चजन्य नामक एक बड़ा दैत्य रहता है। हो न हो वही आपके गुरुपुत्र को ले गया होगा।

यह सुनते ही श्री कृष्ण जल के भीतर गये और पञ्चजन्य दैत्य को मार पाञ्चजन्य नामक शङ्ख ले आये। गुरुपुत्र उसके पेट में भी जब न देख पड़ा, तब दोनों भाई यमलोक पहुँचे। यमराज की संयमनीपुरी के द्वार पर पहुँच श्रीकृष्ण ने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया जिसका शब्द सुनते ही यमराज तुरन्त उनके निकट आकर उपस्थित हुए। यमराज ने बड़ी धूमधाम से श्री कृष्ण और बलराम का पूजन किया। तदनन्तर पूँछाः—"हमें क्या आज्ञा है?" इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने उनसे अपने गुरुपुत्र को माँगा। यमराज ने तुरन्त उस बालक को लाकर श्रीकृष्ण को सौंप दिया। श्री कृष्ण और बलराम गुरुपुत्र को लेकर अपने गुरु के पास पहुँचे और उनके पुत्र को उन्हें सौंप बोले—"प्रभो! हम लोग आपकी और क्या सेवा करें?" इसके उत्तर में गुरु जी ने कहाः—"वत्सो! तुमने जैसी उचित थी वैसी ही मुझे गुरुदक्षिणा दी। यथार्थ बात तो यह है कि जो तुम जैसे शिष्यों के गुरु हैं उनकी कोई भी अभिलाषा अपूर्ण नहीं रह सकती। हे वीर युवको! अब तुम दोनों अपने घर लौट जाओ। लोक पवित्रकारी तुम्हारा पावन यश चहुँ ओर व्याप्त हो। पढ़े हुए की पुनरावृत्ति न करने पर भी तुम उसे कभी न भूलोगे।

गुरु से ऐसे आशीर्वाद पाकर दोनों भाई रथ पर चढ़ कर मथुरा लौट गये। बहुत दिनों बाद कृष्ण बलदेव के दर्शन पाकर मथुरावासी बहुत प्रसन्न हुए।

कृष्णसखा उद्धवजी की ब्रज-यात्रा।

वृष्णि वंशीय यादवों के मान्य एवं महामतिमान मंत्री उद्धव जी श्री कृष्ण के बड़े प्यारे मित्र थे। एक बार श्री कृष्ण हाथ पकड़ कर उन्हें एकान्त में ले गये और उनसे बोलेः—

श्री कृष्ण—मित्र! तुम शीघ्र ब्रज को जाओ और वहाँ मेरे पिता माता और वियोगविधुरा गोपियों को समझा बुझा कर शान्त करो। वे सब सदा मेरा ही स्मरण किया करती हैं और इसीसे मैं भी उन्हें बहुत चाहता हूँ।

यह सुन उद्धव जी बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्न होते हुए रथ पर बैठ नन्द के गोकुल को प्रस्थानित हुए। सन्ध्या के समय उद्धवजी गोकुल में पहुँचे। उस समय गौवें चर कर घर को लौट रही थीं। उनके खुरों से उड़ी हुई धूल से उद्धव जी का रथ छिप गया। उद्धव ने ब्रज में जाकर देखा कि थैनों में दूध भरे गौवें बछड़ों को दूध पिलाने के लिये दौड़ी चली जा रही हैं। गोपियाँ वस्त्र आभूषणसे सजी इधर उधर कृष्णबलदेव की लीलाओं को गा रही हैं। जहाँ तहाँ गोप कृष्ण बलदेव की चर्चा कर रहे हैं। ब्रज के चारों ओर प्राकृतिक दृश्य भी बड़ा ही मनोहर है।

उस समय श्री कृष्ण के प्रिय सखा उद्धव को देख, नन्द मारे आनन्द के उछल पड़े। उन्होंने उठ कर तुरन्त उद्धव को अपनी छाती से लगाया और उन्हें श्री कृष्ण समझ उनकी पूजा की। उद्धव जी भोजन करके जब लेट गये तब नन्द जी ने उनसे जाकर पूँछाः—

नन्द—हे महाभाग ! हमारे मित्र वसुदेव अपने पुत्रों और कुटुम्बियों सहित प्रसन्न तो हैं ?" बड़ा अच्छा हुआ जो पापी कंस अपनी ही करतूत से आप ही मारा गया। उससे बढ़ कर दुष्ट कदाचित् ही कोई हो वह धर्मात्मा एवं साधु स्वभाव यादवों का व्यर्थ ही घोर शत्रु बन गया था। भला यह तो बतलाओ कृष्ण को कभी हम लोगों की याद भी आती है? क्या हमें लोगों को देखने के लिये उनके यहाँ आने की कोई सम्भावना है? उद्धव ! श्री कृष्ण का स्मरण होते ही हमारे हाथ पैर ढीले पड़ जाते हैं और किसी भी काम में हमारा मन नहीं लगता।

यह कह कर नन्द ने श्री कृष्ण के अद्भुत कर्म्मों का वर्णन कर उनको गर्गाचार्य के कथनानुसार देवता बतलाया और कहा वे देवताओं का कोई कार्य पूरा करने के लिये इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं। श्री कृष्ण की लीलाओं को कहते कहते स्नेह से विह्वल नन्द का तो गला भर आया और यशोदा के नेत्रों से अश्रु की झड़ी लगी और स्तनों से दूध की धार बहने लगी।

नन्द यशोदा का श्री कृष्ण के प्रति ऐसा प्रगाढ़ स्नेह देख उद्धव जी परम प्रसन्न हो बोलेः—

उद्धव जी—हे व्रजराज ! तुम्हारी जगत् गुरु नारायण में ऐसी दृढ़ भक्ति होने के कारण तुम दोनों ही स्त्री पुरुष देहधारी मात्र में सब से बढ़ कर श्रेष्ठ हो। श्री कृष्णचन्द्र जी ने कहा है हम शीघ्र ही व्रज में आवेंगे और तुम दोनों की इच्छा पूर्ण करके प्रसन्न करेंगे। कंस को मार सब के सामने उन्होंने आपसे जो कहा था उसे वे शीघ्र ही पूरा करेंगे।

यह कह कर उद्धव जी ने श्री कृष्ण का परत्व निरूपण किया और इस प्रकार बातचीत करते करते बहुत रात बीत गयी फिर जब सवेरा होने में केवल दो घड़ी रात शेष रही तब सब गोपियाँ उठीं और अपने अपने घरों का धन्धा करने लगीं। पर दही मथते समय वे श्री कृष्ण की बाल लीला के गीत गाती जाती थीं। सूर्योदय होने के कुछ काल उपरान्त नन्द जी के द्वार पर सुवर्णमय रथ खड़ा देख व्रजवासी आपस में तर्क वितर्क कर कहने लगे—"यह रथ है किस का।" गोपियाँ कहने लगीं-"कंस का काम पूरा करने के लिये जो क्रूर अक्रूर आकर श्री कृष्ण को मथुरा ले गया था जान पड़ता है वही फिर आया है। न जाने इस बार वह क्यों आया है?" इस प्रकार गोपियाँ आपस में बातचीत कर ही रही थीं कि इतने में उद्धव जी यमुना से स्नानादि आन्हिक कर्म करके नन्द के घर की ओर लौटते हुए दीख पड़े।

उनके सुन्दर रूप को देख गोपियों को बड़ा विस्मय हुआ और वे आपस में कहने लगीं कि—"यह सुन्दर रूप वाला पुरुष कौन है? किस का दूत है? कहाँ से आया है? इसका पहनावा उढ़ावा तो कृष्ण ही जैसा है?" यह कहते कहते कृष्ण दर्शन के लिये परमोत्सुक गोपियों ने चारों ओर से उद्धव को घेर लिया। पर जब उन्हें यह बात विदित हुई कि उद्धव जी श्री कृष्ण का सन्देसा लेकर आये हैं तब तो उन्हें एकान्त में ले जाकर आसन पर बिठाया और साधारण शिष्टाचार के अनन्तर उनसे श्री कृष्ण का कुशल प्रश्न पूँछ कर कहाः—

गोपियाँ—हम जानती हैं तुम श्री कृष्ण के सेवक हो और तुम्हारे स्वामी ने तुम्हें अपने माता पिता को प्रसन्न करने के लिये यहाँ भेजा है। सचमुच यही बात है नहीं तो इस व्रज में और कौन सी ऐसी वस्तु है, जिसकी याद वे महा पुरुष कभी करते हों। यदि माता पिता की याद उन्हें आयी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। क्यों कि जो बड़े बड़े मुनि होते हैं उन्हें भी अपने जनों का स्मरण हो ही आता है। संसार की चाल है कि लोग अपने स्वार्थ के लिये मैत्री का खिलवाड़ करते हैं और स्वार्थ सिद्ध होने पर मैत्री की बात दूर रहे उन मित्रों की बात
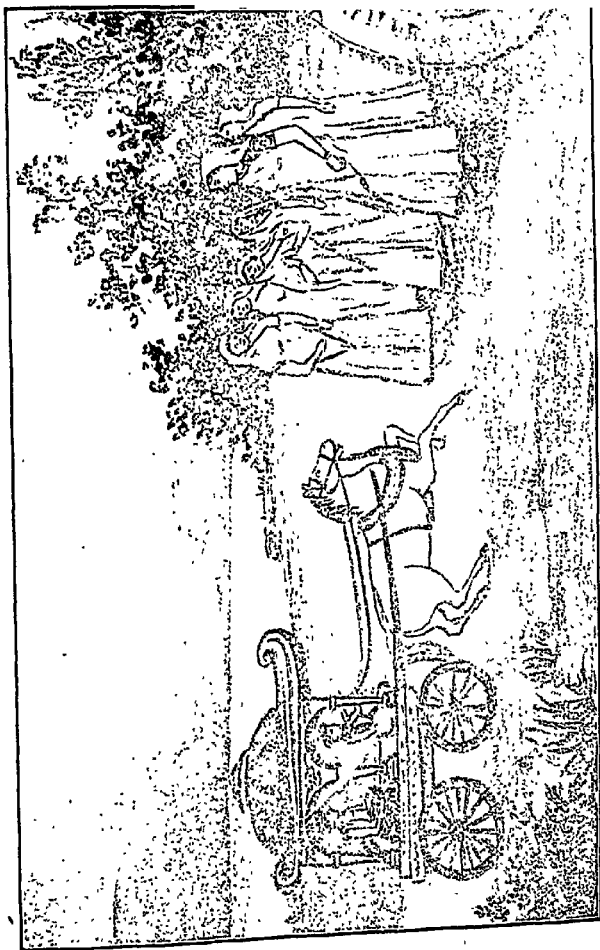
उद्धवजी की व्रजयात्रा

भी नहीं पूँछते। यह बात अनोखी अथवा अनहोनी नहीं है। इसका अनुभव लोग नित्य ही किया करते हैं। निर्धन मनुष्य को वेश्या भी छोड़ देती है। निकम्मे राजा की प्रजा उसकी बात भी नहीं पूँछती, विद्या पढ़ लेने पर शिष्य अपने गुरु को छोड़ देते हैं।

भ्रमर गीत।

इस प्रकार गोपियों ने उद्धव जी को अनेक प्रकार के उलहने दिये। फिर श्री कृष्ण के ध्यान में मग्न हो वे उनकी लीलाओं को गाने लगीं। उनमें कुछ ऐसी भी थीं जो लोक लाज छोड़ कर और रोकर उद्धव के सामने कृष्ण की चर्चा करने लगीं। इतने में एक भौंरा भुनभुनाता एक गोपी के पास गया। उसे श्री कृष्ण का दूत समझ उसीसे वह इस प्रकार बात करने लगी। वह गोपी बोली—"अरे धूर्त्त शिरोमणि के साथी भौंरे! तू हमारे चरणों को मत स्पर्श कर। क्योंकि तेरे मूँछ के बालों में हमारी सौत के गले की माला में लगा हुआ कुङ्कुम लगा है। यादवों की सभा में अपनी हँसी कराने वाले श्री कृष्ण ही इस प्रसाद को ग्रहण कर सकते हैं। हमें यह न चाहिये। तुम दोनों की जोड़ी बड़ी बढ़िया है। जैसे तुम हो वैसे ही वे हैं। तुम भी फूलों का रस चूस कर उन्हें छोड़ जाते हो और कृष्ण भी एक बार अपने अधरों की सुधा पिला कर झट हमें छोड़ चल दिये हैं। हमें बड़ा भारी आश्चर्य तो इस बात का है कि जगत् प्रसिद्ध चञ्चल स्वभाव वाली लक्ष्मी उनका सेवन क्योंकर करती हैं? हो सकता है लक्ष्मी उनके यशस्वी नाम पर ही आसक्त हैं पर हम सब उनकी तरह अविवेकिनी नहीं हैं।"

इस प्रकार श्री कृष्ण के दर्शन के लिये उत्सुक गोपियों के व्यङ्ग भरे वचन सुन उद्धव जी ने गोपियों को श्री कृष्ण का सन्देसा सुनाते हुए कहा:—

उद्धव जी—हे गोपियो! तुम धन्य हो, तुम इस संसार में परम पूजनीय हो, क्योंकि तुम्हारा मन श्री कृष्ण के चरणों में ऐसी दृढ़ता से लगा हुआ है। लोग दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदाध्ययन करके तब कहीं श्री कृष्ण की भक्ति के अधिकारी होते हैं, पर धन्य हो तुम जिन्होंने मुनि दुर्लभ वही भक्ति सहज ही में पाली है। तुम से बढ़ कर भाग्यवान इस संसार में कौन दूसरा हो सकता है, जिन्होंने अपने आत्मियों को छोड़ हरि की भक्ति में चित्त लगाया है। मैं भी आज तुम जैसी हरिभक्ताओं के दर्शन कर आज कृतकृत्य हो गया हूँ। मैं तुम्हारे उन्हीं प्रेमी कृष्ण का गुप्त सन्देसा तुम्हारे लिये लाया हूँ। तुम सब मन लगा कर उसे सुनो।

इस प्रकार गोपियों को एकाग्र मन कर उद्धव जी ने उन्हें श्री कृष्ण का सन्देसा सुना कर कहा:—

उद्धव—श्री कृष्ण ने कहा है कि मैं देहधारियों का आत्मा हूँ अतः मेरा वियोग तुमको कभी नहीं हो सकता। जैसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आकाश सब तत्वों में विद्यमान हैं वैसे ही मैं मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और गुणों में रहता हूँ। मैं अपनी माया के प्रभाव से अपने ही द्वारा अपने को अपने में उत्पन्न कर पालता हूँ और लीन भी हो जाता हूँ। आत्मा ज्ञानमय है अतः वह ज्ञानमयी माया से पृथक है।

जैसे नदियाँ चारों ओर से जाकर सागर ही में जा मिलती हैं वैसे ही वेद अष्टाङ्ग योग संन्यास, इन्द्रिय दमन आदि सभी का लक्ष्य मुझको प्राप्त करना है। मैं तुमसे अलग न होने पर भी दूर इस कारण से हूँ कि तुम सदा मेरे ही ध्यान में डूबी रहो। यदि तुम इसी प्रकार सब वासनाओं को छोड़ और उनसे रहित हो अपने शुद्ध मन को मुझमें लगा कर सदा मेरा ध्यान किया करोगी—तो अविलम्ब तुम मुझे प्राप्त कर सकोगी।

गोपियाँ श्रीकृष्ण का यह सन्देसा उद्धव के मुख से सुन बहुत प्रसन्न हुईं और उन्हें शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ। उनका विरहताप शान्त हो गया। श्रीकृष्ण को इन्द्रियों का साक्षी परमात्मा समझ, गोपियों ने उद्धव का मन लगा कर पूजन किया। उद्धव जी भला ऐसी हरिभक्त मण्डली को क्यों छोड़ने लगे। अतः वे व्रज में कई मास तक रहे। गोपियों को श्री कृष्ण में अनुरक्त देख उद्धव जी ने कहा था—"इस धरा धाम पर ये गोपियाँ ही अपना जन्म सफल करने में कृतकृत्य हो सकी हैं। सचमुच इनका जन्म सार्थक है। क्योंकि सर्वात्मा हरि पर इनका अगाढ़ अनुराग है। इनका अनुराग साधारण अनुराग नहीं है, प्रत्युत यह वह गूढ़ अनुराग है. जिसकी उपलब्धि के लिये हमसे चरण सेवक भक्त और अनेक ज्ञानी नाना प्रकार के उपाय किया करते हैं। मैं इन नन्दव्रज की गोपियों के चरणों की रज की बारम्बार वन्दना करता हूँ। इनके गाये हुए हरिलीला मण्डित गीत त्रिभुवन मात्र को पावन बनाने वाले हैं। इसीसे ये परम धन्य हैं।

कई मास बाद नन्दव्रज में रह कर उद्धव जी ने मथुरा जाना चाहा। वे नन्द यशोदा और गोपियों से विदा माँग, मथुरा लौटने के लिये रथ पर बैठे। उसी समय नन्द आदि गोप अनेक प्रकार की भेंटें ले उद्धव जी के सामने पहुँचे और अनुराग से विह्वल हो तथा आँखों में आँसू भर कर उन्होंने उद्धव जी से कहाः—

गोप गण—उद्धव जी हमारी कामना यही है कि हमारा मन पूर्णतया श्री कृष्ण के चरणों में लगा रहे और हम अपनी वाणी से उनके नामों का कीर्त्तन करें और हमारा शरीर उनकी सेवा और उन्हें प्रणाम करने में लगा रहे। हम कर्मवश चाहे जिस योनि में जन्में, पर हमारा मन श्री कृष्ण ही में लगा रहे। हमसे यदि कोई अच्छे काम बन पड़े हों तो हम उनका यही फल माँगते हैं कि हमारे मन में श्री कृष्ण की अनन्य भक्ति का उद्रेक हो।

गोपों ने उद्धव को कृष्ण मान उनका बड़ी प्रीति के साथ पूजन किया और उद्धव जी मथुरा के लिये प्रस्थानित हुए। मथुरा पहुँच उद्धव ने श्री कृष्ण से व्रज का सारा हाल कह सुनाया और गोपों की दी हुई भेंट महाराज उग्रसेन के सामने रख दी।

श्री कृष्ण का अक्रूर जी के घर जाना।

श्री कृष्ण अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार कुब्जा के घर जा और उसकी मनोकामना पूरी कर उद्धव और बलदेव को लिये हुए अक्रूर जी के घर पहुँचे। श्री कृष्ण आदि को आते देख अक्रूर जी उठ खड़े हुए और आगे बढ़ कर उन्होंने उनको प्रणाम किया तथा अपने हृदय से लगाया। फिर उनको अक्रूर ने सुन्दर आसनों पर बिठाया। फिर श्री कृष्ण और बलदेव जी के पवित्र चरणोदक को अपने सीस पर रख और पूजन की सामग्री से उनका सत्कार किया। फिर कृष्ण और बलभद्र के चरणों को अपनी गोद में रख और उन्हें दबाते हुए बोलेः—

अक्रूर—यह आपने बड़ा काम किया जो पापी कंस को अनुचरों सहित मार अपने कुल को बड़े भारी कष्ट से उबार कर उन्नत और समृद्धशाली बना दिया। क्यों न हो, आप दोनों प्रधान पुरुष हैं और जगत् के आदि कारण तथा जगन्मय हैं। आपसे परे कोई कारण नहीं है।

हे देवादि देव! जिनका चरणोदक त्रिभुवन को पवित्र करने वाला है वे ही अधोक्षज जगद्गुरु आप आज मेरे भवन में पधारे हैं। आपके आगमन से मैं कृतार्थ हो गया। जिनको बड़े देवता और योगेश्वर नहीं जान पाते. आज वे ही मेरे नेत्रों के सामने विराजमान हैं। आज का दिन मेरे लिये परम सौभाग्य का है। हे जनार्दन, पुत्र, स्त्री, धन, स्वजन, गृह और देह रूपिणी आपकी माया दुरन्त है, उससे कृपया मुझे बचाइये।

भक्त अक्रूर की इस स्तुति को सुन भगवान् श्री कृष्ण ने मुसक्या कर कहाः—

श्री कृष्ण—तात! आप हमारे गुरु, चाचा और सदैव हितैषो बन्धु हो, हम तो आपके कृपाभाजन बालक हैं। आप हमारा पालन पोषण और रक्षा करें। जो लोग अपना कल्याण चाहते हों उन्हें उचित है कि आप जैसे पूज्य महाभाग साधुओं की सेवा करें। आप जैसे साधु पुरुष देवताओं से भी बढ़ कर हैं। क्योंकि देवता तो अपने स्वार्थ ही की सिद्धि में लगे रहते हैं, पर आप तो परोपकार में लगे रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जलमय तीर्थ, तीर्थ हैं और पत्थर तथा मिट्टी के बने देवगण देवता हैं। किन्तु साधुओं का पद इनसे भी ऊँचा इस कारण है कि देवता तो बहुत दिनों लों सेवा करा कर प्रसन्न होते हैं, परन्तु साधु महात्माओं के दर्शनों ही से मन और शरीर दोनों ही तुरन्त पवित्र हो जाते हैं। महाभाग! हमारे जितने आत्मीम स्वजन हैं आप उन सब से श्रेष्ठ हैं। अतएव आप हस्तिनापुर को पाण्डवों के कल्याण के लिये और उनका कुशल संवाद लाने के लिये जाइये। सुना गया है कि पाण्डु का देहान्त हो गया है। उनके छोटे छोटे लड़के अपनी माता सहित बहुत दुःखी हैं। कारण यह है कि उनके अन्धे चाचा धृतराष्ट्र अपने कुपुत्रों के कथनानुसार चलते हैं। वहाँ जाकर आप इस बात का पता लगा लावें कि पाण्डव क्या सचमुच कष्ट भोग रहे हैं। वहाँ के यथार्थ वृत्तान्त आपके द्वारा अवगत होने पर मैं वहाँ का समुचित प्रबन्ध करूँगा, जिससे पाण्डवों का कल्याण हो।

यह कह श्री कृष्ण जी अपने घर को चले गये।

अक्रूर का हस्तिनापुर गमन।

हस्तिनापुर पहुँच अक्रूर, धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कुन्ती, वाल्हीक, सोमदत्त, द्रोणाचार्य्य, कृपाचार्य्य, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, पाण्डव और अन्य सुहृदों और बन्धुओं से मिले। जब वे यथोचित रीति से बन्धु बान्धवों से मिल चुके तब उन्होंने हस्तिनापुर के भाई बन्धुओं से और हस्तिनापुर के भाई बन्धुओं ने अक्रूर से परस्पर कुशल प्रश्न पूँछा। तदनन्तर धृतराष्ट्र का आचरण अवगत करने के लिये कुछ दिनों तक हस्तिनापुर में रहे और रह कर यह बात जान ली कि धृतराष्ट्र के सब पुत्र दुष्ट हैं और वे सब अपने दुष्ट मन्त्री कर्ण आदि की मुट्ठी में हैं और मन्त्रियों ही के कहने पर चलते हैं। कुन्ती और विदुर से अक्रूर को पाण्डवों के गुण और उनके प्रति प्रजा का अनुराग कैसा था ये बातें विदित हुईं। साथ ही इन्हींसे अक्रूर ने यह भी जाना कि धृतराष्ट्र के दुष्ट पुत्र पाण्डवों की उन्नति देख जले जाते हैं और वे पाण्डवों के प्राण लेने के लिये किस प्रकार उन्हें विष आदि दे चुके हैं। कुन्ती ने भाई अक्रूर से अपने मैके का वृत्तान्त पूँछ कर कहाः—

कुन्ती—हे सौम्य! क्या मेरे मैके वालों को कभी मेरी याद आती है? शरणागत रक्षक मेरे भतीजे कृष्ण और बलभद्र को कभी अपने बुआ के पुत्रों का स्मरण आता है? मेरे दिन उसी प्रकार कष्ट से कट रहे हैं जैसे भेड़ियों के बीच किसी हिरनी के। क्या यह भी सम्भव है कि श्री कृष्णचन्द्र कभी यहाँ आकर हमें धीरज बँधावेंगे?

यह कह और श्री कृष्ण का स्मरण कर कुन्ती रोने लगी। तब दुःख और सुख को समान जानने वाले अक्रूर और विदुर ने कुन्ती के पुत्रों के जन्मदाता इन्द्र आदि की कथा कह कर कुन्ती को समझाया और धीरज बँधाया। तदनन्तर अक्रूर जी ने सब के सामने श्री कृष्ण का सन्देसा धृतराष्ट्र को सुना कर कहाः—

अक्रूर—हे विचित्रवीर्य के पुत्र! आप अब अपने बड़े भाई पाण्डु के न रहने से राजगद्दी पर बैठे हैं। यदि आप अपने स्वजनों को एक

दृष्टि से देखेंगे और धर्म्म से राज्य करेंगे तो आपका कल्याण होगा और आपकी सुकीर्ति जगत् व्यापिनी होगी। यदि ऐसा न किया तो यहाँ आपकी बदनामी होगी और मरने पर आपको नरक यातना भोगनी पड़ेगी। अतः आपको उचित है कि पाण्डु के पुत्रों में और अपने पुत्रों में भेदभाव न रखें।

राजन्! यह संसार अस्थायी है यहाँ सदा किसी कोई नहीं रहने का। स्त्री पुत्र तो दूर की बात है यह शरीर जिसे हम अपना समझ और कह रहे हैं, यह भी अपना साथ नहीं देता। जीव को अकेले ही अपने किये अच्छे बुरे कर्म्मों का फल भोगना पड़ता है। मत्स्य आदि जल-चारी जीवों के प्रिय जल को जैसे अन्य लोग ले जाते हैं, वैसे ही मूढ़ के अधर्म से एकत्र किये हुए धन को दूसरे लोग उड़ा ले जाते हैं। यह मूर्ख जीव जिन्हें अपना समझ अन्याय से पालता पोसता है; वे ही शरीर, पुत्र और सम्पत्ति आदि उसकी इच्छा पूरी हुए बिना ही बीच ही में उसे अकेला छोड़ देते हैं और उस जीव को नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। अतएव हे राजन्! इस लोक को स्वप्नवत् अनित्य समझ स्वयं अपने मन को दमन करो तथा शान्त एवं समदर्शी बनो।

इसके उत्तर में धृतराष्ट्र ने अक्रूर जी को सम्बोधन कर कहाः—

धृतराष्ट्र—हे अक्रूर! आपकी अमृत जैसी मधुर बातें सुन मेरा मन उन्हें सुनते सुनते नहीं अघाता तो भी पुत्रानुराग से मेरा मन सौदामिनी की तरह ऐसा चञ्चल हो रहा है कि आपके ये हितकर बचन उसमें ठहरने नहीं पाते यदुकुल में उत्पन्न साक्षात् भगवान् श्री कृष्ण का विधान अमिट है। उनकी दुर्बोध क्रीड़ा ही इस संसार का कारण है। वे ही कालरूप धारण कर, इस संसारचक्र को चला रहे हैं।

धृतराष्ट्र के इन्हीं वचनों को सुन अक्रूर जी उनके आन्तरिक अभिप्राय और उनके मन के झुकाव को जान गये और सुहृदों से आज्ञा ले मथुरा को लौट गये। मथुरा पहुँच अक्रूर ने हस्तिनापुर का सारा वृत्तान्त श्री कृष्ण और बलदेव जी से कहा।

द्वारकापुरी का निर्माण।

कंस की दो रानियाँ जिनके नाम अस्ति और प्राप्ति थे मगधराज जरासन्ध की बेटियाँ थीं। कंस के मारे जाने पर शोक से कातर वे अपने पिता के पास गयीं और अपने विधवा होने का कारण उसे बतलाया। इस दुःखदायी समाचार को सुन जरासन्ध पहले तो शोक विह्वल हुआ और पीछे उसे बड़ा क्रोध आया। क्रोध के आवेश में भर उसने पृथिवी तल से यादवों का चिन्ह तक न रखने का प्रयत्न किया। उसने तेइस अक्षौहिणी सेना को साथ ले मथुरा पुरी को चारों ओर से जा घेरा। यह देख मथुरावासी श्री कृष्ण के स्वजन बहुत डरे। तब श्री कृष्ण ने विचारा तेइस अक्षौहिणी सेना ही पृथिवी का भार है। मैं इस सेना का संहार कर जरासन्ध को इसलिये छोड़ दूँगा कि जिससे वह बची हुई सेना जोड़ बटोर कर फिर ले आवे और मैं उसे भी नष्ट करूँ। क्योंकि मेरा अवतार तो साधुओं की रक्षा और दुष्टों के संहार के लिये ही होता है।" श्री कृष्ण यह विचार कर ही रहे थे कि इतने में आकाश से दो दिव्य रथ आते हुए दीख पड़े। उन्हें देख श्री कृष्ण ने बलराम जी से कहाः—

श्री कृष्ण—दादा! आपका प्रिय रथ और अस्त्र शस्त्र आ गये। रथ पर चढ़ शत्रु सैन्य का संहार कर, यादवों को उबारिये। हमारा अवतार तो साधुओं की रक्षा के लिये ही है सो इस भार रूप शत्रुसैन्य को विनष्ट कीजिये।

इस प्रकार आपस में मंत्रणा कर, कृष्ण और बलभद्र ने पहले तो कवच पहिने, फिर अस्त्र शस्त्र ले तथा रथों पर सवार हो और थोड़ी सी सेना लेकर वे नगर के बाहिर निकले। श्री कृष्ण

के रथ के सारथि का नाम दारुक था। श्री कृष्ण ने नगर के बाहिर जा अपना शङ्ख बजाया। उस शङ्ख के नाद ने शत्रु पक्ष वालों का हृदय कँपा दिया। युद्धक्षेत्र में कृष्ण बलदेव को आये देख जरासन्ध ने उनके समीप जा कर कहा:—

जरासन्ध—अरे नीच कृष्ण! तू अभी छोकरा है। तेरे साथ लड़ते मुझे लज्जा आती है। अतः तू मेरे जामाता का घातक होने पर भी तुझसे लड़ने को मेरा जी नहीं चाहता। बालक जान तुझे छोड़े देता हूँ नहीं तो तेरा बचना कठिन था।

बलभद्र! तू यदि युद्ध करना चाहे तो सम्हल कर युद्ध कर, या तो तू मेरे बाणों से मर या मुझे मार।

श्री कृष्ण—अरे मन्द बुद्धि! जो शूर होते हैं वे अपनी बड़ाई का बखान नहीं करते किन्तु अपना पौरुष दिखाते हैं। अरे मगधराज! जान पड़ता है तेरा अन्तकाल निकट है अतः हम तेरी इन कुढङ्गी बातों का बुरा नहीं मानते।

यह सुनते ही मगधराज ने श्री कृष्ण को चारों ओर से घेर लिया। और जब श्री कृष्ण ने देखा कि शत्रु सेना ने उनकी सेना को बाण वर्षा से विकल कर डाला; तब उन्होंने सींग के बने अपने धनुष को उठा, शत्रु सेना को विनष्ट करना आरम्भ किया श्री कृष्ण ऐसी फुर्ती से बाण चलाते थे कि उनका धनुष अङ्गार चक्र की तरह मण्डलाकार दीख पड़ता था। श्री कृष्ण के बाणों से सैकड़ों सहस्रों हाथी घोड़े, पैदल मारे गये। उधर बलदेव जी के मूसल ने अनेकों शत्रुओं का संहार किया।

क्षण भर में सागर के समान दुर्गम और भयानक जरासन्ध की सेना का श्री कृष्ण और बलभद्र ने नाश कर डाला। जरासन्ध की सारी सेना मारी गयी। उसका रथ भी टूटा केवल प्राण मात्र उसके रह गये। तब सिंह जैसे झपट कर हाथी को पकड़ता है वैसे ही लपक कर बलदेव जी ने महाबली जरासन्ध को पकड़ लिया। फिर उसे वारुण और मानुष पाशों में बाँध बलभद्र जी ने उसे मारना चाहा; पर श्री कृष्ण ने न मारने दिया। क्योंकि श्री कृष्ण को तो जरासन्ध से अभी और काम कराना था। जरासन्ध छोड़ दिया गया, पर वह इतना लज्जित हुआ कि उसने राजधानी को न लौट कर किसी वन में बैठ कर तपस्या करने का अपने मन में संकल्प किया। पर उसके साथी राजाओं ने उसे ऐसी बातें समझायीं और उसे ऐसे बढ़ावे दिये जिससे उसे अपना पूर्व संकल्प त्यागना पड़ा। राजा लोगों ने समझाते हुए उससे कहा:—

राजागण—इस बार कोई संयोग ही ऐसा था जिससे आपको हारना पड़ा। अतः आप दुःख और लज्जा के वश न हो फिर से शत्रु पर चढ़ाई करने के उद्योग में लगें।

जरासन्ध के मन पर इन राजाओं की बात ने प्रभाव डाला और वह अपनी राजधानी को लौट गया। उधर शत्रु को जीत कर भगवान् श्री कृष्ण भी मथुरा में गये। ऊपर से साधु साधु कह कर देवताओं ने पुष्पों की वर्षा की और पृथिवी पर सूत मागध बन्दीजन श्री कृष्ण का गुणगान करते और विजयशङ्ख बजाते, नगर प्रवेश के समय उनके आगे आगे चले। इस विजयहर्ष में मथुरा नगरी खूब सजायी गई थी। सड़कों पर चन्दन के जल का छिड़काव किया गया। स्थान स्थान पर ध्वजा पताकाएँ शोभा बढ़ा रही थीं। स्थान स्थान पर ब्राह्मण वेद पाठ कर रहे थे। प्रत्येक द्वार बन्दन वारों से सुशोभित थे और बनावटी फूलों के फाटक बना कर खड़े किये गये थे। छत्तों पर खड़ी स्त्रियाँ श्री कृष्ण और बलराम के ऊपर दधि मिले अक्षत दूब के अंकुर और फूलों की वर्षा कर, बड़ी प्रीति के साथ उनकी ओर देखती थीं। लड़ाई में शत्रु जो सामान छोड़

गये थे वह सब ले जाकर श्री कृष्ण ने उग्रसेन के सामने रखा।

उधर मगधराज जरासन्ध के मन की ग्लानि दूर हुई और उसने एक दो बार नहीं सत्रह बार तेईस तेइस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई की। पर जिन यादवों के रक्षक स्वयं भगवान् श्री कृष्ण थे, उन्होंने हर वार उसे परास्त कर छोड़ छोड़ दिया। जरासन्ध अठारहवीं वार मथुरा पर आक्रमण करने वाला था कि इतने में नारद जी की उत्तेजना से कालयवन भी रणभूमि में दीख पड़ा। उसे युद्ध का व्यसन सा था। यह व्यसन उसे इसलिये पड़ गया था कि पृथिवी मण्डल पर घूमने पर भी उसे अपने जोड़ का कोई योद्धा वीर नहीं मिला था। सो नारद के मुख से यादवों की वीरता की प्रशंसा सुन उसने एक करोड़ सैनिक लेकर मथुरा जा घेरी। उसको देख श्री कृष्ण ने विचारा, दोनों ओर से यादवों पर विपत्ति का पर्वत खड़ा है। कालयवन तो आ ही पहुँचा, कल परसों जरासन्ध भी आ पहुँचेगा। यदि कालयवन से युद्ध छिड़ गया और जरासन्ध भी आ गया तो हमारे यादवों को वह या तो मार डालेगा या उन्हें पकड़ कर अपनी राजधानी में ले जायगा। अतः हम अब एक ऐसे दुर्गम दुर्ग को बनवावेंगे जहाँ मनुष्य की पैठ ही न हो। उसी दुर्ग में अपने स्वजनों को पहुँचा, मैं कालयवन से युद्ध करूँगा।

यह विचार पक्का कर एक रात ही में श्री कृष्ण ने समुद्र के बीच में बारह योजन विस्तीर्ण एक नगर बनवाया, जिसका नाम द्वारका रखा गया। उस नगर के बनाने में विश्वकर्मा ने अपनी सारी कारीगरी लगा दी। जो भवन, उद्यान आदि नगरों में होने चाहिये वे सब द्वारका में बनाये गये। इन्द्र ने श्री कृष्ण के पास कल्पवृक्ष और अपनी सुधर्म्मा सभा भेज दी। उस सभा में बैठने वाले पुरुषों को न तो भूख लगती न प्यास लगती और न शोक, मोह और न वृद्धावस्था उनको सताती है। वरुण ने मन के समान वेगवान् घोड़े भेजे। उन घोड़ों का सब शरीर तो सफ़ेद रङ्ग का था और कान काले। कुवेर ने द्वारका में आठों निधियाँ भेजीं तथा अन्य लोकपालों ने भी अपनी अपनी विभूतियाँ भेजीं।

श्री कृष्णचन्द्र ने सब मथुरा वासियों को द्वारका भेज और उनकी रक्षा का भार बलदेव जी को सौंप, कहा—"मैं मथुरा में कालयवन को मार अभी वहाँ से लौट कर आता हूँ।" यह कह श्री कृष्ण अकेले कमल की माला पहन नगर के द्वार से बाहर निकले और उनके हाथ में एक भी अस्त्र शस्त्र न था।

कालयवन का नाश।

नारद के बतलाये सब चिन्ह श्री कृष्ण के शरीर में देख कर कालयवन ने सोचा कि जब श्री कृष्ण पैदल हैं और उनके पास कोई शस्त्र नहीं हैं; तब मैं भी पैदल ही और बिना अस्त्र शस्त्र लिये ही इनसे लड़ूँगा। यह विचार पक्का कर वह उनके पीछे लौटा। उसे दौड़ते दौड़ते श्री कृष्ण पर्वत की एक गुफ़ा में ले गये। गुफ़ा में घुसने के पूर्व वह आक्षेप करता हुआ बोला:—"अरे कृष्ण! तू यदुवंश में उत्पन्न हुआ है तुझे भागना ठीक नहीं। यह कह वह श्री कृष्ण को पछियाते उस गुफा में घुस गया पर वहाँ उसे श्री कृष्ण न दिखलाई पड़े। उसमें एक मनुष्य सो रहा था। उसने समझा कि कृष्ण मुझे यहाँ तक तो भगा लाया और अब स्वयं ढोंग बना, पड़ कर सो रहा है। अतएव उसने उस पुरुष के बड़ी ज़ोर से एक लात मारी। वह पुरुष बहुत दिनों से वहाँ पड़ा सो रहा था सो लात खा कर वह जग गया और उठ बैठा। आँख खोलते ही पहले उस पुरुष को कालयवन ही सामने खड़ा दीख पड़ा। देखते ही वह कालयवन भस्म हो गया।

मुचकुन्द की कथा।

ये पुरुष थे इक्ष्वाकुवंशोद्भव व महाराज मान्धाता के पुत्र महा ब्रह्मण्य और सत्यवादी महाराज मुचुकुन्द। एक बार प्रवल पराक्रमी असुरों ने देवताओं को पराजित किया। तव असुरों के भय से भीत इन्द्र आदि देवताओं ने साहाय्य के लिये राजा मुचुकुन्द से प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर मुचुकुन्द ने बहुत दिनों तक स्वर्ग और इन्द्रादि देवताओं की रक्षा की। फिर जब कार्तिकेय को देवताओं ने अपना रक्षक पाया तब वे मुचुकुन्द से बोलेः—

देवगण—राजन्! अब आप हमारी रक्षा करने का कष्ट न उठाइये। सचमुच आपने बड़ा काम किया जो आपने राजपाट और पारिवारिक आनन्द को त्याग दिया। आपको यहाँ रहते इतने दिन बीते कि मृत्युलोक में अब न तो आपके पुत्र, रानी, मन्त्री आदि हैं और न आपके सामने की प्रजा। काल की महिमा महान है। वह प्राणियों को वैसे ही परिचालित करता है, जैसे पशुपाल पशुओं का। राजन्! आपका कल्याण हो। मुक्ति देने के तो हम अधिकारी नहीं हैं पर उसे छोड़ जो कुछ आप चाहते हो बतलावें। क्योंकि मोक्ष देने का काम नारायण का है।

इस पर मुचुकुन्द ने यह वर माँगा कि मुझे नींद दो। तब देवताओं ने कहाः—"जाइये, जाकर आप शयन कीजिये। तुम्हें सोते में जो कोई आ कर जगावेगा, उस पर तुम्हारी दृष्टि पड़ते ही वह तुरन्त भस्म हो जायगा।"

देवताओं से यह वर पाकर मुचुकुन्द कन्दरा में जाकर सो रहे। अतः उनको जगा कर कालयवन भस्म हुआ। जब कालयवन भस्म हो गया तब श्री कृष्ण राजा मुचुकुन्द के सामने प्रकट हुए। उनके दुर्द्धर्ष तेज से शङ्कित हो मुचुकुन्द ने उनसे धीरे धीरे पूँछाः—

मुचुकुन्द—आप हैं कौन जो इस असंख्य कण्टकाकीर्ण वन के बीच, पद्मपत्र सदृश कोमल चरणों से विचर रहे हैं? आप तो सब तेजस्वी पुरुषों के तेज के समूह से जान पड़ते हैं अथवा आप साक्षात् अग्निदेव हैं। आप सूर्य्य हैं? अथवा चन्द्रमा हैं? अथवा इन्द्र हैं? हे पुरुषश्रेष्ठ! हमें आपके जन्म कर्म और गोत्र सुनने की बड़ी इच्छा है।

यह कह राजा मुचुकुन्द ने अपना परिचय दिया और कहाः—

मुचुकुन्द—मैं इस निर्जन कन्दरा में अचेत सो रहा था। एक दुष्ट ने आ मुझे जगा दिया। उसे उसकी दुष्टता का फल भी मिल गया। आपके तेज के सामने मेरा तेज मन्द पड़ गया। मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं देर तक आपकी ओर निहार सकूँ।

यह सुन श्री कृष्ण ने मुचुकुन्द से कहाः—

श्री कृष्ण—राजन्! मेरे इतने जन्म और नाम हैं कि उनको मैं कहाँ तक गिनाऊँ। मैं स्वयं उन्हें गिनने में अशक्त हूँ। राजन्! जो श्रेष्ठ मुनि और ऋषि हैं वे भी मेरे नामों और जन्मों का अन्त नहीं पा सके। तिस पर भी अपना परिचय मैं संक्षेप में सुनाता हूँ। ब्रह्मा ने धर्म की रक्षा और पृथिवी का बोझ हलका करने के लिये मुझसे प्रार्थना की। तब मैंने वसुदेव के घर में जन्म लिया। वसुदेव का पुत्र होने से लोग मुझे वासुदेव कहते हैं। मैंने कंस को उसके प्रवल पराक्रमी अनुचरों सहित मारा है। इस दुष्ट यवन को भी मैंने ही तुम्हारी तीव्र दृष्टि से नष्ट करवाया है। मैं इस कन्दरा में इसी अभिप्राय से विशेष कर आया हूँ कि तुम पर अनुग्रह करूँ। तुमने मेरी बहुत दिनों तक आराधना की थी। अतएव अब जो तुम्हारी इच्छा हो सो वर माँग लो।

श्री कृष्ण के ये वचन सुन राजा मुचुकुन्द बहुत प्रसन्न हुए। क्योंकि एक बार वृद्ध गर्ग ने उनसे कहा था कि अट्ठाइसवें द्वापर के

अन्त में यदुवंश में भगवान् अवतरेंगे। वह गर्ग की बात मुचुकुन्द को स्मरण हो आयी। राजा ने समझ लिया कि यही देवादिदेव नारायण हैं। तब राजा ने श्री कृष्ण को प्रणाम किया और भगवान् की स्तुति की :

राजा ने कहा:—हे जगदीश्वर! संसारी नरनारी रूपधारी जीवगण आपकी माया में ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि वे परमार्थ सुख स्वरूप आपको नहीं देख सकते। अतएव आप को वे भजते भी नहीं। वे प्राणी एक दूसरे को ठग कर सुख पाने की आशा से दुःख के स्थान गृह में आसक्त हो जाते हैं। किसी प्रकार प्राणी का यह दुर्लभ नरवपु प्राप्त कर, विषय सुखों ही की प्रबल इच्छा में वे फँसे रहते हैं। माया मोहित मनुष्य भी गृह रूपी अन्ध-कूप में उसी प्रकार गिरते हैं जैसे तृणों से आच्छादित गढ़े में पशु। मैं भी अपने को राजा होने के अभिमान में पड़ स्त्री, धन, पृथिवी की माया में फँसा था। मैं देह ही को आत्मा समझे हुए था। मैं तो यही समझता हूँ कि मैंने इतना समय व्यर्थ ही गँवाया। उस समय मैंने आपका ध्यान तक न किया।

भगवन्! जिस मनुष्य की सद्गति होने को होती है उसे साधुसङ्ग मिलता है और साधुसङ्ग से उसे आपकी भक्ति उत्पन्न होती है। तब वह मुक्त हो जाता है। बड़े बड़े चक्र-वर्त्ती वन में बैठ कठोर तप इसी लिये करते हैं कि उनका माया मोह राजपाट की ओर से छूट जाय। सो आपकी अनुग्रह से मेरी वह ममता आपके दर्शन ही से जाती रही। जो निराभिमानी हैं वे आपके चरणों ही की सेवा का वर माँगते हैं। सो मैं भी आपके चरणों की शरण ग्रहण करता हूँ। भगवन् बहुत दिनों से कर्मफल रूपी विषय वासनाओं से सन्तप्त हो रहा हूँ तिस पर भी मेरी इन्द्रियाँ प्रबल हैं। भगवन्! मैं आपत्ति से घिरा हुआ हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। यह सुन श्री कृष्ण ने कहा:—"हे राजन्! आपकी बुद्धि निर्म्मल है और उच्चश्रेणी की है। क्योंकि मेरे कई बार लोभ दिखाने पर भी आपकी प्रवृत्ति विषय भोग की ओर नहीं है। मेरे जो अनन्य भक्त हैं उनकी बुद्धि सदा निर्मल रहती है और उनकी बुद्धि कभी विषय भोग की ओर नहीं जाती। राजन्! आप अपना मन मुझमें लगा जहाँ चाहे वहाँ इस धराधाम पर विचरण करें। मुझमें आपकी ऐसी ही अटल भक्ति बनी रहे। आपने क्षत्रिय धर्मानुसार आखेट में अनेक प्राणियों को मारा है। उस पाप को आप एकाग्र मन से तप कर नष्ट कर डालें। इस शरीर के छूटने पर आप सब प्राणियों के मित्र ब्राह्मण होंगे।

जरासन्ध की तेइसवीं चढ़ाई।

मुचुकुन्द ने कन्दरा से निकल कर देखा कि सारे मनुष्य, पशु, लता और वृक्ष क्षुद्र कलेवर के हो गये हैं। इन लक्षणों से उन्होंने जान लिया कि कलियुग का आरम्भ हो गया। अतः वे उत्तर दिशा की ओर चल दिये और गन्धमादन पर्वत पर पहुँचे। इस पवित्र पर्वत पर बदरिका-श्रम नामक पवित्र भगवान का स्थान है। मुचु-कुन्द इसी आश्रम में गये। वहाँ बैठ वे भग-वान् की आराधना में दत्तचित्त हुए।

उधर कालयवन के भस्म होने पर, श्री कृष्ण फिर मथुरा में गये और यवन सेना को नष्ट किया। फिर उन यवनों से लूटी हुई सम्पत्ति को, मनुष्यों, बैलों आदि वाहनों पर लाद द्वारका पुरी जाने को वे उद्यत हुए। इतने ही में तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर जरासन्ध वहाँ जा पहुँचा। उसे आते देख श्री कृष्ण और बलराम मनुष्यों की तरह वहाँ से भागे। जरासन्ध ने श्री कृष्ण आदि को पकड़ना चाहा और उनका पीछा किया। बहुत दूर दौड़ते दौड़ते जब दोनों भाई थक गये तब विश्रामार्थ वे दोनों प्रवर्षण नामक एक बहुत ऊँचे पर्वत पर चढ़ गये। यहाँ पर नित्य ही वर्षा हुआ करती है, इसीसे

इसका नाम प्रवर्षण पड़ा है। जब बहुत देर तक वे दोनों उस पर्वत के नीचे न आये; तब जरासन्ध ने उकता कर उस पर्वत पर उन दोनों को बहुत ढुँढ़वाया, पर जब उनका कुछ भी पता न चला तब उसने उस पर्वत के चारों ओर लकड़ियों का ढेर चुनवा उसमें आग लगवा दी। जिससे पर्वत सहित दोनों भाई आग में जल मरें। उस पर्वत पर आग जलते देख दोनों भाई ग्यारह योजन की ऊँचाई से पृथिवी पर कूद पड़े और शत्रुसेना की आँख बचा दोनों द्वारकापुरी में पहुँच गये। उधर जरासन्ध ने दोनों भाइयों को भस्म हुआ जान, प्रसन्न हो ससैन्य अपनी राजधानी की ओर प्रयाण किया।

रुक्मिणी का सन्देसा।

आनर्त्त देशाधिपति रैवत ने अपनी कन्या रेवती का विवाह बलदेव जी के साथ किया। अब श्री कृष्ण के विवाहों का वृत्तान्त लिखा जाता है।

विदर्भ देश के महाबली और महातेजस्वी राजा भीष्मक के पाँच पुत्र और एक सुमुखी कन्या थी। रुक्मी सब राजकुमारों में बड़ा था और रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश वा रुक्ममाली उसके चार छोटे भाई थे। उसकी सुशीला बहिन रुक्मिणी सब भाइयों से छोटी थी। रुक्मिणी ने आने जाने वालों के मुख से श्री कृष्णचन्द्र के गुण रूप की प्रशंसा सुन, श्री कृष्ण जी को मन ही मन अपना पति मनोनीत कर लिया था। श्री कृष्ण भी बुद्धि, उदारता, रूप, शील, तथा अन्य गुणों की खानि रुक्मिणी को अपनी अर्द्धाङ्गिनी बनाने का पक्का संकल्प कर चुके थे। रुक्मिणी के माता पिता भी श्री कृष्ण के साथ उसका विवाह करने को उद्यत थे, पर श्री कृष्णद्रोही रुक्मी ने नहीं माना और उसने आग्रह पूर्वक शिशुपाल के साथ अपनी बहिन का विवाह करना चाहा और इस बात की पक्काइत भी कर ली।

यह समाचार सुन रुक्मिणी को बड़ा दुःख हुआ। उसने अन्य उपाय न देख एक विश्वस्त ब्राह्मण के हाथ पत्र भेज श्री कृष्ण को इसकी सूचना दी। वह ब्राह्मण चलता चलता द्वारका में श्री कृष्ण की ड्योढ़ी पर पहुँचा और द्वारपाल द्वारा श्री कृष्ण के सामने उपस्थित किया गया। उस समय श्री कृष्ण सिंहासन पर बैठे थे पर ब्राह्मण देव को सामने देख उन्होंने सिंहासन छोड़ दिया और स्वयं उठ कर ब्राह्मण देव को आसन दे, उस पर उन्हें बैठाया। तदनन्तर बड़े आदर के साथ यथाविधि उनका पूजन किया। जब भोजन आदि से निवृत्त हो ब्राह्मणदेव विश्राम करने लगे तब श्री कृष्ण उनके पास गये और अपने सुकोमल हाथों से ब्राह्मणदेव के चरण दबाते हुए बोलेः—

श्री कृष्ण—हे द्विजश्रेष्ठ! आपका मन सदा सन्तुष्ट तो रहता है न? आप वृद्ध सम्मत सदाचार के अनुसार वर्ताव करते हैं न? मैं ये प्रश्न इसलिये करता हूँ कि यदि ब्राह्मण सब प्रकार सन्तुष्ट रहें और निज धर्म से च्युत न हों, तो वह धर्म ही उनकी सब कामनाओं को पूर्ण करता है। जो कोई बारम्बार इच्छित पदार्थों को पाकर भी असन्तुष्ट रहता है उसे भले ही इन्द्रपद ही क्यों न मिल जाय पर वह कभी सुखी और शान्त नहीं हो सकता। क्योंकि उसके मन को सन्तोष की शीतल छाया तो मिलती ही नहीं। किन्तु जो सन्तुष्ट हैं वे अकिञ्चन होकर भी बड़े सुख चैन से अपने जीवन को बिताते हैं। जो लोग स्वतः प्राप्त भोगों से सन्तुष्ट रहते हैं वे ही परोपकारी साधु हैं। वे ही प्राणी मात्र के परम बन्धु हैं। उनको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

ब्रह्मन्! आप लोगों को अपने राजा के राज्य में किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है? मुझे तो वही राजा बड़ा प्रिय लगता है जिसकी प्रजा सुखी है। आप जिस कार्य के लिये इस दुर्गम स्थान में आये हैं यदि गोप्य हो तो मुझे

बतलाइये। मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

इसके उत्तर में विप्रदेव ने अपने आने का कारण बतलाया। फिर रुक्मिणी की दी हुई चिट्ठी निकाली और श्री कृष्ण के कहने से स्वयं ब्राह्मण देव ने उसे पढ़ कर सुनाया। उस पत्री में रुक्मिणी जी ने लिखा था:—

हे त्रिभुवन सुन्दर! कानों द्वारा हृदय में घुस जो सुनने वालों के शरीरिक ताप को शमन करते हैं आपके वे गुण तथा आपके रूप की प्रशंसा सुन मेरा मन आप पर ऐसा आसक्त हुआ कि लोकलज्जा का बन्धन भी उसे रोकने में असमर्थ है। हे मुकुन्द! कुल, शील, रूप, विद्या, अवस्था, द्रव्य-सम्पत्ति और प्रभाव में आपकी जोड़ का दूसरा नहीं दृष्टि पड़ता। आपकी उपमा आप स्वयं ही हैं। हे पुरुषसिंह! विवाह का समय उपस्थित होने पर कौन ऐसी कुलवती गुणवती एवं बुद्धिमती रमणी होगी जो आपको अपना वर वरण न करे। अतः मैंने इसीसे आपको अपने मन में अपना पति मनोनीत कर लिया है। आप यहाँ आकर मुझे अपनी सहधर्मिणी बनाइये। हे कमलनयन! सिंह के भाग को शृगाल नहीं ले जा सकता। अतः मेरी अभिलाषा है कि शृगाल शिशुपाल आपके भाग पर हाथ भी न लगाने पावे। यदि मुझसे कोई भी ऐसा काम बन पड़ा हो जो भगवान् को प्रीतिकर हुआ हो तो मैं यही माँगती हूँ कि श्री कृष्ण आकर मेरा पाणिग्रहण करें और शिशुपाल आदि मेरे हाथ को छू तक न सकें। हे अजित! परसों ही विवाह का दिन है अतः आप इसके पहले ही चुपचाप यहाँ पहुँच जाइये। फिर यादव सेनापतियों को ले शिशुपाल आदि प्रतिपक्षियों को नष्ट कर, बल पूर्वक राक्षसी विधि के अनुसार मेरे साथ विवाह कीजिये। मेरी यही प्रार्थना है। मैं एक ऐसा उपाय बताती हूँ जिससे मेरे घर वालों की आपको हत्या न करनी पड़े और काम हो जाय। मैं अपने घराने की प्राचीन प्रथानुसार विवाह के एक दिन पहले कुलदेवी की पूजा करने अन्तःपुर के बाहिर जाऊँगी। वही समय ठीक है।

यदि मैं इस जन्म में आपकी प्रसन्नता प्राप्त न कर सकी तो अनब्याही रह कर, कठोर व्रतों द्वारा दुर्बल बन कर शरीर त्याग दूँगी। इस जन्म में न सही—किन्तु अगले किसी न किसी जन्म में तो अवश्य ही आपका प्रसाद प्राप्त होगा।"

पत्र पढ़ चुकने पर ब्राह्मण ने कहा:—

ब्राह्मण! हे वासुदेव! यही रुक्मिणी जी का गुप्त सन्देसा है। इस विषय में जो करना उचित हो सो कीजिये और शीघ्र ही कीजिये।

रुक्मिणी का सन्देसा सुन श्री कृष्ण प्रेम पूर्वक ब्राह्मण का हाथ अपने में लेकर मन्द मन्द मुसक्याते हुए उससे यह बोले।

श्री कृष्ण—भगवन्! जिस प्रकार रुक्मिणी का मन मेरे ऊपर आसक्त है। वैसे ही मैं भी उन पर असक्त हूँ। मुझे तो रात को नींद नहीं आती। मैं जानता हूँ रुक्मी ने केवल द्वेषभाव से मेरे विवाह में विघ्न डाला है और शिशुपाल को बुलाया है। किन्तु मैं उन अधम क्षत्रियों की सेना को मथ कर रुक्मिणी को ले आऊँगा।

यह कह कर श्री कृष्ण ने सारथि को बुलाया और उससे कहा:—

श्री कृष्ण—हे दारुक! शीघ्र रथ तैयार करो।

यह सुनते ही दारुक ने रथ में शैब्य, सुग्रीव, मेघ, पुष्प और बलाहक नामक चार घोड़े तुरन्त जोते और रथ ला कर श्रीकृष्ण के सम्मुख खड़ा किया। उस रथ पर पहले तो श्री कृष्ण सवार हुए फिर उस ब्राह्मण को उस पर चढ़ाया। उन शीघ्रगामी घोड़ों ने एक ही रात्रि में आनर्त्त देश से विदर्भ देश में उस रथ को पहुँचा दिया।

उधर कुण्डिन देश के राजा भीष्मक पुत्र के कथनानुसार शिशुपाल को अपनी कन्या देने

को उद्यत हुए और विवाह के पूर्व जो नेगचार होते हैं, उन्हें कराने लगे। वरात के स्वागत के लिये नगर झाड़ बुहार कर साफ़ किया गया और सजाया गया। नगरवासी भी साफ़ सुथरे वस्त्र और बहुमूल्य आभूषण धारण कर उस उत्सव में सम्मिलित हुए।

राजा ने यथाविधि पितरों और देवताओं का पूजन किया। ब्राह्मणों को भोजन कराये और उनसे मङ्गल पाठ कराया। चारु दशनों वाली रुक्मिणी ने स्नान किये और उनके विवाह सम्बन्धी सब नेगचार आरम्भ हुए। फिर रुक्मिणी को नवीन वस्त्र और अलङ्कार पहनाये गये। जो सर्वश्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण थे उन्होंने वेदत्रयी की ऋचाएँ पढ़ कर कन्या के रक्षाबन्धन किया। उधर चेदिराज ने भी अपने पुत्र की मङ्गल कामना के लिये समयोचित् कृत्य कराये। फिर बड़ी धूमधाम से वरात सजी—चेदिदेश का राजा दमघोष अपने पुत्र शिशुपाल को व्याहने के लिये कुण्डिनपुर में आ पहुँचा। महाराज भीष्मक ने उसकी बड़े आवभगत से अगवानी की।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि शिशुपाल और उसके पक्ष वालों को यह बात पहले ही से विदित थी कि कृष्ण और बलराम रुक्मिणी को हरने के लिये आवेंगे। अतः उनसे युद्ध करने के लिये शिशुपाल अपने मित्र और श्री कृष्ण के शत्रु जरासन्ध, दन्तवक्र विदूरथ और पौंड्रक राजाओं को युद्धार्थ सुसज्जित कर अपने साथ लाया था।

जब बलराम जी को शिशुपाल की इस सतर्कता और श्री कृष्ण के अकेले जाने का वृत्तान्त अवगत हुआ तब अनिष्ट की आशङ्का कर वे भी चतुरङ्गिणी सेना साथ ले शीघ्र ही कुण्डिनपुर को चल दिये। उधर रुक्मिणी जी श्री कृष्ण के आने की प्रतीक्षा कर रही थीं और उनका कुछ भी सन्देसा न मिलने से वे मन ही मन अनेक प्रकार के तर्क वितर्क कर चिन्ता ग्रस्त हो अपने को धिक्कार रही थीं। अन्त में रुक्मिणी जो सङ्कटमोचन हरि के ध्यान में निमग्न हुईं। इतने ही में भावी शुभ की सूचना देने वाले उनके शरीर के वाम अङ्ग फड़के। साथ ही उनके भेजे वे ब्राह्मण देव भी आकर उनके सामने उपस्थित हुए क्या उनका मुख मण्डल देखते ही रुक्मिणी ने जान लिया कि काम होगया? तब मुसका कर रुक्मिणी ने उन ब्राह्मण से पूँछा—हे विप्रदेव कहिये क्या समाचार हैं?" उत्तर में उन्होंने कहा—"मेरे साथ ही श्री कृष्ण तुम्हें हरने के लिये कुण्डिनपुर में आ गये हैं और तुम्हें हरने के लिये वे कृत संकल्प हैं।" श्री कृष्ण के आने का समाचार सुन रुक्मिणी जी के आनन्द की सीमा न रही। उस समय उन ब्राह्मण को देने योग्य कोई वस्तु न देख केवल प्रणाम कर और बहुत सा धन दे उन्हें सन्तुष्ट किया वा उधर विदर्भराज ने कन्या का विवाह देखने के लिये श्री कृष्ण और बलदेव को आया सुन बड़ा आनन्द प्रकट किया। यही नहीं किन्तु वे बड़े समारोह से उन दोनों की अभ्यर्थना और पूजन के लिये उनके पास गये। फिर उन दोनों का यथाविधि आतिथ्य कर ठहरने को स्थान दिया। श्री कृष्ण का आगमन सुन विदर्भवासियों के झुण्ड के झुण्ड श्री कृष्ण को देखने के लिये उनके डेरे के चारों ओर एकत्रित होने लगे। उन्हें देख सब लोग यही कहते कि रुक्मिणी का विवाह तो श्री कृष्ण ही के साथ होना ठीक है। यही नहीं किन्तु वे लोग श्री कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह के लिये मनौती मनाने लगे।

इतने में वीर रक्षकों से घिरी रुक्मिणी जी पैदल ही देवी का पूजन करने के लिये अन्तःपुर से निकलीं। वे चुपचाप जा रही थीं और उनके साथ उनकी सखी सहेलियों के अतिरिक्त उनकी माता आदि बड़ी बूढ़ी स्त्रियाँ भी थीं सहस्रों बार वधू अनेक प्रकार के उपहार और भेंट ले और अच्छे प्रकार विभूषित ब्राह्मण-

स्त्रियाँ—माला, चन्दन, वस्त्र, आभूषण आदि लेकर राजकुमारी के साथ होलीं। गाने वाले—बाजे बजाने वाले भी साथ में थे। वन्दी मागध सूत प्रशंसा की वाणियाँ कहते हुए नववधू को घेर कर चले।

मन्दिर के पास पहुँच कर रुक्मिणी ने हाथ पैर धो आचमन किया। तदनन्तर वे अम्बिका के मन्दिर में गयीं। अम्बिका के निकट जा और उन्हें प्रणाम कर वे बोलीं:—

रुक्मिणी—हे अम्बिका देवी! कल्याणकारी आपकी सन्तान आदि के सहित मैं आपको प्रणाम करती हूँ। मेरी इस कामना का कि श्री कृष्ण मेरे पति हों आप अनुमोदन कीजिये।

तदनन्तर चन्दन पुष्प, अक्षत, आदि से रुक्मिणी जी ने देवी का पूजन किया। साथ की ब्राह्मणियों ने भी पुए, कचौड़ी पूरी आदि चढ़ा शिव और पार्वती का पूजन किया। फिर उस प्रसाद को रुक्मिणी को दे उन ब्राह्मणियों ने रुक्मिणी को अमोघ आशीर्वाद दिये। तब मौनव्रत को भङ्ग कर और दासी का हाथ पकड़ रुक्मिणी जी अम्बिका के मन्दिर से निकलीं।

उस समय रुक्मिणी के रूप की मधुर छटा विलक्षण और बड़े बड़े धीर वीर जितेन्द्रियों के मन को मोहने वाली थी। उनकी उस मनोहारिणी छवि को देख उनके साथी बड़े बड़े यशस्वी और वीर योद्धा मोहित हो गये और अचेत हो पृथिवी पर गिरने लगे। श्री कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में रुक्मिणी जी धीरे धीरे पैर उठाती चली जाती थीं। इतने में एक ओर से आते हुए श्री कृष्ण को राजकुमारी ने देखा। राजकुमारी रथ पर चढ़ना चाहती थीं इतने ही में श्री कृष्ण निकट पहुँचे और शत्रुओं के सामने ही अपने ही रथ पर रुक्मिणी को चढ़ा कर वे वहाँ से चल दिये। जिन क्षत्रियों ने उनका पीछा करना चाहा—उनको श्री कृष्ण ने वहीं शान्त कर दिया। सिंह जैसे गीदड़ों के बीच से अपना भाग ले जाय, वैसे ही श्री कृष्ण रुक्मिणी को ले गये और रक्षक राजा लोग देखते ही रह गये। उनके किये कुछ भी न हो सका।

जरासन्ध आदि मानी राजा गण बहुत उछले कूदे और अपने को धिक्कारने लगे।

फिर अपने अपने वाहनों पर सवार हो एवं कवच पहन तथा हाथ में धनुष ले श्री कृष्णचन्द्र के पीछे दौड़े। उनको अपनी ओर आते देख यादव सेनापति भी उनका सामना करने को तैयार हुए और ठिठुक गये। दोनों ओर से युद्ध होने लगा। यादवों की सेना को विपक्षियों के चलाये वाणों से आच्छादित देख रुक्मिणी जी घबड़ानी और उन्होंने आँख उठा कर श्री कृष्ण जी की ओर देखा। श्री कृष्ण जी रुक्मिणी जी का अभिप्राय झट समझ गये और बोले—"सुन्दरी डरो मत। अभी तुम्हारी अर्थात् यादवों की सेना शत्रुओं का संहार करेगी। इसमें तिल भर भी सन्देह मत करो।"

उधर शत्रुओं की मार को न सह कर गद सङ्कर्षण आदि वीर शत्रु पक्ष के हाथी घोड़े और रथों पर वाणों की वर्षा करने लगे। फल यह हुआ कि शत्रु पक्ष के अनेक हाथी घोड़े और सैनिक मारे गये। यह देख जरासन्ध आदि नाम राजा युद्ध छोड़ भाग गये और श्रीहीन शिशुपाल के पास जा कर बोले:—

राजा गण—हे पुरुषों में सिंह! तुम इतने उदास क्यों होते हो? इस औदास्य को छोड़ो। कोई भी प्राणी क्यों न हो सुख दुःख कभी उसे स्थायी रूप से नहीं सहने पड़ते। कभी कोई बात उसके अनुकूल होती है। कभी उसके प्रतिकूल। ईश के वश में रह कर यह देहधारी जीव वैसे ही नाचता है जैसे बाजीगर की इच्छानुसार कठपुतली नाचती है।

जरासन्ध—देखिये ! मैंने सत्रह बार तेइस तेइस अक्षौहिणी सेना लेकर श्रीकृष्ण पर आक्रमण किया और सदा हारा। पर मैंने हतोत्साह न होकर अट्ठारहवीं बार उसको भगाया। तिस पर भी न तो मैं अपनी हार पर कभी दुःखी हुआ और न कभी अपने जय पर प्रसन्न। दैव की प्रेरणा से अत्यन्त प्रवल और अटल काल प्राणीमात्र को सुखी दुःखी करता है। इस समय हम वीर श्रेष्ठों को मुट्ठी भर यादवों ने हरा दिया है। पर उसके लिये शोक करना व्यर्थ है। क्योंकि इस समय हमारे शत्रुओं का समय अनुकूल है। इससे उनकी जीत हुई। किन्तु जब हमारा अनुकूल समय आवेगा तब हम उनको जीत लेंगे।

मित्र जरासन्ध के इस प्रकार समझाने पर शिशुपाल अपने अनुचरों सहित अपने घर लौट गया और जो राजा युद्ध में नहीं मारे गये थे वे भी अपने अपने घरों को लौट गये।

किन्तु अपनी वहिन के हरे जाने का वृत्तान्त सुन रुक्मिणी के जेष्ठ भाई रुक्मी से न रहा गया। उसने क्रोध के आवेश में भर कवच धारण किया और हाथ में धनुष ले समस्त राजाओं के सामने प्रतिज्ञा की कि—मैं यह आप लोगों से सच्च सच्च कहता हूँ कि युद्ध में कृष्ण को मारे विना और रुक्मिणी को लौटाये विना मैं कुण्डिनपुर में पैर न रखूँगा।" यह प्रतिज्ञा कर और रथ में बैठ वह वहाँ से चल दिया। रास्ते में सारथि के सामने अनेक प्रकार की डींगे हाँकता हुआ रुक्मी श्री कृष्ण के पीछे दौड़ा और श्री कृष्ण के र[illegible] निकट पहुँच कर कहने लगाः—

रुक्मी—अरे यदुकुल कलङ्क ! क्षणभर ठहर काक जैसे घी को ले भागता है, वैसे ही मेरी वहिन को चुरा कर कहाँ भागा जाता है? अरे मन्द ! तूँ बड़ा मायावी है। आज मैं तेरे गर्व को खर्व करूँगा। तू कपट युद्ध में बड़ा पटु है। तेरे पक्ष में भलाई इसीमें है कि कन्या को छोड़ अपने प्राणों को ले भाग जा—नहीं तो मेरे पैने वाणों के प्रहार से अभी अभी तू भूमि पर लोटता दीख पड़ेगा।

रुक्मी के इन दुर्वचनों के उत्तर में श्री कृष्ण जी मुसक्या दिये और उसके धनुष को काट कर छः वाण उसके शरीर में मारे। फिर उन्होंने रुक्मी के रथ को काट डाला और सारथि सहित चारों घोड़े मार डाले। इस पर रुक्मी ने दूसरा धनुष उठा पाँच वाण श्री कृष्ण के मारे। श्री कृष्ण ने तब उसका दूसरा भी धनुष काट डाला। तब रुक्मी ने तीसरा धनुष उठाया पर श्री कृष्ण ने उसे भी काट डाला। यह देख रुक्मी ने परिघ, त्रिशूल तलवार आदि जौन सा अस्त्र उठाया—उसीको श्री कृष्ण ने काट गिराया। तब खिसिया कर रुक्मी हाथ में तलवार ले रथ से कूद पड़ा और वैसे ही श्री कृष्ण की ओर झपटा जैसे पतङ्ग जलने के लिये दीपक पर लपकता है। वह श्री कृष्ण के निकट तक पहुँचने भी नहीं पाया कि मारे वाणों के श्री कृष्ण ने उसकी ढाल तलवार को टुकड़े टुकड़े कर डाला और रुक्मी को पकड़ वे उसे पैनी तलवार से मार डालने को उद्यत हुए।

अपने भाई के मारे जाने का उपक्रम देख रुक्मिणी जी डरीं और पति के पैरों पर गिर इस प्रकार दीन वचन कहने लगींः—

रुक्मिणी—हे योगेश्वर ! आपकी शक्ति का पार कोई नहीं पा सकता। हे देवदेव ! हे जगत्पते ! हे कल्याण रूप ! हे महावाहो ! मेरे भाई का वध करना आपको उचित नहीं है।

उस समय रुक्मिणी जी की दशा बहुत शोच्य हो गई थी। मारे भय के उनका सारा शरीर काँप रहा था, होठों पर पपड़ी पड़ गयी थी और अश्रुवेग से गला रुद्ध हो गया था। रुक्मिणी जी ने श्री कृष्ण के पैर पकड़ जब भाई के प्राणों की भिक्षा माँगी तब श्री कृष्ण ने

रुक्मी को छोड़ दिया। मारा तो नहीं पर दुपट्टे से उसके हाथ पैर कस रथ के पीछे बाँध लिया। फिर उसके सिर और दाढ़ी मोछ के थोड़े थोड़े केश छोड़ सब मूड़ दिये। रुक्मी की यह दशा हुई और शत्रु की सेना को कुचल कर यादव सैन गरजने लगी और श्री कृष्ण के निकट पहुँच अधमरे रुक्मी को देखा। रुक्मी को उस दशा में देख बलदेव जी के मन में दया उपजी और उन्होंने रुक्मी के बन्धन खोल श्री कृष्ण से कहा:—

बलदेव—कृष्ण! यह काम तुमने अच्छा नहीं किया। अपने नतैत को इस प्रकार विरूप बनाना हमारे लिये बड़ी निन्दा की बात है। विरूप करना और वध करना एक ही सा है।

इस प्रकार श्री कृष्ण के काम को निन्द्य ठहरा बलदेव जी ने रुक्मिणी को भी बहुत कुछ समझा बुझा कर धीरज बँधाया। बलराम की युक्ति पूर्ण और मीठी बातें सुन रुक्मिणी का जी ठिकाने हुआ और उन्होंने वैमनस्य को त्याग दिया।

उधर कृष्ण के हाथ से अपमानित और अप दस्थ रुक्मी लौट कर कुण्डिनपुर न गया। किन्तु उसने भोजकर नामक एक नये नगर की नींव डाली और वह अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार इस अपने नये नगर ही में रहने लगा।

श्री कृष्ण रुक्मिणी को लिये हुए द्वारका में पहुँचे और वहाँ विधि पूर्वक उनका रुक्मिणी के साथ विवाह हुआ। द्वारका नगरी इस विवाहोत्सव के उपलक्ष्य में जगर मगर हो उठी। आनन्द की लहरों से पुरी विलोड़ित हुई। फिर रुक्मिणी हरण के गीतों का गाना सुन राजा तथा राजकुमारियाँ बहुत विस्मित हुईं। द्वारकावासी इस शुभ विवाह से बहुत प्रसन्न हुए।

प्रद्युम्न का जन्म।

कामदेव पहले शिव द्वारा भस्म किया जा चुका था। उसी कामदेव ने शरीर पाने के लिये श्री कृष्ण का आश्रय लिया। तब वही कामदेव रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ और उसका नाम प्रद्युम्न पड़ा। ये प्रद्युम्न अपने पिता से किसी बात में कम न थे।

शम्बर वध।

काम रूपी शम्बर नामक एक दैत्य था जो प्रद्युम्न को बड़ी सूतिका गृह से उसी समय उठा ले गया जब उनके दाँत भी नहीं निकल पाये थे। क्योंकि शम्बर ने कामदेव से अपने पूर्व जन्म की शत्रुता का बदला लेना चाहा और इसी अभिप्राय से वह प्रद्युम्न को समुद्र में फेंक अपने घर चला गया। समुद्र में गिरते ही एक मत्स्य झट बालक प्रद्युम्न को निगल गया पीछे वही मत्स्य पकड़ा गया और धीवर उसे शम्बर की भेंट के लिये उसके पास ले गये। शम्बर ने उस विशाल मत्स्य को अपने रसोई घर में भिजवा दिया। रसोइयों ने जब उस मत्स्य का पेट चीरा तो उसके पेट से एक बालक निकला। मनुष्य के बालक को मत्स्य के पेट से निकला देख रसोइयों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उस बालक को ले जा कर मायावती को दिया। उसे देख मायावती भी बहुत चकराई। पर तत्क्षण नारद जी ने वहाँ पहुँच कर उसका आश्चर्य मिटाते हुए उस बालक की उत्पत्ति का सारा हाल बतला उसका पूरा पूरा परिचय दिया। मायावती कामदेव की पतिव्रता स्त्री रति थी और शिव के कोप से भस्म कामदेव के पुनर्जन्म की प्रतीक्षा कर रही थी। शम्बरासुर ने मायावती को अपनी रसोई की देखभाल के लिये रख छोड़ा था। रति ने उस बालक का यथार्थ परिचय पा कर बड़े यत्न से उसका पालन पोषण किया। थोड़े ही दिनों बाद प्रद्युम्न युवा हो गये। उनके रूप की माधुर्य छटा को देख मायावती का मन डिगा। प्रद्युम्न मायावती को अपनी माता करके जानते थे। अतः उसकी नियत डिगी देख

उनसे न रहा गया और उन्होंने उससे पूँछा—माता! तुम्हारी बुद्धि में यह वैपरीत्य क्यों दीख पड़ता है? " तुम मातृभाव परित्याग कर पत्नी भाव से मेरे पास रहती हो—इसका कारण क्या है?" इसके उत्तर में रति ने कहाः—

रति—प्रभो! तुम तो नारायण के पुत्र हो। यह दुष्ट शम्बर तुमको सूतिकागृह से उठा लाया था। तुम कामदेव हो और मैं पूर्वजन्म की तुम्हारी पत्नी रति हूँ। जब तुम्हारे दाँत भी नहीं निकल पाये थे, तभी इस असुर ने तुम्हें समुद्र में फेंक दिया था। वहाँ एक मत्स्य ने तुम्हें निगल लिया। दैवात् वही मत्स्य शम्बरासुर की रसोई में पकड़ कर लाया गया और उसका पेट चीरने पर तुम निकले। अब तुम इस मायावी को नष्ट कर अपने माता के सन्ताप को जाकर दूर करो।

यह कह कर मायावती ने सब माया को मिटाने वाली महामाया नाम्नी माया सिखलाई। उस विद्या को सीख प्रद्युम्न जी शम्बर के पास जा उसे कुवाक्य कह कर उत्तेजित करने लगे। वह तुरन्त ही क्रोध में भर और गदा हाथ में ले घर से निकला। शम्बर ने प्रद्युम्न को ताक कर उन पर गदा चलाई। जिसे प्रद्युम्न ने अपनी गदा पर रोप लिया। यह देख शम्बर अदृश्य हो गया और आकाश में जा प्रद्युम्न पर पत्थरों की वर्षा करने लगा। तब प्रद्युम्न ने मायावती की बतलाई महामाया से काम निकाला। शम्बरासुर की सब माया प्रद्युम्न ने विफल की। अन्त में प्रद्युम्न ने एक पैनी तलवार से शम्बरासुर का सिर काट लिया। यह देख देवताओं ने प्रद्युम्न जी के ऊपर पुष्पों की वर्षा कर उनकी स्तुति की।

मायावती आकाश मार्ग से चल सकती थी—अतः वह अपने पति प्रद्युम्न को अपनी पीठ पर बिठा द्वारका में पहुँची। अपनी पत्नी सहित प्रद्युम्न अन्तःपुर में गये। प्रद्युम्न का रूप रङ्ग ठीक श्रीकृष्ण जी का जैसा था। अतः उनको देख अन्तःपुर की स्त्रियों ने उन्हें श्री कृष्ण ही जाना और लज्जावश वे इधर उधर छिप गयीं। फिर उनके रूप में कुछ वैचित्र्य देख वे जान गयीं कि यह श्री कृष्ण नहीं हैं और कोई है। तब सब स्त्रियों ने आकर प्रद्युम्न को मायावती सहित घेर लिया और साश्चर्य उन्हें देखने लगीं। रुक्मिणी जी को प्रद्युम्न के देखते ही सहसा अपने खोये हुए पुत्र का स्मरण हो आया। और उनके स्तनों से स्नेह के कारण अपने आप दूध की धार निकलने लगी। तब तो रुक्मिणी जी मन ही मन अनेक प्रकार के तर्क वितर्क करने लगीं। इतने में वसुदेव और देवकी सहित स्वयं श्री कृष्ण वहाँ जा पहुँचे। वे सब वृत्तान्त जानते थे—पर उन्होंने कहा कुछ नहीं वे ज्यों के त्यों चुपचाप खड़े रहे। इतने में नारद जी ने वहाँ जाकर प्रद्युम्न के सारे पूर्व वृतान्त का परिचय दिया। नारद जी के मुख से उस आश्चर्यमय वृत्तान्त को सुन अन्तःपुर वासिनी सब स्त्रियाँ बड़ी प्रसन्न हुईं। देवकी वसुदेव कृष्ण बलदेव तथा अन्यान्य सब स्त्रियों सहित रुक्मिणी जी ने प्रद्युम्न को अपने गले लगाया। खोये हुए और जिसके मिलने की आशा से सब लोग हाथ धोये हुए बैठे थे—उसको पाकर द्वारकावासियों के आनन्द की सीमा न रही।

स्यमन्तकमणि हरण।

सत्राजित् नामक एक यादव था जो सूर्य्य का परम भक्त और सखा था। सूर्य्य ने उस पर प्रसन्न हो उसे स्यमन्तक नामक एक मणि दिया। उस देदीप्यमान मणि को गले में धारण कर सत्राजित् द्वारका में पहुँचा। उस मणि में इतना प्रकाश था कि उसकी ओर देखने से लोगों की आँखें चौंधिया गईं। लोगों ने उसे सूर्य्यनारायण जान कर श्रीकृष्ण से कहाः—"हे कमलनयन गोविन्द! सूर्य्यनारायण अपनी तीक्ष्ण किरणों से हमारे नेत्रों को चौंधिया कर आपके दर्शन करने के लिये आ रहे हैं। सब

देवता आपके मिलने के लिये आपकी प्रतीक्षा किया करते हैं। पर पाते नहीं।"

उन अनजान लोगों की इन बातों को सुन श्री कृष्ण मुसक्या दिये और बोलेः—

श्री कृष्ण—यह सूर्य्यदेव नहीं हैं—यह तो सत्राजित् नामक सूर्य्य भक्त एक यादव है। और यह प्रकाश उसके गले में पड़ी हुई मणि का है।

उधर सत्राजित् ने अपने घर पहुँच, ब्राह्मणों से मङ्गलाचरण करा उस मणि को एक देवालय में रख दिया। उस मणि में यह बड़ा गुण था कि जहाँ वह रहती वहाँ किसी प्रकार की बीमारी—दुर्भिक्ष और किसी प्रकार का भी अरिष्ट नहीं होता था और वह मणि नित्य आठ भार सुवर्ण दिया करती थी।

इस मणि को श्री कृष्ण ने उग्रसेन जी के लिये सत्राजित से माँगा। पर श्री कृष्ण के महत्व से अपरिचित सत्राजित् ने उसे देना अस्वीकार किया। कुछ दिनों बाद सत्राजित् का भाई प्रसेन उस मणि को गले में पहन और घोड़े पर चढ़ मृगया के लिये वन में गया। वहाँ एक सिंह ने उसे घोड़े सहित मार डाला। वह सिंह मणि सहित पर्वत की एक कन्दरा में घुस रहा था कि उसे ऋक्षराज जाम्बवान मिले। जाम्बवान् ने उस सिंह को मार वह मणि छीन ली। फिर उस मणि को ले जाकर ऋक्षराज ने खेलने के लिये अपनी कन्या को दिया।

उधर सत्राजित् अपने भाई को न देख सन्ताप करने और कहने लगाः—

सत्राजित्—मेरा भाई मणि पहन कर वन को गया था। अवश्य ही श्री कृष्ण ने मणि लेने के लिये उसे मरवा डाला होगा।

धीरे धीरे यह बात पहुँचते पहुँचते श्री कृष्ण के कान तक पहुँची। सुनते ही श्री कृष्ण नगरवासियों को साथ ले इस झूठे कलङ्क को मिटाने के लिये वन में गये। इधर उधर ढूढ़ते हुए उन्होंने घोड़े सहित प्रसेन और सिंह को मरा हुआ पाया। जहाँ सिंह मरा हुआ पड़ा था वहाँ से कुछ ही दूर पर ऋक्षराज का अन्धकार-मय बिल भी दीख पड़ा। तब श्री कृष्ण सब लोगों को उस बिल के द्वार पर छोड़ स्वयं अकेले उसके भीतर गये। वहाँ जाकर देखा कि एक बालिका उस मणि से खेल रही है। उस मणि को उससे छीनने के अभिप्राय से श्री कृष्ण उसके पास ठिठक कर खड़े हो गये एक अपूर्व मनुष्य को इस प्रकार खड़े देख बालिका की धाय चिल्ला उठी। उसकी चिल्लाहट सुन जाम्बवान् आकर श्रीकृष्ण से भिड़ गये। अट्ठा-इस दिनों तक दोनों में युद्ध होता रहा। अन्त में श्री कृष्ण के मूकों की मार से जाम्बवान् का सारा शरीर शिथिल पड़ गया और शरीर से पसीना निकल पड़ा। तब ऋक्षराज की आँखें खुलीं और उन्हें ज्ञान हुआ। वे कहने लगेः—

ऋक्षराज! अब मैंने जाना। आप तो साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। प्राणीमात्र का बल आप ही तो हैं। जो प्रजापति विश्व की सृष्टि करते हैं—उनके आप ही उत्पन्न करने वाले हैं। आपको लोग पुराणपुरुष इसलिये कहते हैं कि आप विश्व ब्रह्माण्ड के यावत् पदार्थों के उपादान कारण हैं। जिनको सृष्टि के संहार का काम सौंपा गया है उनके ईश्वर और महा प्रबल काल भी आप ही हैं। प्रभो! आपके थोड़े ही कोप से सागर क्षुब्ध हुआ था और आपको तत्क्षण पार जाने का मार्ग दिया था। परन्तु अपने यश को चिरस्थायी करने के लिये सेतु को रचना करा और उस पार जा रावण को मार कर आपने अपने यश से लङ्का को उज्ज्वल कर दिया था।

जब ऋक्षराज को ज्ञान हुआ तब श्री कृष्ण ने अपने परमभक्त ऋक्षराज के शरीर पर हाथ फेर कर उनकी सारी थकन मिटा दी और कहाः—

श्री कृष्ण—हे ऋत्तराज ! मणि लेने के अभिप्राय से मैं तुम्हारे बिल में आया हूँ। क्योंकि मुझे इस मणि से अपने मिथ्या कलङ्क को मिटाना है।

यह सुन ऋत्तराज ने भगवान् का पूजन किया और केवल मणि ही उन्हें न लौटाई किन्तु अपनी कन्या जाम्बवती भी उन्हें अर्पण कर दी।

उधर बारह दिनों तक तो नगरवासी श्री कृष्ण की प्रतीक्षा करते हुए उस बिल के द्वार पर ठहरे पर तेरहवें दिन श्री कृष्ण की ओर से हताश हो वे लोग द्वारका को लौट गये। श्री कृष्ण के उस बिल से बाहिर न निकलने का दुःखदायी संवाद सुन देवकी रुक्मिणी आदि श्री कृष्ण के परिवार के लोग बहुत दुःखी हुए। द्वारकावासियों ने सत्राजित् को अकोस कर श्री कृष्ण के पुनः मिलने की आशा से चन्द्रभागा देवी की आराधना की। पूजा समाप्त होने पर इधर तो चन्द्रभागा देवी का आशीर्वाद देना था—उधर उस आशीर्वाद को सत्य करते हुए स्वयं श्री कृष्ण जी मणि और जाम्बवती को लिये हुए द्वारका में जा पहुँचे। उनको लौटा देख उनके घर वालों और द्वारकावासियों के आनन्द की सीमा न रही।

तदनन्तर श्री कृष्ण ने एक दर्बार किया और उसमें अन्यान्य लोगों के साथ साथ सत्राजित् को भी बुलाया। जब सब लोग एकत्रित हो चुके तब श्रीकृष्ण ने उस मणि का सारा वृत्तान्त सब को सुना कर वह मणि सत्राजित को सौंप दी। सत्राजित् ने लज्जित होकर वह मणि ले ली और अपने किये पर पछताता वह अपने घर गया। वह अपने किये पर बहुत घबड़ाया। उसे अब यह भय लगा कि श्री कृष्ण जैसे बलवान् के साथ झगड़ा ठान कर न जाने मेरी क्या गति हो। फिर वह उनको प्रसन्न करने का उपाय सोचने लगा। सोचते सोचते यह उपाय निकाला कि अपनी कन्या को श्री कृष्ण के साथ विवाह कर यौतुक में मणि उन्हींको दे डालूँ। यह सोच उसने अपनी कन्या और मणि श्री कृष्ण को दे डाली। यथाविधि श्री कृष्ण ने सत्यभामा के साथ विवाह किया। सत्यभामा बड़ी रुपवती, शीलवती और उदार थी। अनेक राजाओं ने उसके साथ विवाह करने की कामना प्रकट की थी।

श्री कृष्ण ने सत्यभामा को अङ्गीकार कर उनके पिता सत्राजित से कहाः—

श्री कृष्ण—मणि लेना हम नहीं चाहते। क्योंकि यह सूर्य का प्रसाद है और आप सूर्य के भक्त हैं। अतः यह सूर्य का प्रसाद आपही के पास रहना चाहिये। हमें केवल इससे निकला हुआ सुवर्ण मात्र चाहिये।

सत्राजित वध।

पाण्डवों का लाक्षाभवन में माता कुन्ती सहित भस्म होने का संवाद सुन श्री कृष्ण तो बलदेव जी के साथ हस्तिनापुर गये और इधर श्री कृष्ण की अनुपस्थिति का लाभ उठाने के लिये अक्रूर और कृतवर्म्मा ने शतधन्वा से कहाः—

देखो, सत्राजित् ने पहले हम लोगों से प्रण किया था कि वह अपनी कन्या हमें देगा पर पीछे से वह अपनी बात बदल गया और कन्या श्री कृष्ण को दे डाली। अब उससे वह मणि श्रेष्ठ तुम क्यों नहीं ले लेते। हमारी समझ में तो सत्राजित् को भी वहीं भेज देना चाहिये जहाँ उसका भाई प्रसेन गया है।

गतायु शतधन्वा अक्रूर और कृतवर्म्मा की बातों में आ गया और उसने एक दिन सोते में सत्राजित् को मार डाला और स्यमन्तक मणि लेकर वह चल दिया। अन्तःपुर वासिनी सत्राजित् की स्त्रियाँ अनाथ की तरह उच्चस्वर से चिल्लाती रहीं। सत्यभामा अपने पिता का वध देख "हाय पिता जी !" कह कर विलखती रहीं। तदनन्तर उन्होंने अपने पिता के शव को तेल भरी नाव में रखवा दिया और स्वयं विलाप

करती हुई हस्तिनापुर को गयीं। वहाँ पहुँच कर उन्होंने सत्राजित् के मारे जाने का सारा वृत्तान्त श्री कृष्ण से कहा। श्री कृष्ण और बलदेव लोकाचार दिखाते हुए—"हा बुरा हुआ बड़ी विपत्ति आई!" कह कर रोने लगे। तदनन्तर श्रीकृष्ण अपने भाई और स्त्री सहित द्वारका को लौट आये और शतधन्वा को मार कर उससे स्यमन्तक छीनने के लिये कटिबद्ध हुए।

जब यह बात उस दुराचारी शतधन्वा को विदित हुई तब वह भयभीत हो प्राण बचाने के लिये कृतवर्म्मा के पास जाकर उनसे साहाय्य पाने का प्रार्थी हुआ। इस पर कृतवर्म्मा ने कहाः—

कृतवर्म्मा—भाई कृष्ण बलदेव साक्षात् ईश्वर हैं। मुझमें भला इतनी शक्ति कहाँ जो उनका सामना कर सकूँ। ऐसा कौन है जो उनके विरुद्ध हो कुशल पूर्वक रह सके। देखो जब उन्होंने महाबली कंस को उसके अनुचरों सहित मार डाला और जरासन्ध जैसा वीर सत्रह बार चढ़ाई करके भी उनका कुछ न कर सका और स्वयं हार कर चुपचाप हो बैठा तब उन्हीं श्री कृष्ण बलदेव को चिढ़ा कर कौन सुखी हो सकता है।

कृतवर्म्मा से इस प्रकार का कोरा उत्तर पाकर शतधन्वा अक्रूर के पास गया और उनसे सहायता माँगी। अक्रूर जी ने कहाः—

अक्रूर—उन दोनों भाइयों की शक्ति को जान कर कौन उनके विरुद्ध खड़ा हो सकता है। जो लीला के लिये इस समय ब्रह्माण्ड को रचते, पालते और संहार करते हैं, जिनकी माया का पार न पाकर बड़े बड़े प्रजापति तक उनकी चेष्टा तक का पता नहीं पाते, जिन्होंने सात वर्ष की अवस्था में फूल की तरह गोवर्द्धन पर्वत को उठा लिया उन अद्भुतकर्म्मा भगवान् को तो प्रणाम करने ही से कल्याण हो सकता है।

जब दोनों की ओर से कोरा उत्तर मिला, तब स्यमन्तक तो उसने अक्रूर जी को सौंप दी और स्वयं सौ योजन चलने वाले घोड़े पर सवार हो वह वहाँ से भागा। तब उसे पकड़ने के लिये बड़े वेग से जाने वाले घोड़ों को रथ में जुतवा और उस रथ पर बैठ श्री कृष्ण और बलदेव भी उसके पीछे भागे। चलते चलते मिथिलापुरी के वन में पहुँच शतधन्वा का घोड़ा गिर पड़ा। वह उसे वहीं छोड़, पैदल ही भागा। पर तो भी श्री कृष्ण ने उसका पीछा न छोड़ा। कुछ दूर आगे चल कर शतधन्वा को श्री कृष्ण ने पकड़ कर चक्र से मार डाला। फिर उसके कपड़ों में स्यमन्तक मणि खोजी परन्तु वह मणि न मिली। यह वृत्तान्त लौट कर श्री कृष्ण ने बलदेव जी से कहा और बोले—"मणि तो उसके पास निकली नहीं, हमने व्यर्थ ही उसे मारा।" इस पर बलदेव जी ने कहाः—

बलदेव—तब अवश्य ही शतधन्वा ने वह मणि द्वारका ही में किसी के पास रखवा दी है। तुम द्वारका को लौट जाओ और उस मणि का पता लगाओ। मैं अपने प्रियभक्त विदेहराज जनक से मिलना चाहता हूँ।

यह कह बलदेव जी मिथिलापुरी में पहुँचे। मिथिलेश ने बलदेव जी का बड़े सम्मान के साथ आगत स्वागत किया। बलदेव जी कई वर्षों तक सुख पूर्वक मिथिला नगरी में रहे।

ऊपर की घटना के कुछ दिनों बाद धृतराष्ट्रतनय दुर्योधन मिथिलापुरी में पहुँचा और वहाँ बलदेव जी से उसने गदायुद्ध की शिक्षा पायी।

इधर श्री कृष्ण ने द्वारका में पहुँच शतधन्वा के वध करने और स्यमन्तक न मिलने का हाल सत्यभामा से कहा। फिर सत्राजित की और्द्धदैहिक कृत्य किया। शतधन्वा का मारा जाना सुन अक्रूर और कृतवर्म्मा बहुत डरे और द्वारका छोड़ कर विदेशपर्य्यटनार्थ

चल दिये। क्योंकि सत्राजित् का वध शतधन्वा ने इन्हीं दोनों की उत्तेजना से किया था।

मणिसहित अक्रूर के चले जाने पर द्वारका वासियों को अनेक प्रकार की आधिव्याधियों ने आकर घेर लिया। तब श्री कृष्ण के माहात्म्य को भूल कुछ लोग उन विपत्तियों का कारण अक्रूर जी के प्रवास को बतलाने लगे।

एक बार काशी में सूखा पड़ने पर वहाँ के नरेश ने अपनी कन्या गान्दिनी का विवाह अक्रूर के पिता श्वफल्क के साथ कर दिया था। तब काशी में वर्षा हुई थी। अक्रूर जी उन्हीं श्वफल्क के पुत्र थे। अतः लोग उनका प्रभाव भी उनके पिता के समान ही समझते थे। जब बड़े बड़े बूढ़े लोगों ने श्री कृष्ण से कहा कि जहाँ अक्रूर रहते हैं वहाँ न तो अकाल पड़ता है और न महामारी रोग होता है. तब विचारने पर भगवान् ने जाना कि इन उत्पातों का कारण अक्रूर का प्रवास नहीं है, किन्तु स्यमन्तकमणि का यहाँ न रहना है। यह विचार उन्होंने दूत भेज कर अक्रूर जी को बुलवाया और उनका आदर सत्कार कर उनसे कहाः—

श्री कृष्ण—हे अक्रूर! शतधन्वा तुम्हें मणि दे गया है और वह है तुम्हारे पास, यह मैं भलीभाँति जानता हूँ। सत्राजित् के कोई पुत्र नहीं है। अतः उनकी कन्या का पुत्र ही उस मणि के पाने का अधिकारी है। क्योंकि जो जिसको पितृऋण से छुड़ाता है वही उसका उत्तराधिकारी होता है। अतः दूसरा कोई भी उस मणि को न्याय पूर्वक नहीं ले सकता। अतएव वह मणि तुम्हारे ही पास रहनी चाहिये, क्योंकि तुम सच्चरित्र हो। किन्तु मणि न मिलने की बात पर हमारे बड़े भाई को विश्वास नहीं होता अतएव एक बार तुम उस मणि को सब भाई बन्धुओं के सामने निकाल कर दिखा दो। मैं सब जानता हूँ अतः तुम्हारा यह कहना कि मणि मेरे पास नहीं है वृथा है। क्योंकि इस बीच में तुमने सुवर्ण की कई एक वेदियाँ बनवा कर कई एक यज्ञ किये हैं।

इस प्रकार ऊँच नीच समझाने पर अक्रूर जी का भय दूर हुआ। उन्होंने वस्त्र के भीतर से मणि निकाल कर श्री कृष्ण के हाथ में दे दी। तब श्री कृष्ण ने उस मणि को सब को दिखला और अपने ऊपर लगे हुए झूठे कलङ्क को मिटा, वह मणि अक्रूर को लौटा दी।

श्री कृष्ण के विवाह।

एक बार श्री कृष्ण सात्यकी आदि अपने आत्मियों को साथ लेकर पाण्डवों से मिलने हस्तिनापुर गये। उन्हें आते देख सब पाण्डव उठ खड़े हुए और उन्हें गले लगाया। भगवान् के अङ्गस्पर्श से पाण्डवों के सब किल्विष दूर हो गये। जब श्री कृष्ण एक सुन्दर आसन पर जा कर बैठ गये, तब नवविवाहित द्रौपदी जी ने सलज्ज भाव से श्री कृष्ण को आकर प्रणाम किया। तदनन्तर कुन्ती उनके पास आयी और स्नेह के वेग में भर दोनों नेत्रों से अविराम अश्रुधारा बहाने लगी। फिर अपने को सम्हाल कर कुन्ती ने श्री कृष्ण से अपने घरवालों की राज़ी ख़ुशी पूँछी। श्री कृष्ण ने अपनी बुआ कुन्ती से उनकी बहू और पुत्रों के कुशल प्रश्न किये। फिर पहले कष्टों को स्मरण कर कुन्ती ने श्री कृष्ण से कहाः —

कुन्ती—हे कृष्ण! जिस समय तुमने हमारे कष्ट का वृत्तान्त सुन अक्रूर को हमारा संवाद लेने के लिये भेजा था हम उसी समय से कुशल पूर्वक हैं और तभी से हम सनाथ हैं। तुम तो जगत् मात्र के आत्मा हो इसलिये तुम्हें अपने पराये का भ्रम नहीं हो सकता। तुमको स्मरण करते हो सारे कष्ट और सारी मानसिक चिन्ताएँ अपने आप मिट जाती हैं।

युधिष्ठिर—हम लोगों के किसी बड़े उग्र सुकृत का उदय हुआ है जो आपने अपना योगियों को भी दुर्लभ दर्शन घर बैठे दिया है।

इस प्रकार पाण्डवों को सन्तुष्ट करते हुए श्री कृष्ण ने बर्सात के कई मास हस्तिनापुर ही में रह कर बिता दिये।

एक दिन श्री कृष्ण को साथ लेकर अर्जुन आखेट खेलने वन में गये। वहाँ अर्जुन ने बहुत से वनैले पशु पत्ती मारे। उन यज्ञ योग्य पशुओं को अर्जुन के अनुचरों ने ले जा कर युधिष्ठिर के सामने रखा। उधर आखेट करते करते अर्जुन और श्री कृष्ण प्यास से विकल हो यमुना के तट पर पहुँचे और हाथ पैर धो कर यमुना का स्वच्छ जल पिया। वहीं यमुना तट पर उन दोनों को एक परम सुन्दरी कन्या दीख पड़ी। श्री कृष्ण के कहने से अर्जुन ने उस कन्या के पास जा कर कहा:—

अर्जुन—हे सुन्दरी! तुम कौन हो,. किस की स्त्री हो? किस अभिप्राय से इस निर्जन स्थान में घूम रही हो। जान पड़ता है अभी तुम्हारा विवाह नहीं हुआ और तुम अपनी जोड़ का वर खोज रही हो।

उस स्त्री का नाम कालिन्दी था। उसने उत्तर में कहा:—

कालिन्दी—हे पुरुषश्रेष्ठ! मैं भगवान् सूर्य्य की कन्या हूँ और विष्णु के साथ विवाह करने की कामना से यहाँ कठोर तप कर रही हूँ। अनाथों के नाथ श्रीपति को प्रसन्न करने के लिये ही यह सारा कृत्य हो रहा है। मेरा नाम कालिन्दी है। मेरे पिता ने मेरे लिये यमुना में एक भवन बनवा दिया है। जब तक भगवान् के दर्शन न होंगे, तब तक मैं उसी भवन में सुरक्षित रह कर तप करूँगी।

श्री कृष्ण यद्यपि सारा वृत्तान्त पहले ही से जानते थे तथापि अर्जुन के मुख से उसका वृत्तान्त सुन कालिन्दी को रथ पर बिठा युधिष्ठिर के पास ले गये। फिर अर्जुन के अनुरोध से श्री कृष्ण ने विश्वकर्मा द्वारा एक विचित्र नगर बनवाया। इसके बाद कुछ दिनों और भी श्री कृष्ण हस्तिनापुर में रहे। इसी बीच में अग्नि को अर्जुन ने खाण्डव वन जलाने की अनुमति दी। इन्द्र और अर्जुन में युद्ध हुआ। उस समय अर्जुन की सहायता के लिये श्री कृष्ण उनके सारथी बने। अग्नि ने प्रसन्न हो अर्जुन को विचित्र धनुष, रथ, दो अक्षय तर्कस और एक दिव्य कवच दिया। खाण्डव वन में उस समय मायासुर भी था जिसे अग्नि देव ने अर्जुन के अनुरोध से छोड़ दिया था। अतः उसमें और अर्जुन में परस्पर मैत्री हो गयी थी। उसने अर्जुन के लिये सुन्दर विचित्र सभा भवन बना दिया था। इसी सभाभवन में प्रवेश करने पर दुर्योधन को स्थल में जल और जल में स्थल का भ्रम हुआ था।

वर्षा बीतने पर और पाण्डवों से विदा हो सात्यकी सहित श्री कृष्ण द्वारकापुरी लौट गये। वहाँ शुभ मुहूर्त्त में श्री कृष्ण और कालिन्दी का बड़े समारोह से विवाह हुआ।

विन्द और अनुविन्द नाम के अवन्ती नरेश दुर्योधन के वशवर्त्ती थे और उसीके कहने में चलते थे। उनकी बहिन का नाम मित्रविन्दा था। उसने स्वयम्वर सभा में श्री कृष्ण के गले में जयमाल पहनाना निश्चित किया। किन्तु कृष्णद्रोही उसके दोनों भाइयों ने उसे ऐसा करने से रोका। मित्रविन्दा कृष्ण की बुआ राजाधि देवी की कन्या थी। कृष्णचन्द्र राजाओं को परास्त कर, बलपूर्वक उनके देखते देखते मित्रविन्दा को घर ले आये।

कोशल देश के राजा अयोध्या नरेश नग्नजित के एक रूपवती कन्या थी, जिसका नाम सत्या और नाग्नजिती था। बड़े बलवाले दुष्ट सात बैलों को जो एक रस्सी में नाथ सकता उसीके साथ उसका विवाह हो सकता था। परन्तु अनेक लोग ऐसा न कर सके और विफल हो लौट चुके थे श्री कृष्ण बड़ी फौज ले कोशल देश में पहुँचे। नग्नजित ने उनका बड़ी श्रद्धा के साथ आतिथ्य किया। फिर वे उनसे बोले:—

नग्नजित—नारायण! आप आत्मानन्द में मग्न हैं; अतएव आपको किसी वस्तु की कमी

नहीं है। मैं क्षुद्र एक जीव आपका क्या कार्य कर सकता हूँ ब्रह्मा आदि जिनकी पदरज को सादर अपने मस्तक पर रखते हैं, उनको मैं किस प्रकार सन्तुष्ट करूँ।

श्री कृष्ण—हे राजन् अपने धर्मपालन में रत क्षत्रिय के लिये कवियों ने माँगना निन्द्य कर्म ठहराया है। तथापि आपके साथ सुहृद भाव स्थापित करने के लिये हम आपसे आपकी कन्या माँगते हैं। साथ ही हम कन्या का मूल्य स्वरूप धन कुछ भी न देंगे।

राजा -हे नाथ! आप यावत् गुणों के एक मात्र आश्रयस्थल हैं। आपके शरीर में अनिन्दिता लक्ष्मी का वास है। अतएव हे प्रभो! आपसे अधिक उत्तम और प्रार्थनीय और कौन वर इस कन्या के लिये मिलेगा। पर कन्या पाने के लिये एक प्रण है। वह यह है कि जो पुरुष सात दुर्दान्त बैलों को अपने वश में कर लेगा वही मेरी कन्या पाने के योग्य वर समझा जायगा। यदि आप इन सातों को वश में कर लें तो यह कन्या आप ही की स्त्री होगी।

यह सुन श्री कृष्ण उठ खड़े हुए और दुपट्टे से कमर कस कर उन बैलों को नाथने के लिये तैयार हुए। उन्होंने अपने सात रूप रख उन सातों दुर्दान्त बैलों को अपने वश में कर नाथ लिया।

फिर बालक जैसे लकड़ी के बैलों को खींचे फिरें वैसे ही वे उन सातों को घसीटते फिरे। यह देख राजा बहुत प्रसन्न हुए और अपनी कन्या का हाथ श्री कृष्ण के थमा दिया। रनवास और नगर में आनन्द की लहरें लहराने लगीं और वर वधू पर आशीर्वादों की वर्षा होने लगी। मङ्गल बाजे बजने लगे। राजा ने कण्ठ में पदक धारण किये हुई सुन्दर वेश धारिणी तीन सहस्र सुन्दरी दासियाँ दस सहस्र सुसज्जित गौवें, नौ हज़ार हाथी, नौ लाख रथ, करोड़ घोड़े एवं नौ पद्म दास यौतुक में दिये। रथ में दामाद और कन्या को बिठा अयोध्या नरेश ने उन दोनों को विदा किया। मार्ग में रक्षा के लिये कुछ सेना भी उनके साथ कर दी। अयोध्या नरेश तो दामाद को विदा कर लौट गये पर रास्ते में श्री कृष्ण को उन राजाओं ने आ छेका जो उन दुर्धर्ष सप्त बैलों को न नाथ सकने के कारण कन्या की प्राप्ति से हताश हो चुके थे। श्री कृष्ण के साथ उनके प्रिय सखा गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन भी थे। उन्होंने देखते देखते सब शत्रुओं को इस प्रकार भगाया जैसे सिंह छोटे छोटे हिरनों को भगा देता है। द्वारकापुरी में पहुँच कर सत्या का श्री कृष्ण के साथ विधिपूर्वक विवाह हुआ।

इस विवाह के बाद कृष्ण ने अपनी बुआ श्रुतिकीर्ति की कन्या भद्रा के साथ विवाह किया। भद्रा का विवाह उसके भाई सन्तर्दन ने प्रसन्नता पूर्वक कर दिया था। इसके बाद श्री कृष्ण अकेले ही जाकर मद्र देश के राजा की कन्या सुलक्षणा को स्वयंवर से वैसे ही हर लाये जैसे गरुड़ अमृत हर लाये थे।

नरकासुर अथवा भौमासुर का वध।

भूमिनन्दन भौमासुर ने इन्द्र की माता अदिति के कुण्डल और इन्द्र का छत्र[1] बलपूर्वक छीन लिया। यही नहीं, किन्तु वह इन्द्र की मन्दर शिखर नामक महामणि भी ले आया था। तब इन्द्र ने जाकर श्री कृष्ण से सारा वृत्तान्त कहा। सुनते ही सत्यभामा सहित श्री कृष्ण गरुड़ पर चढ़ कर प्राग्ज्योतिष नामक नगर में गये। वह नगर अनेक उपायों से दुर्गम

[1] यह छत्र था तो वरुण का, पर लोकपालों के इन्द्र अधीश्वर थे; अतः वरुण का छत्र छिनने से इन्द्र ने अपना अपमान समझा।

बनाया गया था। उस नगर की रक्षा के लिये गिरि दुर्ग और शस्त्र दुर्ग बने हुए थे। इनके अतिरिक्त नगर के चारों ओर पर्वत थे तथा वह जल वायु अग्नि के आवरण थे। मुर दैत्य के दस सहस्र पाश भी नगर के चारों ओर फैले हुए थे। वह नगर ऐसा सुरक्षित बना लिया गया था कि उसके भीतर शत्रु का बैठना असम्भव था। पर श्री कृष्ण के लिये नगर की रक्षा के ये सारे उपाय तुच्छ थे। उन्होंने हो गदा के प्रहार से पहाड़ों के आवरण को चूर चूर कर डाला। बाणों की मार से शस्त्रों के परकोटे को भङ्ग किया, चक्र से जल, वायु और अग्नि के आवरण नष्ट कर डाले और खड्ग से मुर के पाश काट डाले। फिर अपने शङ्ख के प्रचण्ड नाद से शत्रु के वीरों के हृदय को दहलाते हुए नगर के मुख्य परकोटे की दीवालों को ढा दिया। तब उस पाँच सिर वाले मुर दैत्य के कानों में पाञ्चजन्य की प्रलय कालीन प्रचण्ड ध्वनि पड़ी। वह दैत्य भी प्रलय कालीन सूर्य्य और अग्नि के समान उग्र मूर्ति धारण कर और त्रिशूल हाथ में ले वैसे ही पाचों मुख खोल कर श्री कृष्ण की ओर झपटा जैसे सर्प गरुड़ पर चोट करने को लपकता है। उसने निकट जा त्रिशूल गरुड़ के ऊपर चलाया और पाँचों मुखों से बड़ा भयानक शब्द किया। गरुड़ की ओर त्रिशूल को आते देख श्री कृष्ण ने दो बाण चला उसके तीन टुकड़े कर के उसे व्यर्थ कर दिया। फिर उस दैत्य के खुले हुए मुख में कइ पैने पैने तीर मारे। तब उन बाणों की चोट से व्यथित भौमासुर ने श्री कृष्ण पर गदा चलाई। श्री कृष्ण ने अपनी गदा से उस गदा के भी कई टुकड़े कर के उसे व्यर्थ कर डाली। तब निःशस्त्र होने पर वह दोनों हाथ उठा कर श्री कृष्ण की ओर लपका। यह देख श्री कृष्ण ने चक्र से उसका सिर काट डाला। ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु, वसु, नभस्वान् और वरुण ये मुर के सात पुत्र थे। ये अपने पिता के वध से सन्तप्त, भौमासुर की आज्ञानुसार युद्ध के लिये चले। पीठ नामक एक असुर सेनापति बन कर उनके साथ गया। ये असुर मण्डला जा कर श्री कृष्ण पर शस्त्रों की वर्षा करने लगे। श्री कृष्ण उनके चलाये शस्त्रों के टुकड़े टुकड़े कर फेंकने लगे। साथ ही एक एक कर उस असुर मण्डली के प्रत्येक वीर को यमालय भेज दिया। अपनी सेना और सेनापतियों को परास्त होते देख भौमासुर समुद्र सम्भव मदमत्त हाथी पर चढ़ कर युद्ध के लिये बाहर निकला। उनके साथ और भी अनेक समुद्री हाथी थे। नरकासुर ने श्री कृष्ण को गरुड़ की पीठ पर सत्यभामा सहित बैठे देख उन पर शतघ्नी चलाई। श्री कृष्ण ने भौमासुर के सब सैनिकों को तथा हाथी घोड़ों के अङ्गों को छेद डाला। भौमासुर की ओर से जो अस्त्र शस्त्र श्री कृष्ण पर फेंके जाते, उन्हें श्री कृष्ण काट डालते थे। गरुड़ भी अपने परों को फड़फड़ा कर अनेक मातङ्गों को दलित कर रहे थे। हाथी गरुड़ के मारे विकल हो भागे। अब अकेला नरकासुर ही रणभूमि में रह गया। तब उसने गरुड़ के ऊपर एक अमोघ-शक्ति फेंकी। पर उस शक्ति का गरुड़ के अङ्ग पर लगने से भी कुछ भी न हुआ। इतने में नरकासुर ने श्री कृष्ण को मारने के लिये एक त्रिशूल हाथ में लिया। पर वह त्रिशूल चलावे ही चलावे; तब तक चक्र से श्री कृष्ण ने उसका सिर काट डाला। उसका सिर कटा देख दैत्य तो हाहाकार करने लगे और देवता ऋषि आदि ने प्रसन्न हो श्री कृष्ण पर फूलों की वर्षा की।

भौमासुर के मारे जाने पर पृथिवी देवी ने अदिति के कुण्डल, वरुण का छत्र और वह महामणि श्री कृष्ण के सामने रखी और उन्हें वैजयन्ती माला पहनायी। फिर हाथ जोड़ कर वह कहने लगीः—

पृथिवी—आप ब्रह्म हैं, आपकी शक्ति अनन्त है। हे अन्तर्यामी! आपको प्रणाम है। हे शरणा-

गत वत्सल यह भौमासुर का पुत्र भगदत्त भयभीत होकर आपके चरणों की शरण में आया है। इसकी रक्षा कीजिये और अपना कलिकलुषनाशन हस्त इसके सीस पर रख दीजिये।

पृथिवी की इस प्रार्थना को स्वीकार कर श्री कृष्ण ने भगदत्त को अभयदान दिया। तदनन्तर सर्वसमृद्धि पूर्ण भौमासुर के भवन में श्री कृष्ण ने प्रवेश किया। भौमासुर बलपूर्वक राजाओं की सोलह हज़ार एक सौ कन्याएँ पकड़ लाया था। वे सब श्री कृष्ण का रूप देख उन पर मोहित हो गयीं और मन ही मन उनको विधाता का भेजा अपना पति समझ विधाता से विनती कर कहने लगीं—"हे विधाता! येही श्री कृष्णचन्द्र हमारे पति हों हमारी इस कामना को आप पूरी कीजिये।" श्री कृष्ण ने उन कन्याओं को पालकी में बिठा द्वारका भेज दिया।

श्रीकृष्ण की यात्रा।

वहाँ से श्री कृष्ण सीधे इन्द्र लोक को गये। वहाँ इन्द्र और इन्द्राणी ने उनका बड़ा आदर किया। भगवान् ने अदिति को उनके कुण्डल लौटाये और द्वारकापुरी को प्रस्थान किया। स्वर्ग से लौटते समय श्री कृष्ण ने सत्यभामा के अनुरोध से कल्पवृक्ष उखाड़ कर गरुड़ की पीठ पर रख लिया। यह देख देवताओं ने झगड़ा किया, पर श्री कृष्ण ने उन सब को परास्त कर कल्पवृक्ष सहित द्वारकापुरी को प्रस्थान किया। द्वारका पहुँच कल्पवृक्ष सत्यभामा जी के उद्यान में लगाया गया। उस वृक्ष की गन्ध के लोलुप स्वर्ग के भ्रमर भी द्वारकापुरी में चले आये। श्री कृष्ण ने उन सोलह हज़ार एक सौ राजकन्याओं के साथ पृथक् पृथक् भवनों में प्रत्येक के साथ विवाह किया। विवाह के अनन्तर श्री कृष्ण साधारण गृहस्थ की तरह उन नव विवाहिता स्त्रियों के साथ रमण करने लगे। वे भी उनको अपनी सेवा से प्रसन्न करने लगीं।

श्री कृष्ण और रुक्मिणी में परस्पर कथोपकथन।

एक बार श्री कृष्णचन्द्र रुक्मिणी जी के भवन में शैया पर सुख पूर्वक बैठे थे और रुक्मिणी जी सखियों सहित पङ्खा डुलाती हुई अपने पति की सेवा कर रही थीं। रुक्मिणी जी का भवन सब समृद्धियों से भरा पूरा था। श्री कृष्ण ने मुसक्या कर रुक्मिणी जी से कहा:—

श्री कृष्ण—हे राजकुमारी! लोकपालों जितना वैभव रखने वाले राजा गण तुमसे विवाह करना चाहते थे। मदनमत्त शिशुपाल तुम्हारे साथ विवाह करने के अभिप्राय से दल बल सहित तुम्हारे घर पहुँच ही चुका था और तुम्हारे पिता और भाई भी उसीके साथ तुम्हारा विवाह करना निश्चित भी कर चुके थे। ऐसी अवस्था में ऐसे सुरूपवान् धनी और प्रभावशाली राजकुमारों को छोड़ हम जैसों के साथ तुमने क्या सोच कर विवाह किया?

हे सुन्दरि! तुम जानती ही हो कि राजाओं के भय से हमें समुद्र के बीच में आकर रहना पड़ा है। हम राजासन के आगे पीछे कभी अधिकारी भी नहीं हैं। दुर्बोध आचरण वाले और जो स्त्रियों के वशवर्त्ती नहीं हैं उन पुरुषों का अनुसरण करने वाली स्त्रियाँ प्रायः कष्ट उठाती हैं। हम स्वयं निष्किञ्चन हैं और अकिञ्चन जन ही हम से स्नेह करते हैं। धन, मान, ऐश्वर्य, अवस्था में समान लोगों के साथ मैत्री और विवाह करना ठीक है।

हे विदर्भ राजकुमारी! तुम एक भिक्षुक के मुख से मेरी प्रशंसा सुन और मुझ ऐसे गुण-हीन नर को अपना पति बना, धोखे में आ गई। तुम दूरदर्शिनी नहीं हो। जो हुआ सो हुआ, अब भी अवसर है। तुम चाहो तो अब भी किसी धनी और रूपवान क्षत्रिय को ढूँढ़ कर उसे अपना पति बना सकती हो, हम तो तुम्हें शिशुपाल, जरासन्ध जैसे मदमत्त राजाओं के गर्व को खर्व करने के लिये हर लाये हैं। क्योंकि असत्जनों के तेज को नष्ट करना हमारा कर्त्तव्य है।

श्री कृष्णचन्द्र राजकुमारी रुक्मिणी से कभी अलग नहीं होते थे। सदा उनके साथ बने रहते थे। अतः रुक्मिणी जी के मन में यह भाव उत्पन्न हो गया था कि श्री कृष्ण सब से अधिक मुझीको चाहते हैं। अतः रुक्मिणी जी के इस दर्प को दूर करने के लिये श्री कृष्ण चन्द्र जी ने इतनी लम्बी चौड़ी भूमिका बाँधी थी। श्री कृष्ण के मुख से रुक्मिणी जी ने न तो इसके पहले कभी ऐसे वचन सुने हो थे और न कभी सुनने की उन्हें आशा ही थी। पर अब ऐसे वचन सुन वे बहुत डरीं और उनका हृदय धड़कने लगा। वे कुछ क्षणों के लिये अपने को भूल गयीं, उनके हाथ से पङ्खा खिसक गया। सिर के बाल खुल गये। श्री कृष्णचन्द्र की यह हँसी उन्होंने सच्ची समझ ली। इसीसे उनकी यह दशा हुई। उनकी यह दशा देख श्री कृष्ण से न रहा गया। उनके मन में दया उपजी। उन्होंने झट रुक्मिणी जी को दोनों भुजाओं से उठा कर शैया पर बिठाया। फिर उनके केश सम्हाल अपने ही हाथों से उनके आँसू पोंछे। फिर वे उन्हें इस प्रकार समझाने लगे:—

श्री कृष्ण—हे वैदर्भी! तुम मेरे ऊपर कुपित मत होना। मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि तुम मुझे छोड़, अन्य को चाहना तो दूर की बात है, जानती भी नहीं। मैंने तो ये बातें तुम्हें खिजाने के लिये कहीं थीं। तुमने उन्हें सच्ची समझ लीं। गृहस्थों को यही बड़ा सुख है कि वे अपनी स्त्री से उपहास कर अपने समय को आनन्द पूर्वक बिताते हैं।

श्री कृष्णचन्द्र के इस प्रकार समझाने पर रुक्मिणी जी का चित्त ठिकाने हुआ। तब वे श्री कृष्ण की ओर लज्जा भरी चितवन से देख और मुसकरा कर यह बोलीं:—

रुक्मिणी—हे कमलनयन! आपने जो कुछ कहा वह ठीक है। क्योंकि सचमुच मैं आप जैसे पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी बनने योग्य कदापि नहीं हूँ। क्योंकि कहाँ तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के अधीश्वर और दिव्यशक्ति सम्पन्न भगवान् और कहाँ मैं गुणमयी प्रकृति? मैं आपके योग्य कभी नहीं। जो लोग अज्ञानी हैं वे ही मेरे चरणों की सेवा करते हैं।

आप राजाओं से डर, समुद्र की शरण में आकर बसे हैं आपका यह कहना भी ठीक ही है। क्योंकि शब्दादि गुण ही राजमान होने के कारण राजा हैं। उन्हींके भय से समुद्र तुल्य भक्तों के हृदय में आप शयन करते हैं।

आपने अपने विषय में और जो जो बातें कहीं हैं वे सब भी ठीक और उचित ही हैं। आपने कहा है—"तुम अपने अनुरूप किसी अन्य क्षत्रिय को अपना पति बनालो।" यह कथन भी आपका इसलिये मिथ्या नहीं है कि इस जगत् में ऐसी भी अनेक स्त्रियाँ हैं जो स्वामी के रहते अन्य पुरुष को चाहने लगती हैं। किन्तु जो चतुर और दूरदर्शी पुरुष हों उन्हें उचित है कि वे कभी ऐसी असती स्त्रियों के साथ विवाह न करें। क्योंकि जो ऐसी स्त्रियाँ हैं वे उभयकुलों को कलङ्कित कर डालती हैं। उनकी करतूतों से पुरुष की भी इस लोक में अकीर्ति और अपर लोक में दुर्गति होती है।

श्री कृष्णचन्द्र—अपनी पत्नी का यह उत्तर सुन प्रसन्न हुए और बोलेः—

श्री कृष्ण—हे साध्वी! हे राजकुमारी! तुम्हारे मुख से ऐसी बातें सुनने के अभिप्राय ही से मैंने तुमसे उपहास किया था। तुम्हारा मन मुझमें अत्यन्त अनुरक्त है। अतः मुक्ति के लिये तुम जो जो वर मुझसे चाहो वे तुमको सदैव प्राप्त हैं। मैंने कुछ वचन ऐसे कहे थे, जिससे तुम्हारा मन उत्तेजित हो और तुम मुझ पर क्रुद्ध हो, पर तुम्हारे मन में मेरा प्रेम ज्यों का त्यों बना रहा। इससे मैं जान गया कि तुम्हारा मन पतिप्रेम से परिपूर्ण है और तुम पातिव्रत्य को भली भाँति जानती हो। मैं मोक्ष-दाता हूँ। तिस पर भी जो कामिनी नारी अथवा कामी नर, तप व्रत का फल विषय भोग चाहते हैं वे निश्चय ही मूढ़ और अभागे हैं। तुमने निष्काम भाव से मेरी सेवा की है। अन्य स्त्रियाँ इस प्रकार सेवा नहीं कर सकतीं। मैं तुम्हारे अगाध पतिप्रेम का परिचय कई बार पा चुका हूँ। तुम जैसी गृहणी, गृहस्थों को मिलना कठिन है। मैं तुम्हारे प्रेम का बदला चुकाने में असमर्थ हूँ। तुमने जो कुछ किया है वह तुम्हीं कर सकती हो। मैं तुम्हें प्रसन्न करने के उद्योग में सदा लगा रहूँगा।

श्री कृष्ण इस प्रकार साधारण गृहस्थों की तरह परस्पर बातचीत कर सुख से समय बिताया करते थे।

रुक्मी का वध।

श्री कृष्ण की प्रत्येक रानी के गर्भ से दस दस पुत्र उत्पन्न हुए। वे सब पुत्र किसी भी बात में अपने पिता से कम न थे। हम केवल श्री कृष्ण की आठ पटरानियों के गर्भ से उत्पन्न बालकों ही के नाम यहाँ गिनाते हैं।

१—रुक्मिणी के गर्भ सेः—

१ प्रद्युम्न, २ चारुदेष्ण, ३ सुदेष्ण, ४ चारु-देह, ५ सुचारु, ६ चारुगुप्त, ७ भद्रचारु, ८ चारुचन्द्र, ९ विचारु, और १० चारु।

२—सत्यभामा के गर्भ सेः—

१ भानु, २ सुभानु, ३ स्वर्भानु, ४ प्रभानु, ५ भानुमान, ६ चन्द्रभानु, ७ बृहद्भानु, ८ रति-भानु, ९ श्रीभानु, और १० प्रतिभानु।

३—जाम्बवती के गर्भ सेः—

१ साम्ब, २ सुमित्र, ३ पुरुजित्, ४ शत्रु-जित्, ५ सहस्रजित्, ६ विजय, ७ चित्रकेतु, ८ वसुमान् ९ द्रविण और १० क्रतु।

४—नग्नजिती के गर्भ सेः—

१ वीर, २ चन्द्र, ३ अश्वसेन, ४ चित्रगु, ५ वेगवान्, ६ वृष, ७ आम, ८ शङ्कु, ९ वसु, १० कुन्ति।

५—कालिन्दी के गर्भ सेः—

१ शुक, २ कपि, ३ वृष, ४ वीर, ५ सुबाहु, ६ भद्र, ७ शान्ति, ८ दर्श, ९ पूर्णमास, १० सोमक।

६—माद्री के गर्भ सेः—

१ प्रघोष, २ गात्रवान, ३ सिंह, ४ बल, ५ प्रबल, ६ ऊर्द्धग, ७ महाशक्ति, ८ सह, ९ ओज, १० अपराजित।

७—मित्रबिन्दा के गर्भ सेः—

१ वृष, २ हष, ३ अनिल, ४ गृध्र, ५ वर्द्धन, ६ अन्नाद ७ महांशु, ८ पावन, ९ वन्हि, १० क्षुधि।

८—भद्रा के गर्भ सेः—

१ संग्रामजित्, २ बृहत्सेन, ३ शूर, ४ प्रहरण, ५ अरिजित्, ६ जय, ७ सुभद्र, ८ राम, ९ आयु, और १० सत्य।

रुक्मी की कन्या रुक्मवती के साथ प्रद्युम्न का विवाह[1] हुआ था। प्रद्युम्न के अनिरुद्ध जी

---

[1] ऊपर की तालिका से विदित हुआ होगा कि प्रद्युम्न रुक्मिणी के गर्भजात सन्तान थे। रुक्मिणी और रुक्मी दोनों सगे भाई बहिन थे। अतः रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्न और रुक्मी की पुत्री रुक्मवती ममेरे भाई बहिन हुए। इस प्रकार के सम्बन्ध प्राचीन काल में होते थे। भागवत में ऐसे कई एक सम्बन्धों का उल्लेख पाया जाता है। पर इन आज कल के गिरे हुए दिनों में भी कुलीनों में ऐसी प्रथा नहीं है।

हुए। ऊपर गिनायी हुई आठ पटरानियों के पुत्रों तथा सोलह हज़ार एक सौ रानियों के करोड़ों पुत्र उत्पन्न हुए।

यह सुन परीक्षित ने यह शङ्का की कि रुक्मी, श्री कृष्ण का कट्टर शत्रु था। अतः उसने अपनी कन्या उनके पुत्र को क्योंकर व्याह दी। इसके उत्तर में श्री शुकदेव जी ने कहा— "यद्यपि रुक्मी श्री कृष्ण के साथ तो शत्रुता रखता ही था तो भी अपनी बहिन को प्रसन्न रखने के अभिप्राय से उसने अपने भाञ्जे के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। स्वयम्बर सभा में रुक्मवती ने प्रद्युम्न ही को जयमाल पहनायी थी। तब अकेले प्रद्युम्न ही समवेत सब राजाओं को परास्त कर रुक्मवती को हर लाये। कृतवर्म्मा के महाबली पुत्र के साथ चारुमती नाम्नी एक कन्या का विवाह हुआ। हरि से शत्रुता होने पर और अनुचित सम्बन्ध होने पर भी रुक्मी ने बहिन को प्रसन्न करने के लिये अपने दौहित्र अनिरुद्ध के साथ अपनी पौत्री रोचना का विवाह कर दिया। इस विवाह में श्री कृष्ण, बलराम, रुक्मिणी, प्रद्युम्न आदि रुक्मी के भोजकट नगर में गये।

विवाह हो चुकने पर कलिङ्ग नरेश आदि अभिमानी नरेशों ने रुक्मी से कहाः—

राजागण—आज बलदेव को आमन्त्रित कर चौसर का खेल हो और हम लोग उन्हें हरावें। क्योंकि इस खेल में पटु न होने पर भी बलदेव जी चौसर खेलने के बड़े प्रेमी हैं।

रुक्मी ने उनका कहना मान लिया और उसी समय बलदेव जी के पास बुलावा भेजा गया। उनके आने पर खेल आरम्भ हुआ। बराबर रुक्मी ही की जीत होती रही। सौ सहस्र फिर दस सहस्र तक का बलदेव जी ने दाँव लगाया। पर जीत रुक्मी ही की हुई। जब रुक्मी ने दस सहस्र का दाँव जीता, तब कलिङ्ग नरेश उच्चस्वर से हँसा। यह बात बलदेव जी को बहुत बुरी लगी। पर वे उसे पी गये। रुक्मी ने एक लाख मोहर दाँव पर रखी। अब की दाँव बलदेव जी का निकला। परन्तु रुक्मी ने कहा—"मैं जीता।" रुक्मी की इस बेईमानी को भी बलदेव जी ने बातों ही में उड़ा दिया। पर उनके मन में क्षोभ बहुत उत्पन्न हो गया था। अतः उन्होंने इस बार दस करोड़ मोहरें दाँव पर लगायीं। इस बार भी बलदेव जी ही जीते। पर रुक्मी ने इस बार भी बेईमानी कर कहाः—"नहीं मैं जीता हूँ" चाहो तो पास बैठे लोगों ही से पूँछ लो कि कौन जीता और कौन हारा। इतने में आकाशवाणी हुई —"धर्म की तो बात यह है कि जीते तो बलदेव जी ही हैं, रुक्मी झूठा है।" पर राजाओं के फेर में पड़े मरनहार रुक्मी ने आकाशवाणी को भी सत्य न माना। साथ ही ठट्ठा मार कर कहा तुम चरवाहे लोग चौसर खेलना क्या जानो?

इन कठोर बातों को सुन बलदेव जी आपे में न रहे। क्रोध में भर बलदेव जी ने द्वार का परिघ उठा रुक्मी के सिर पर ऐसा मारा कि वह जहाँ का तहाँ ही रह गया। रुक्मी का वध देख; हँसने वाला कलिङ्गराज प्राण लेकर भागा पर झपट कर बलदेव जी ने उसे पकड़ लिया और उसके सब दाँत तोड़ डाले। क्योंकि वह ठहाका मार कर हँसा था। अन्य राजा जो रुक्मी के साथी थे वे भी कोरे बच कर न जाने पाये। उनको भी बलदेव जी ने अङ्ग भङ्ग कर डाला। अपने साले रुक्मी के मारे जाने का समाचार सुन श्री कृष्ण चुप हो गये। बलदेव जी से इस विषय में अच्छा बुरा कुछ भी न कहा। कारण यह था कि यदि वे अच्छा कहते तो रुक्मिणी जी बुरा मानतीं और बुरा कहते तो बलदेव जी अप्रसन्न हो जाते। इससे वे चुपके ही रहे।

तदनन्तर शेष विवाह की रीतियाँ पूरी कर और नवविवाहिता बधू सहित अनिरुद्ध को रथ

पर बिठा श्री कृष्ण आदि भोजकट से द्वारका को लौट गये।

अनिरुद्ध का वाणासुर के घर में पकड़ा जाना।

राजा बलि के सौ पुत्र थे, उनमें वाणासुर सब से बड़ा था। यह राजा बलि वे ही थे जिन्होंने वामन रूपधारी भगवान् को त्रैलोक्य का राज्य दान करके दे डाला था। वाणासुर शिव का परमभक्त था। उसमें बुद्धिमत्ता, सत्यवादित्व, वदान्यता आदि अनेक सद्गुण थे। वह शोणितपुर में राज्य करता था और सब देवता उसके आज्ञाकारी बने हुए थे। शिव जी के वरदान से वाणासुर के सहस्र भुजाएँ हो गयीं थीं। जब शिवजी ताण्डव नृत्य करते तब वह बाजे बजा कर उन्हें प्रसन्न करता था। एक बार प्रसन्न हो शम्भु ने उससे वर माँगने के लिये कहा। इस पर वाणासुर ने उनसे यह वर माँगा कि आप मेरे पुर के समीप रह कर मेरे पुर की सदा रक्षा करते रहें। वाणासुर को अपने वीर्य का बड़ा अभिमान हो गया था। उसने शिव के चरणों पर अपना किरीट मुकुट रख कर कहा:—

वाणासुर—हे महादेव! आप सब के गुरु और ईश्वर हैं। जिन पुरुषों की कामना पूरी नहीं होती उनकी कामनाएँ आपके द्वारा पूरी होती हैं। कामनाओं को पूर्ण करने में आप कल्पवृक्ष हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। भगवन् आपकी प्रदत्त सहस्र भुजाएँ मुझे भार रूप हो रही हैं। क्योंकि अपने जोड़ का पुरुष आपको छोड़ मुझे तीनों लोकों में दूसरा नहीं दीख पड़ता; जिसके साथ मैं युद्ध करूँ। मेरे हाथ खुजला रहे हैं। दिग्गजों के साथ लड़ कर मैंने उस खुजली को मिटाना चाहा, पर मार्ग में मुझे पर्वतों को चूर्ण करते देख वे दिग्गज स्वयं भाग गये।

वाणासुर की इन अभिमान भरी बातों को सुन शिव जी को क्रोध आया। तब उन्होंने उसके हाथ में एक झण्डी दी और कहा:—

शिव—इसे ले जाकर तू अपने घर में बाँध दे। जिस दिन यह झण्डी अपने आप टूट कर गिर पड़े उस दिन मेरे समान योद्धा तुझसे लड़ने आवेगा।

यह सुन वाणासुर बहुत प्रसन्न हुआ और अपने वीर्य विनाश के दिन की प्रतीक्षा करने लगा।

वाणासुर के एक कन्या थी जिसका नाम ऊषा था। इस परम सुन्दरी ऊषा ने अनिरुद्ध को न तो कभी देखा हो था और न उनका नाम ही सुना था। तिस पर भी एक दिन उसने स्वप्न में अनिरुद्ध को देखा और वह उन पर आसक्त हो गयी। कुछ देर बाद "मित्र कहाँ गये" कहती हुई वह जाग पड़ी। उस समय उसकी सब सहेलियाँ वहाँ उपस्थित थीं। उनको देख वह बहुत लज्जित हुई। वाणासुर के एक मंत्री का नाम कुभाण्ड था उसकी लड़की का नाम चित्रलेखा था जो ऊषा की परम प्रिय सखियों में से एक थी। चित्रलेखा ने साश्चर्य ऊषा से पूँछा:—

चित्रलेखा—हे सुन्दरी! तुम किसको खोजती हो? तुम अपना मनोरथ तो बतलाओ।

ऊषा—हे सखी! मैंने स्वप्न में एक परम सुन्दर पुरुष को देखा है। उसका रङ्ग श्याम सलोना है, भुजाएँ विशाल हैं और दोनों नेत्र कमल जैसे हैं। वह पीताम्बर पहने हुए था। उसका रूप प्रत्येक स्त्री के मन में गड़ जाता है। हे सखी! मैं उसीको ढूढ़ना चाहती हूँ। मेरी इच्छा पूर्ण नहीं होने पाई थी कि वह मुझे दुःख के सागर में डुबो न जाने किधर चला गया।

चित्रलेखा—मैं तुम्हारा दुःख अभी मिटाये देती हूँ। तीनों लोकों में जहाँ तुम्हारा प्रियतम होगा उसे मैं खोज कर लिये आती हूँ। पहचानना तुम्हारा काम है।

यह कह कर लेखन विद्या में प्रवीण चित्रलेखा ने देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, नाग, दैत्य, विद्याधर और यक्षों के चित्र बना कर ऊषा को दिखलाये। तदनन्तर मनुष्यों के चित्र दिखलाये। मनुष्यों में वृष्णि वंशीय यादवों के चित्र खींचे। यादवों में शूरसेन का फिर वसुदेव का चित्र लिखा। तदनन्तर कृष्ण, बलदेव और प्रद्युम्न के चित्र लिखे। प्रद्युम्न को देख ऊषा लज्जित हुई। फिर जब चित्रलेखा ने अनिरुद्ध का चित्र खींचा, तब उसे देख और लज्जा से नीचा मुख कर कहा—"यही तो वह है।" तब चित्रलेखा योगबल से द्वारका को गयी और सोते हुए अनिरुद्ध को पलङ्ग सहित ऊषा के पास उठा लायी। अनिरुद्ध को देखते ही ऊषा का मन प्रसन्न हो गया। जिस रनवास में पुरुष की दृष्टि तक नहीं पड़ सकती उसी रनवास में ऊषा अनिरुद्ध के साथ रमण करने लगी। ऊषा ने अनिरुद्ध की ऐसी सेवा की कि वे ऊषा के वश में हो गये। वे वहाँ ऐसे मग्न हुए कि उन्हें यह भी न जान पड़ा कि यहाँ रहते हमें कितने दिन बीत गये। ऊषा का कुमारी व्रत खण्डित हुआ। एक दिन वह ऊपर के झरोखे से बाहिर की ओर झाँकी। द्वारपालों ने उसको देखते ही असली बात ताड़ ली और बाणासुर से जाकर कहाः—

द्वारपाल—राजन्! हमें आपकी अविवाहिता कन्या के आचरणों पर सन्देह उत्पन्न हुआ है। यह उसके पितृकुल के लिये बड़े कलङ्क की बात है। प्रभो! हम सदैव उस घर की रखवाली किया करते हैं। कोई भी पुरुष राजकुमारी को देख तक नहीं पाता। तब भी नहीं कह सकते यह अनर्थ क्यों कर हुआ। हम चकित हो रहे हैं।

द्वारपालों के मुख से यह हाल सुन बाणासुर अत्यन्त व्यथित हुआ और उसी समय उठ कर कन्या के भवन में गया। वहाँ उसने अनिरुद्ध को बैठा पाया। उस समय वे बैठे ऊषा के साथ चौसर खेल रहे थे। अस्त्र शस्त्र ताने अनेक असुरों सहित बाणासुर को आते देख अनिरुद्ध द्वार का बेंड़ा निकाल शत्रुओं का सामना करने को खड़े हो गये। जब वे लोग उन्हें पकड़ने को झपटे तब तो अनिरुद्ध ने उन्हें मार कर भगा दिया। यह देख बाणासुर ने अनिरुद्ध को नागपाश में बाँध लिया। अपने प्रियतम को बन्दी हुआ देख ऊषा विषाद से विह्वल हो रोने लगी।

कृष्ण और बाणासुर की लड़ाई, बाणासुर का पराजय।

उधर अनिरुद्ध को न देख कर द्वारका वासियों को बड़ा अचरज हुआ। वर्षा के चार मास भी बीत गये, तो भी अनिरुद्ध का कुछ भी पता न लगा। चार मास बाद एक दिन नारद जी ने द्वारका में पहुँच कर सारा हाल कह सुनाया। अनिरुद्ध के बाणासुर द्वारा रुद्ध होने का वृत्तान्त सुन यदुवंशी अस्त्र शस्त्र ले शोणितपुर को प्रस्थानित हुए। प्रद्युम्न, सात्यकी, गद, साम्ब, सारण, नन्द, उपनन्द और भद्र आदि श्रेष्ठ यादवों ने कृष्ण बलदेव की अध्यक्षता में बारह अक्षौहिणी सेना से शोणितपुर को चारों ओर से जा घेरा। यादवों की सेना द्वारा नगर के उद्यान, गोपुर, अटारी आदि को नष्ट भ्रष्ट होते सुन बाणासुर उतनी ही सेना लेकर लड़ने को नगर के बाहिर निकला। बाणासुर की ओर से स्वयं महादेव नन्दी पर चढ़ और पुत्रों एवं अनुचरों सहित लड़ने गये। कृष्ण और शिव प्रद्युम्न और कार्तिकेय, बलभद्र जी और कुभाण्ड एवं कूपकर्ण से, बाणासुर और सात्यकी से परस्पर घोर युद्ध हुआ। श्री कृष्ण के बाणों की मार से शिव के भूत, प्रेत, वैताल, पिशाच, ब्रह्मराक्षस आदि अनुचर लड़ाई छोड़ भाग गये।

शिव जी ने श्री कृष्ण पर अनेक तीव्र अस्त्र, शस्त्र फेंके, पर श्री कृष्ण ने उन सब को विफल

कर डाला। तदनन्तर श्री कृष्ण ने शिव पर मोहन अस्त्र चलाया। जिसके मारे महादेव को जमुहाई आने लगीं। इस बीच में श्री कृष्ण ने गदा, खड्ग आदि से वाणासुर के अनेक सैनिकों को मार डाला। प्रद्युम्न के वाणों की मार से कार्तिकेय का शरीर छिद गया और उनके शरीर से रुधिर बहने लगा। तब उनका घायल मयूर उन्हें लेकर रणक्षेत्र से भागा। कुमाण्ड और कूपकर्ण राक्षस, बलदेव जी के मूसल की चोट से मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़े। तब उनकी सेना बिना किसी नायक के युद्ध करने में अक्षम हो युद्ध छोड़ कर भागी। अपनी सेना को भागते देख वाणासुर बहुत क्रुद्ध हुआ और सात्यकी से लड़ना छोड़ वह श्रीकृष्णचन्द्र से जा भिड़ा। उसने एक साथ पाँच सौ धनुषों पर रोदे चढ़ा उन पर दो दो वाण रखे। पर वह अपने वाण चलाने भी नहीं पाया था कि उन सब को श्री कृष्ण ने काट डाला फिर उसके सारथी, रथ के घोड़ों और रथ को भी छिन्न भिन्न कर डाला। पुत्र के प्राणों की जोखों देख वाणासुर की माता नितङ्ग नङ्गी हो और सिर के बाल खोल रणक्षेत्र में आ उपस्थित हुई। नङ्गी स्त्री को देखना शास्त्र विरुद्ध समझ भगवान् ने उस ओर से मुख फेर लिया। इतने में अवसर पा वाणासुर नगर में धनुष वाण लेने चला गया।

उधर रण में किसी को न देख शिव ने तीन सिर और तीन पैर वाले ज्वर को छोड़ा। वह अपने तेज से दसों दिशाओं को तपाता श्री कृष्ण की ओर दौड़ा। उसे देख श्री कृष्ण ने शीत-ज्वर छोड़ा। दोनों ज्वरों में परस्पर मुठभेड़ होने लगी। तब तो शिव का ज्वर त्रस्त हो और अपनी रक्षा का अन्य उपाय न देख भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में गया और हाथ जोड़ कर स्तुति करने लगा।

शिव का ज्वर—आप अनन्त शक्तिशाली परमेश्वर हैं। आपको मैं प्रणाम करता हूँ आप सर्वात्मा हैं, आप निरवच्छिन्न विज्ञानमात्र और ब्रह्मा आदि के भी ईश्वर हैं। आप ही विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति स्थिति और संहार के कारण हैं। आप लीला करने के अर्थ ही मत्स्य आदि अनेक रूप धारण करते हैं। आपका यह अवतार भी पृथ्वी का भार उतारने के लिये हुआ है। आपके शान्त उग्र एवं अत्यन्त भयानक दुस्सह तेज से मैं विकल हूँ। आशा में फँसे जीवधारी जब तक आपकी शरण में नहीं आते तभी तक वे उत्तप्त रहते हैं। अतः मैं आपकी शरण में आया हूँ।

श्रीकृष्ण—हे त्रिशिरा ज्वर! मैं तेरी स्तुति से प्रसन्न हुआ। तुझे अब मेरे ज्वर से कुछ भी भय न होगा। जो लोग आज से हमारे इस संवाद को सुनेंगे, उन्हें तेरा भय नहीं रहैगा।

यह सुन शिव का ज्वर श्रीकृष्ण को प्रणाम कर चला गया।

इतने में वाणासुर भी नये धनुष वाण लेकर फिर से युद्ध करने के लिये भगवान् के सामने आ उपस्थित हुआ और सहस्रों हाथों से श्री-कृष्ण पर अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करने लगा। यह देख श्रीकृष्ण ने तीक्ष्ण धार वाले सुदर्शन चक्र से वाणासुर की भुजाएँ काटनी आरम्भ कीं। तब तो भक्तवत्सल महादेव ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहाः—

महादेव—भगवन्! आप वेदों में छिपे हुए परब्रह्म हैं। निर्मल मन वाले साधु आकाशवत् सर्वव्यापक भाव से आपके सर्वत्र दर्शन कर पाते हैं। आकाश आपकी नाभि, अग्नि आपका मुख, जल आपका वीर्य, स्वर्ग आपका मस्तक, दिशाएँ आपके कान, पृथिवी आपके चरण, चन्द्रमा आपका मन, सूर्य्य आपके नेत्र और आत्मा आपका अहङ्कार रूप में है। समुद्र आपका उदर, इन्द्र आपकी भुजाएँ प्रजापति आपकी लिङ्गेन्द्रिय, और धर्म्म आपका हृदय है। यही आपके त्रिलोकमय विराट रूप की कल्पना है।

भगवन्! आपका यह अवतार धर्म की रक्षा और संसार के मङ्गल के लिये हुआ है। हम सब प्रजापतियों के प्राणरक्षक हैं। हम सब आप ही की कृपा और सहायता से समूचे ब्रह्माण्ड का पालन करते हैं।

हे देव! यह बाणासुर मेरा परम प्रिय अनुचर है मैं इसको अभय कर चुका हूँ। आपने दैत्यराज बलि पर जैसा अनुग्रह किया था—मुझे पूरा भरोसा है वैसा ही अनुग्रह आप इस दास पर भी करेंगे। मेरी यही प्रार्थना है।

श्रीकृष्ण—भगवन्! हमने आपका कहना मान लिया। आप जिसमें प्रसन्न रहें। हम वही करेंगे। मैं तो यों भी इसे न मारता। क्योंकि मैं प्रह्लाद को उनके किसी वंशज को न मारने का वरदान दे चुका हूँ। मैंने तो इसके अभिमान को चूर करने के लिये इसकी बाहें काटीं और पृथिवी की भार रूपी इसकी सेना को मारा है। इसकी अब चार भुजाएँ रह गयी हैं—सो ज्यों की त्यों सदा बनी रहेंगी। यह अजर अमर रहेगा और इसे किसी का भय न होगा। आपके पार्षदों में यह प्रधान गिना जायगा।

यह सुन बाणासुर ने श्रीकृष्णचन्द्र के चरण कमलों में अपना सीस नवाया और अनिरुद्ध को वधू सहित रथ पर बिठा कर सेवा में ला उपस्थित किया। पौत्र और पुत्रवधू को आगे कर श्रीकृष्ण शिव जी से बिदा माँग द्वारका पुरी को चले गये।

अनिरुद्ध का पत्नी सहित आगमन सुन द्वारकापुरी में आनन्द की लहरें लहराने लगीं। नगरी ध्वजों पताकाओं से सजायी गयी। मङ्गल बाजे बजे।

राजा नृग का शाप मोचन।

एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारु, भानु और गद आदि सारे यदुकुमार खेलने के लिये उपवन में गये। जब उन सब को वहाँ खेलते खेलते कुछ देर हुई तब उन्हें प्यास लगी। जल को खोजते हुए वे एक कूप के पास पहुँचे जो सूखा था उसमें सब ने झाँक कर देखा तो उसके भीतर एक बड़ा भारी विचित्र जन्तु देखा। पर्वताकार उस गिरगिट को देख वे सब मिल कर उसे निकालने का उद्योग करने लगे। बड़े बड़े रस्से लटका और उसे बाँध कर खींचना चाहा, पर वह उनके निकाले न निकल सका। तब वे सब बड़े उत्सुक हो श्रीकृष्ण के पास गये और उनसे सारा हाल कहा। श्रीकृष्ण सुनते ही उस कूप के निकट गये और ज्यों ही उसके शरीर में हाथ लगाया त्यों हीं वह गिरगिट एक उत्तम पुरुष हो गया। यद्यपि श्री कृष्णचन्द्र उसका सारा हाल जानते थे, तथापि सब को उसका वृत्तान्त सुनाने के लिये उन्होंने उससे पूँछाः—

श्रीकृष्ण—हे महाभाग! तुम सुन्दर रूप धारी कौन हो? तुम तो कोई श्रेष्ठ देवता जान पड़ते हो। तुम्हारी यह दुर्दशा किस कुकर्म से हुई? तुम तो इसके योग्य कदापि नहीं हो। यदि हमें योग्य समझो तो अपना पूर्व वृत्तान्त हमें सुनाओ।

इसके उत्तर में राजा ने पहले तो श्री कृष्ण के चरणों में अपना सीस रख उन्हें प्रणाम किया और फिर बोले—हे प्रभो! मैं इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न और राजर्षियों में श्रेष्ठ नृग नाम का राजा हूँ। दानी जनों की गणना में कदाचित् आपने मेरा नाम सुना हो। आप तो घट घट व्यापी हैं। आपसे छिपा क्या है। तो भी आपकी आज्ञानुसार मैं अपना वृत्तान्त आपको सुनाता हूँ। भगवन्! पृथ्वी पर जितने रजकण हैं, आकाश में जितने नक्षत्र हैं और वर्षाकाल में जितने जलबिन्दु गिरते हैं, उतनी ही दुधार, तरुणी और सुशीला कपिला गौवें भली भाँति सजा कर मैंने बछड़ों सहित ब्राह्मणों को दीं। जिन ब्राह्मणों को गौवें मैं ने दीं वे भूखे टूटे न थे, किन्तु गुणशील, सम्पन्न, बहुकुटुम्बी, सदाचार निरत, तपस्वी, वेदपाठी और उदारमना

थे। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मैंने विधि पूर्वक ब्राह्मणों को न दी हो। मैंने अनेक यज्ञ किये हैं, कुएँ बावली और तालाब खुदवाये हैं। एक बार एक श्रेष्ठ ब्राह्मण की गऊ मेरी उन गौवों के झुण्ड में जा मिली जिन्हें मैं दान करना चाहता था और यह बात किसी को भी न विदित हो सकी। मैंने भी उस गौ को अनजाने एक दूसरे ब्राह्मण को दे डाला। वह ब्राह्मण उस गौ को लिये जा रहा था कि रास्ते में उसको उस गौ का पहला स्वामी मिला। उसने कहा—"यह गौ तो मेरी है। तूने इसे कहाँ पाया है?" दूसरे ब्राह्मण ने कहा—"नहीं तू झूठ बोलता है यह तो अब मेरी है। राजा ने यह मुझे दी है।

इस प्रकार आपस में वाद विवाद करते वे दोनों ब्राह्मण मेरे पास आये और मुझसे बोलेः—"राजा तुम देने वाले हो या हरने वाले?" उनके वचन सुन मैं बहुत घबड़ाया। उस समय मैं धर्मसङ्कट में पड़ गया और उनसे बोला—"आप दोनों में से जो चाहें वह सुन्दर एक लाख गौवें ले लें और यह गौ दे दें। मैं आपका सेवक हूँ। मुझसे अनजाने यह अपराध बन पड़ा है। आप मुझ पर अनुग्रह करें यह अपराध मुझे नरक में डालेगा। इससे आप मुझे बचावें।"

यह सुन जिस ब्राह्मण ने दान में मुझसे गौ पाई थी वह यह कह कर कि मैं आपका दान लेना नहीं चाहता चला गया। उसके जाने पर उस गौ का पहला स्वामी भी यह कह कर कि मुझे आपकी दस लाख गौवें नहीं चाहिये चल दिया। इतने ही में यमराज के दूत आये और यमलोक में मुझे पकड़ कर ले गये। यमराज ने मुझसे पूँछा—"तुम अपना पुण्यफल पहले भोगना चाहते हो कि पाप-फल? धर्मानुष्ठान कर तुमने जिन लोकों को पाया है, वे अनन्त हैं क्योंकि तुम्हारा धन धर्म असीम है।" इस पर मैंने कहा—हे देव! मैं पहले अपने पाप का फल ही भोगना चाहता हूँ।" यह सुन यमराज बोले—"अच्छा! तो गिरो।" यमराज के यों कहते ही मैंने देखा कि मैं गिरगिट होकर नीचे गिर रहा हूँ। मैं आपका और आपके भक्त ब्राह्मणों का परम भक्त दानी था। इससे मैं अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त नहीं भूला। मुझे आपके दर्शनों की बड़ी उत्कण्ठा थी सो आपके दर्शन हो ही गये। जिस जीव के संसार बन्धन से छूटने का समय समीप आता है। उसीको आपके दर्शन होते हैं। मैं भव सागर में पड़ा दुःख भोग रहा था। अब आपके दर्शन पाते ही मैं उससे छूट गया। आप सब प्राणियों के आश्रयस्थल हैं। आप आनन्द स्वरूप हैं और इष्टापूर्त्त आदि कर्मों के फलदाता हैं—आपको प्रणाम है।

यह कह राजा नृग ने श्रीकृष्ण के चरणों में सीस धर, उन्हें प्रणाम किया और उनको परिक्रमा की। तदनन्तर दिव्य विमान में बैठ कर वे दिव्यलोक को गये।

उनके चले जाने पर ब्रह्मण्यदेव धर्मात्मा देवकीनन्दन ने राजाओं को शिक्षा देते हुए अपने बान्धवों से कहाः—

श्रीकृष्ण—थोड़ा भी ब्राह्मण का धन खा कर तेजस्वी जन भी उसे पचाने में असमर्थ हैं; राजाओं की तो बिसात ही कितनी है। उनको तो ब्राह्मण के धन से सदा बचना चाहिये। हलाहल विष को खा कर मनुष्य उपाय द्वारा बच सकता है; किन्तु ब्राह्मण का धन ऐसा विष है, जिसको खाकर खाने वाला किसी भी उपाय से नहीं बच सकता। विष खाने वाला स्वयं ही मरता है और अग्नि भी जल से शान्त हो जाता है। पर ब्राह्मण रूपी लकड़ी से उत्पन्न अग्नि ब्राह्मण का धन खाने वाले को समूल (पुत्र पौत्रों सहित) नष्ट कर डालता है।

ब्राह्मण की सम्पत्ति पर दाँत लगाने वाले नरक जाने का द्वार आपही खोलते हैं। अपनी दी हुई या अन्य की दी हुई ब्राह्मण की वृत्ति को जो हरता है वह साठ हज़ार वर्ष तक विष्ठा का कीड़ा होता है। मैं यह नहीं चाहता कि मैं जाने

या अनजाने कभी किसी ब्राह्मण का धन हरूँ। जो राजा ऐसा करते हैं—वे बहुत दिनों तक नहीं जीते। अतएव हे बन्धुओ! ब्राह्मण यदि कोई अपराध ही करै तो भी उसका अनिष्ट न करना।

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र द्वारकावासियों को उपदेश सुना अपने भवन को गये।

बलदेव जी का व्रजगमन।

एक दिन बलभद्र जी के मन में अपने सुहृदों के देखने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई और वे उसी क्षण रथ पर बैठ नन्द के व्रज की ओर चल दिये। वहाँ पहुँचते ही बहुत दिनों से उत्कण्ठित गोप और गोपियों ने उनको अपने गले से लगाया। बड़ों को बलदेव जी ने प्रणाम किया और उन लोगों ने भी बलदेव जी को आशीर्वाद दिये। नन्द यशोदा ने उनको गोद में उठा लिया और आनन्दाश्रुओं से बहुत देर तक उन्हें भिंगोते रहे। तदनन्तर कृष्ण के विरह से विकल गोपों ने बलदेव जी से कहाः—

गोपगण—हे बलराम! हमारे सब बन्धु बान्धव तो प्रसन्न हैं? तुम दोनों भाई अब स्त्री पुत्र वाले हुए हो—क्या अब तुमको हमारी भी कभी याद आती है। तुम लोगों ने दुष्ट कंस को मार कर और बन्धु बान्धवों को कष्ट से छुड़ा कर बड़े उपकार का काम किया। तुमने अपने शत्रुओं को मार कर अब दुर्भेद्य दुर्ग में वास कर बड़ा अच्छा काम किया है।

गोपियाँ बलदेव जी को देख बहुत प्रसन्न हुईं और हँस कर उनसे पूँछने लगीं:—

गोपियाँ—नागरी स्त्रियों के प्राण वल्लभ श्री कृष्ण प्रसन्न तो हैं? उन्हें कभी हमारी और अपने माता पिता की भी याद आती है। कभी हमारी सेवा की भी वे चर्चा चलाते हैं? हमने उनके लिये दुस्त्यज माता, पिता, भ्राता, पति और बहिनों तक को छोड़ा पर वे तो मुँह मोड़ और सारे प्रेमबन्धनों को तोड़ कर यहाँ से चले गये। यदि कहो जाते समय तुमने उन्हें क्यों न रोका—तो हम कहेंगी कि हम उनकी बातों में आ गयीं और उनके इस कहने पर कि "हम शीघ्र लौट आवेंगे—"विश्वास कर बैठीं।

इतने में एक गोपी बोलीः—

एक गोपी—नगर की स्त्रियाँ बड़ी चतुरा होती हैं। वे अव्यवस्थित चित्त कृतघ्न कृष्ण की बातों में कभी आ सकती हैं? अथवा हो सकता है कि वे भी काम की उमङ्गों में भर श्रीकृष्ण की मनोहर मूर्त्ति देख कर उन पर मुग्ध हो जाती हों।

दूसरी गोपी—गोपियो! हमें उनकी बातों से क्या प्रयोजन उनकी चर्चा छोड़ दो और बातें करो। यदि हमारे बिना उनका समय सुख से बीत सकता है तो हम भी अपना समय उनके बिना सुख से बिता सकती हैं।

यह कह श्री कृष्ण की लीलाओं और उनकी याद कर गोपियाँ विलाप करने लगीं। इस पर बलदेव जी ने उन गोपियों को श्रीकृष्ण का सन्देसा सुना उनके चित्त को शान्त किया।

श्री बलदेव जी चैत्र और वैशाख दो मास तक उन गोपियों के साथ नन्द के व्रज में रहे। उस समय वरुण देव की भेजी हुई वारुणी वृक्ष कोटर से बह कर अपनी सुगन्ध से उस वन को सुवासित करने लगी। वायु द्वारा उसकी सुवास बलदेव जी तक पहुँची और गोपियों सहित बलराम ने उसके समीप जा उसे पिया। मदिरा के नशे में चूर बलराम गोपियों सहित वन में विचरने लगे। गोपियाँ उनके पवित्र गुणों को गाने लगीं। उस समय जब बलदेव जी को मदिरा की गर्मी बढ़ी और गला चटकने लगा तब उन्होंने जल में विहार करने की इच्छा से यमुना को स्मरण किया। किन्तु यमुना वहाँ न गयीं। तब बलदेव जी ने अपने मन में कहा कि मुझे मतवाला जान यमुना ने मेरा अनादर किया है अतएव कोप में भर अपने हल से यमुना को खींच कर कहा—

बलराम—अरी पापिनी! मैंने तो तुझे बुलाया और तूने मेरी अवज्ञा की और यहाँ न

आयी। तूने मनमानी घरजाली करनी चाही, अतः मैं हल से खींच अपने मूसल से तेरे सैकड़ों टुकड़े करूँगा।

इस प्रकार धमकायी जाने पर यमुना ने मारे डर के बलराम के पैरों पड़ कर कहाः—

यमुना—हे बलराम! मैं आपके विक्रम से अपरिचित थी। आपही तो अपने एक अंश से इस धरा को धारण किये हुए हैं। मैं अभी तक आपकी महिमा नहीं जानती थी। हे भक्त-वत्सल! मैं आपके शरण हूँ मुझे छोड़ दीजिये।

इस प्रकार यमुना का गिड़गिड़ाना सुन बलदेव जी ने उसे छोड़ दिया और गोपियों सहित यमुना जल में घुस कर उस प्रकार क्रीड़ा करने लगे—जैसे मत्त गजराज हथनियों के साथ क्रीड़ा किया करता है। तदनन्तर जल से निकलने पर लक्ष्मी जी ने उन्हें एक नीलाम्बर एक उत्तरीयवस्त्र तथा बहुमूल्य अलङ्कार एवं मङ्गलमयी एक माला दी। तब इन सब को धारण कर वे वैसे ही सुशोभित हुए जैसे इन्द्र का ऐरावत हाथी शोभा को प्राप्त होता है।

मिथ्यावासुदेव तथा काशिराज का वध।

जिन दिनों बलदेव जी व्रज में गोपियों के साथ विहार कर रहे थे—उन दिनों द्वारका में एक विचित्र घटना हुई। अज्ञान से अन्धे करूष देश के राजा पौण्ड्रक ने यह समझा कि—"मैं ही वासुदेव हूँ।" श्री कृष्ण के पास एक दूत भेजा। लोगों ने पौण्ड्रक को बहुत कुछ भड़ी दे कर बहुत बहकाया। दूत ने पौण्ड्रक का सन्देसा सुनाते हुए श्री कृष्ण से कहाः—

दूत—करूषाधिपति ने कहा है कि मैं ही एकमात्र वासुदेव हूँ और कोई वासुदेव नहीं है। मैंने जीवों पर दया करके अवतार लिया है। तुम मिथ्या वासुदेव के नाम को छोड़ दो। हे यादव! मूढ़तावश तुमने मेरे जो चिन्ह धारण किये हैं—उन्हें त्याग कर और मेरे शरण हो कर क्षमा माँगो नहीं तो युद्ध के लिये तैयार हो।

अल्पमति पौण्ड्रक की इस झूठी आत्मश्लाघा को सुन उग्रसेन आदि उपस्थित लोग ठट्ठा मार कर हसे। श्री कृष्ण ने भी हँस कर दूत से कहाः—

श्री कृष्ण—अरे मूढ़! जिन लोगों की सहायता के भरोसे तू इतनी मिथ्या आत्म-श्लाघा करता है उन पर और तुझ पर आकर अपने सुदर्शन आदि चिन्ह छोड़ूँगा। तू अपनी झूठी बड़ाई जिस मुख से करता है—उसे छिपा कर जिस समय तू रणक्षेत्र में सोवेगा तब कौवे गीध आदि पक्षी तुझे घेर कर बैठेंगे और कुत्ते तेरी शरण में आवेंगे।

दूत ने श्रीकृष्ण के इन वचनों को ज्यों के त्यों अपने स्वामी के सामने जा दुहरा दिये। उधर रथ पर सवार हो इस आत्मश्लाघी राजा को दण्ड देने के लिये श्रीकृष्ण काशी की ओर प्रस्थानित हुए। पौण्ड्रक भी श्रीकृष्ण का आगमन सुन दो अक्षौहिणी सेना ले अपने पुर से निकला और उनका सामना करने को प्रस्तुत हुआ। उसकी सहायता के लिये काशिराज भी एक अक्षौहिणी सेना लेकर गया।

श्रीकृष्ण ने देखा कि पौण्ड्रक उनकी ही तरह शङ्ख चक्र धारण किये और उन्हीं जैसा वेश बनाये तीन अक्षौहिणी सेना सहित उनका सामना करने के लिये समर भूमि में खड़ा है। यह देख श्रीकृष्ण ने उसके सामने जाकर कहाः—

श्री कृष्ण—हे पौण्ड्रक! तूने अपने दूत द्वारा मुझसे जिन अस्त्र शस्त्रों के छोड़ने को कहला भेजा था उनको मैं अब तेरे ऊपर छोड़ता हूँ। यदि मैंने तेरे साथ युद्ध न किया तो मैं अपना नाम छोड़ तेरी शरण में आ जाऊँगा।

यह कह श्रीकृष्ण ने उसके ऊपर बाणों की वर्षा की और रथ को छिन्न भिन्न कर सुदर्शन चक्र से उसका सिर भी काट डाला। साथ

ही उसके सहायक मित्र काशिराज का भी सिर चक्र से काट वायु सञ्चालित कमल पत्र के समान काशीपुरी में भेज दिया। इस प्रकार पौण्ड्रक और काशिराज को मार श्री कृष्ण मार्ग भर सिद्धों से अपनी प्रशंसा सुनते हुए द्वारका को लौट गये।

उधर काशी में राजद्वार पर काशिराज का कुण्डलों सहित कटा सिर देख कर काशीवासी आन्दोलन करते हुए कहने लगे—यह किसका सिर है? यह है क्या? जब असली भेद खुला तब तो काशिराज की रानियाँ राजकुमार आदि हाहाकार कर रोने लगे।

तदनन्तर काशिराज का पुत्र सुदक्षिण जब अपने मृत पिता का अन्तिम क्रिया कर्म करके निश्चिन्त हुआ तब उसने प्रतिज्ञा की कि—"मैं पितृऋण से तभी अपने को उऋण समझूँगा, जब पितृहन्ता को मार लूँगा। इस प्रकार संकल्प बद्ध वह अपने उपाध्याय के साथ समाधि लगा कर, महेश्वर की उपासना करने लगा। तब महेश्वर उस पर प्रसन्न हुए और प्रकट होकर उससे बोले—

महेश्वर—जो चाहते हो सो माँगो।

सुदक्षिण—मैं यह चाहता हूँ कि आप ऐसा उपाय बतावें जिससे मेरे पिता का मारने वाला मारा जाय।

महेश्वर—तुम ब्राह्मणों के साथ यज्ञ के देव दक्षिणाग्नि की भली प्रकार आराधना करो। तब प्रमथगण परिवृत वह अग्नि मारण कार्य में नियुक्त हो तुम्हारी कामना पूरी करेगा। पर इतना ध्यान रखना कि इसका विक्रम ब्राह्मणभक्त पर न चलेगा।

यह सुन सुदक्षिण ने श्रीकृष्ण पर नियमानुसार अभिचार विधि का अनुष्ठान किया। अनुष्ठान पूर्ण होने पर यज्ञकुण्ड से अतिभयङ्कर रूपधारी मूर्तिमान दक्षिणाग्नि प्रकट हुए। उस की शिखा और श्मश्रु के केश तप्त ताँबे के समान लाल रङ्ग के थे। दोनों नेत्रों से चिनगारियाँ निकल रही थीं। उसकी डाढ़ी और प्रचण्ड भौंहों ने उसके मुख मण्डल को और भी भयङ्कर बना रखा था। वह अपनी जिह्वा से होठों को बारम्बार चाटता और ताड़ जैसे लम्बे पैरों से पृथिवी को कँपाता हुआ, अपने तेज से दसो दिशाओं को जलाता हुआ प्रमथों सहित द्वारका की ओर लपका। उस नग्नवेशधारी अग्नि को देख मारे डर के द्वारकावासी वैसे ही भागे जैसे पशुपालक वन में आग लगने पर प्राण लेकर भागते हैं।

उस समय श्रीकृष्ण सभा में बैठे चौपड़ खेल रहे थे। इतने में भयभीत पुरवासियों ने उनके पास जा कर कहा:—

पुरवासी—हे त्रिलोकेश्वर! यह घोर अग्नि पुर को जला रहा है। इससे हमें बचाओ।

उनको भयभीत देख भक्तवत्सल श्रीकृष्ण ने हँस कर कहा:—

श्रीकृष्ण—डरो मत! मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।

श्रीकृष्ण तो घट घट वासी हैं अत: उनको असली भेद जानते देर न लगी। वे जान गये कि यह महेश्वरी कृत्या है। अतः उसका विनाश करने के लिये सुदर्शन चक्र को उन्होंने आदेश दिया।

भगवान् का सर्वश्रेष्ठ सुदर्शन चक्र उस समय करोड़ सूर्य्य के समान प्रज्वलित हो और भयङ्कर रूप धारण कर उस अग्नि के आगे गया। उनके तेज से दशो दिशाएँ भर गयीं। सुदर्शन जी के तेज से प्रताड़ित हो वह कृत्यानल द्वारका से लौटा और वाराणसीपुरी में जाकर सुदक्षिण को ऋत्विजों सहित तुरन्त ही भस्म कर डाला। सुदक्षिण अपनी करतूत का फल आप ही पा गया। चक्र ने उस अग्नि का पीछा किया और काशी में घुस काशी को भस्म कर डाला। काशी को भस्म कर चक्र फिर द्वारकापुरी को लौट गया।

द्विविद कपि का वध।

द्विविद सुग्रीव का मंत्री मयन्द का भाई वीर्य्यवान् द्विविद भौमासुर का मित्र था। जब श्रीकृष्ण द्वारा भौमासुर मारा गया तब अपने मित्र की हत्या का वदला लेने के लिये द्वारका में राष्ट्र विप्लव करने के अभिप्राय से वह वहीं घोर उपद्रव करने लगा। कभी तो वह घरों में आग लगाता, कभी घरों के ऊपर बड़े बड़े पत्थर पटक उनको चूर चूर कर देता था, कभी समुद्र तटवर्ती घरों को समुद्र का जल उलीच वहा देता था। दस सहस्र हाथियों जितना बल वाला वह द्विविद कभी कभी श्रेष्ठ मुनियों के आश्रमों में जाकर वहाँ की सघन वृक्षावली को उखाड़ कर फेंक देता और मल मूत्र से हवन की आग को बुझा कर यज्ञकुण्डों को दूषित कर दिया करता था, कभी कभी वह स्त्री पुरुषों को पकड़ कर पर्वत कन्दरा में बन्द कर देता था। इस प्रकार वह अनेक कुलवती नारियों को भ्रष्ट कर देश देशान्तरों में घूमा करता था।

एक दिन वह वानर सुमधुर सङ्गीत की मधुर ध्वनि सुन कर रैवत पर्वत पर जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि बलदेव जी वहाँ विराजमान हैं। उनके गले में वनमाला पड़ी है। उनके चारों ओर सुन्दरी युवतियाँ बैठी हैं उनके बीच में बैठे वे वारुणी पी रहे हैं। उनके नेत्र लाल लाल हो रहे हैं। उनको देख द्विविद एक वृक्ष पर चढ़ गया. और उसकी शाखायें हिला कर तथा अपनी मूत्रेन्द्रिय दिखा कर किलकारियाँ मारने लगा। उसकी इस ढिठाई को देख हास्यप्रिय रमणियाँ हँसने लगीं। तब तो वह वानर इतना ढीठ हुआ कि बलराम जी के सामने जा, अपनी गुप्तेन्द्रिय निकाल और भौंह मटका कर वारम्बार उन स्त्रियों को चिढ़ाने लगा। यह देख बलराम ने पत्थर का एक ढोका उठा कर उसके मारा। वह पत्थर को बचा और सामने रख मदिरा भाण्ड को लेकर भागा। फिर दूर जा बलदेव जी को चिढ़ा कर उनके मन में क्रोध उत्पन्न करने लगा। उसकी इस प्रत्यक्ष दुष्टता को देख और उसकी पुरानी दुष्टता को स्मरण कर, बलराम को उस पर बड़ा क्रोध आया। उसे मारने को वे उसी समय हल मूसल ले उठ खड़े हुए। महाबली द्विविद भी उनका सामना करने को उद्यत हुआ। उसने एक विशाल शाल वृक्ष उखाड़ और बलराम के समीप जाकर उनके सिर पर फेंका। अटल भाव से खड़े बलराम ने वृक्ष को ऊपर आते देख बीच ही में उसे एक हाथ से पकड़ लिया और दूसरे हाथ से द्विविद को मूसल से मारा। मूसल की मार से द्विविद का सिर फट गया और लोहू की धार वह निकली। तब तो क्रोध के आवेश में भर वानर ने एक वृक्ष का ठूठ उखाड़ कर फिर बलराम पर फेंका, जिसे बलराम ने पकड़ कर टुकड़े टुकड़े कर डाला। तब तो उसने बलराम की छाती में घूँसे मारे। तब तो हल मूसल को नीचे रख बलराम ने उसकी दोनों बाहें और गर्दन पकड़ कर ऐंठीं। मर्मस्थल में पीड़ा होने से उसके मुख से रक्त निकलने लगा और वह प्राणहीन हो तुरन्त पृथिवी पर गिर पड़ा। उस दुष्ट द्विविद के मारे जाने से लोगों के जी में जी आया और बलराम की लोग बड़ी प्रशंसा करने लगे।

दुर्योधन के एक कन्या थी जिसका नाम था लक्ष्मणा। उसका स्वयंवर रचा गया। इस स्वयंवर सभा में जाम्बवती के गर्भ से उत्पन्न श्रीकृष्णपुत्र साँब अकेले ही पहुँचे और उस कन्या को हर कर द्वारका की ओर चल दिये। यह देख कौरवों को बड़ा क्रोध आया। वे आपस में कहने लगे:—

कौरव—देखो न, यह बालक कितना ढीठ है। कन्या की इच्छा न होने पर बलात् वह उसे ले गया। अतः यही उचित है कि इस ढीठ बालक को पकड़ लिया जाय। वृष्णि हमारा कर ही क्या सकते हैं। वे तो हमारी ही कृपा से राज्य भोग रहे हैं। वे स्वयं तो राज्य के

अधिकारी हैं नहीं। यदि पुत्र के पकड़े जाने का संवाद सुन यादव हम पर चढ़ाई करेंगे तो उनके अभिमान को हम मिट्टी में मिला देंगे।

इस प्रस्ताव का अनुमोदन भीष्मपितामह के करते ही उनको आगे कर, कर्ण, शल्य, भूरिश्रवा, यज्ञकेतु और दुर्योधन आदि कई चुने हुए योद्धा साँव को पकड़ने के लिये घर से निकले। इन सब को युद्ध के लिये आते देख क्षत्रिय श्रेष्ठ साँव अकेले ही धनुष बाण ले उनका सामना करने को खड़े हो गये। कौरवों ने उस अकेले पर उसके समीप पहुँच कर बाणों की वर्षा की। कर्ण ही कौरवों के अग्रगन्ता थे। अपने से कहीं अधिक संख्यक वीरों से घिर कर साँव घबड़ाया नहीं। उसने कर्ण आदि महारथियों को पृथक् पृथक् बाण मार कर घायल किया। साँव की इस वीरता को देख कौरवों ने उसकी प्रशंसा की। पर चार ने मिल कर साँव के रथ के घोड़े मारे एक ने सारथि मारा और एक ने उसका धनुष काट डाला। इस प्रकार बड़ी कठिनता से अनेक कौरवों ने मिल कर अकेले और रथहीन साँव को पकड़ पाया। फिर कन्या सहित साँव को ले वे अपनी पुरी को लौट गये।

नारद जी ने यह संवाद द्वारकापुरी में पहुँचाया। सुनते ही यादव मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गये। पर दूरदर्शी बलराम स्वयं क्रोधी होने पर भी यह नहीं चाहते थे कि कौरवों और यादवों में परस्पर युद्ध हो। अतः उन्होंने समझा बुझा कर उन यादवों को शान्त किया। फिर बड़े बूढ़े लोगों को साथ ले दोनों दलों में मेल मिलाप कराने के अभिप्राय से वे स्वयं रथ पर चढ़ कर चले। हस्तिनापुर के समीप पहुँच कर बलदेव जी ने नगर के बाहिर एक उपवन में डेरा किया और धृतराष्ट्र का मत जानने के अभिप्राय से उद्धव को उनके पास भेजा। उद्धव ने सभा में पहुँच भीष्म आदि को प्रणाम किया और कहाः—"बलदेव आये हैं।" वे सब अपने सुहृद बलभद्र जी का आगमन सुन प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रथम तो उद्धव जी का सत्कार किया फिर माङ्गलिक पूजन सामग्री ले वे बलभद्र जी के पास गये। वहाँ यथाविधि उनका पूजन और अभिवादन आदि क्रिया पूरी की गई। तदनन्तर परस्पर कुशल प्रश्न के उपरान्त जब सब बैठ गये तब बलभद्र जी ने धीरभाव से कहाः—

बलदेव जी—राजाधिराज उग्रसेन ने जो आज्ञा तुमको दी है चित्त लगा कर उसे सुनो और उसके अनुसार शीघ्र ही काम करो। उनका कहना है कि तुम कई लोगों ने मिल कर अधर्म पूर्वक धर्मयुद्ध करने वाले अकेले एक बालक को पकड़ कर बन्दी बना लिया है। इस अपमान को सह लेना इसलिये ठीक समझते हैं कि हम बन्धुओं में परस्पर मेल मिलाप बना रहे और युद्ध न हो। अब तुम उस बालक को अभी हमें लौटा दो।

प्रभाव, उत्साह, और बलसूचक बलदेव जी के इन वचनों को सुन कौरव बहुत क्रुद्ध हुए और बोलेः—

कौरव—अहो! यह भी काल ही का प्रभाव है कि पैर की पादुका आज सिर पर बैठना चाहती है। कुन्ती के विवाह से हमारा योनि सम्बन्ध मात्र यादवों के साथ है। न यह सम्बन्ध होता और न ये लोग हमारे साथ उठ बैठ और भोजन कर सकते। पर अब तो इनकी आँखें आकाश पर चढ़ गयी हैं। ये इतने मूढ़ हो गये हैं कि हमारे ही दिये हुए राज्यासन को पाकर हमारी ही बराबरी करना चाहते हैं। हमारे ही अनुग्रह से तो यादव इतने बढ़े और अब ये हमें ही आज्ञा देते हैं। हमने यादवों को क्या बढ़ाया मानो सर्प को दूध पिला उसका विष बढ़ाया। इन यादवों की यह धृष्टता मार्जनीय नहीं है। इनसे अभी छत्र, चँवर आदि राज्य चिन्ह छीन लेने चाहिये। सिंह के भाग को सियार या साधारण भेड़ा कभी नहीं पचा सकता।

धन, जन और बल से परिपूर्ण और गर्व में भरे असभ्य कौरव ऐसे कटुवचन कह कर अपने पुर में चले गये। उनके इस दुष्ट व्यवहार को देख और कटुवाक्यों को सुन बलभद्र को बड़ा क्रोध आया। क्रोध के आवेश में भर वे इतने डरावने लगने लगे कि उनकी ओर देखने की भी किसी की हिम्मत न पड़ी। वे तिरस्कार की हँसी हँस कर बारंबार आप ही आप कहने लगेः—

बलराम—ठीक ही है जो अनेक प्रकार के भेदों से अन्धे होते हैं वे दुष्ट शान्ति को कभी नहीं चाहते। ऐसे दुष्ट पशुओं की तरह डण्डा खाये बिना कभी राह पर नहीं आते। वाह! मैं तो कुपित कृष्ण को तथा अन्य यादवों को युद्ध से निवारण कर, मामला सुलझाने को आया, किन्तु ये दुष्ट लड़ने को उद्यत हैं। जिनकी आज्ञा का पालन इन्द्रादि देवपाल सिर झुका कर करते हैं, जो सुधर्मा सभा में विराजमान हैं, वे ही यादवों के अधीश्वर उग्रसेन इन दुष्टों की दृष्टि में विभुपद के योग्य नहीं। ठीक है यादव पैर की पादुका हैं और कौरव सिर हैं। इन दुष्टों की ऐसी ऊट पटाङ्ग बातों को स्वयं शासक होकर कौन सुन सकता है?

यह कह और हाथ में हल ले बलभद्र उठ खड़े हुए और हस्तिनापुर को गङ्गा में डुबो देने के लिये हल की नोक से गङ्गा की ओर उसे खींचा। यह देख सब कौरवों की सिट्टी गुम्म हो गयी और अब वे आपे में आये। साँब और लक्ष्मणा को आगे कर, हाथ जोड़े और नम्रभाव से वे बलराम की शरण में आये तथा उनकी स्तुति करने लगे।

तब तो बलराम ने उनको अभयदान दिया। इस पर दुर्योधन ने बहुत सा देनदायजा (यौतुक) दे लक्ष्मणा का विवाह साँब के साथ कर दिया। हलधर भतीजे और उनकी बहू समेत द्वारका को लौट गये और सारा हाल भरी सभा में कहा।

तभी से हस्तिनापुर अब तक गङ्गा की ओर उठा हुआ है और अभी तक बलभद्र जी के विक्रम को जगत् में प्रकट कर रहा है।

द्वारकापुरी की शोभा और नारदजी।

नरकासुर की बन्दिनी सोलह हज़ार एक सौ राजकुमारियों के साथ श्रीकृष्णचन्द्र के विवाह होने का वृत्तान्त जान, देवर्षि नारद को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे इस विचित्र व्यापार की टोह लेने के अभिप्राय से द्वारका में गये। नारद मन ही मन सोचने लगे—"अरे! यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है अकेले श्रीकृष्ण और एक ही शरीर से पृथक् पृथक राजभवनों में उनका सोलह हज़ार एक सौ राजकुमारियों के साथ विवाह करना बड़े ही आश्चर्य की बात है!

नारद जी ने द्वारका में जाकर देखा—उपवनों में पक्षी और भौंरे मनोहर मधुर बोलियाँ बोल रहे हैं और सरोवरों में फूले हुए कमलों की मनोहारिणी शोभा देख पड़ती है। हंस और सारसों के झुण्ड उन सुन्दर तड़ागों के तट पर बैठे उच्चस्वर से कलरव कर रहे हैं। पुरी के भीतर लाखों चाँदी के बने हुए भवन हैं जिनमें सहस्रों बहुमूल्य मरकत मणियाँ जड़ी हैं और अपने प्रकाश से जगर मगर हो रही हैं। उनके भीतर रत्नजटित पर्यङ्कों की शोभा देखते ही बन पड़ती है। राजपथ गलियाँ, चबूतरे, चौराहे, बाज़ार, मण्डी शालाएँ और अनेकानेक देवालयों से नगरी की शोभा दूनी हो रही है। नगरी भर में वायु से विताड़ित ध्वजा पताकाएँ घोर सूर्यातप को रोक कर छाया किये हुए हैं। नगरी के भीतर श्रीकृष्ण के आवस भवनों की बनावट और विचित्र कारीगरी देख विश्वकर्मा की बुद्धि को सराहे बिना नहीं रहा जाता। श्रीकृष्ण के आवस भवन उनकी सोलह सहस्र एक सौ रानियों से शोभायमान हैं।

उसी आवसभवन में पहुँच कर नारद जी ने एक भवन विशेष में प्रवेश किया। वहाँ नारद ने जो कुछ देखा उससे उनकी आँखें चौंधिया गयीं। श्री कृष्ण के अन्तःपुर की श्री को देख इन्द्रभवन की श्री फीकी जान पड़ने लगी। उन्होंने वहाँ देखा कि श्री कृष्ण एक भवन में बैठे हैं और अनेक सुसज्जित दासियों से परिवृत रुक्मिणी जी सोने की डण्डी का पङ्खा उन पर डुला रही हैं। नारद को आते देख श्री कृष्ण झटपट पर्य्यङ्क छोड़ पृथिवी पर खड़े हो गये और देवर्षि के चरणों पर सिर रख उन्हें प्रणाम किया और उन्हें अपने आसन पर बैठाया। फिर सब तीर्थों के तीर्थ होने पर भी उन्होंने देवर्षि के पादोदक से अपने सब अङ्गों को स्पर्श कर उसे अपने मस्तक पर रखा। फिर शिष्टाचार के अनुसार उनका स्वागत करते हुए उनसे कहाः—"आपका आगमन हमारे सौभाग्य की सूचना है। क्योंकि आपके दर्शन बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ?" इस पर नारद जी बोलेः—

नारद—हे सम्पूर्ण लोकों के स्वामी! आप सब से मित्रभाव भी रखते हैं और दुष्टों का दमन भी करते हैं। हमको भलीभाँति विदित है कि आपका स्वेच्छावतार जगत की स्थिति और रक्षा के अभिप्राय ही से होता है। जिन चरणों का ध्यान अगाध बोध वाले ब्रह्मा किया करते हैं, उनके साक्षात् दर्शन कर आज मैं कृतकृत्य हो गया। मैं तो सदा इन्हीं चरणों का ध्यान कर विचरा करता हूँ। भगवन्! ऐसी अनुग्रह कीजिये जिससे आपका ध्यान सदा बना रहे।

यह कह श्रीकृष्ण की माया देखने को नारद उस भवन से निकल दूसरे भवन में गये। वहाँ जाकर नारद जी ने देखा कि श्रीकृष्ण अपनी रानी और उद्धव के साथ चौपड़ खेल रहे हैं। नारद को आते देख श्री कृष्ण उठ खड़े हुए और बैठने के लिये नारद को आसन दिया। तदनन्तर नारद को आसन दे वे उनसे इस प्रकार वार्तालाप करने लगे मानों इसके पूर्व उनसे भेंट ही नहीं हुई थी। श्री कृष्ण ने कहाः—"मुनिप्रवर! आपका आगमन कब हुआ? आप तो स्वयं पूर्ण हैं, अतः हम जैसे अपूर्ण व्यक्ति आपके किस काम आ सकते हैं। तथापि हे ब्रह्मन्! आज्ञा दीजिये जिससे हम अपने जन्म को सफल करें।" नारद जी यह माया देख अवाक् हो गये। उनसे कुछ भी कहते न बन पड़ा। वे चुपचाप उस भवन से निकल तीसरे भवन में गये। वहाँ जाकर देखा कि श्रीकृष्ण अपने पुत्र और पौत्रों को खिला रहे हैं। इसी प्रकार नारद जिस जिस भवन में गये उस उसमें श्रीकृष्ण को कुछ न कुछ नया ही काम करते पाया। अन्त में केशव की योगमाया को देख और मुसुक्या कर नारद ने श्रीकृष्ण से कहाः—

नारद—प्रभो! आपकी योगमाया के विभव को देख बड़े बड़े योगेश्वर भी हार मान बैठते हैं और उसका अन्त नहीं पाते। किन्तु मुझे ऐसी प्रतीति होती है कि आपके चरणों का सेवक होने के कारण मैं उस योगमाया को देख सका हूँ। हे देव! मैं उन सब लोकों में जाना चाहता हूँ जो आपके यश से उज्ज्वल हो रहे हैं। आप मुझे आज्ञा दीजिये। आपकी भुवन पाविनी लीलाओं को गाता हुआ मैं विचरण करता रहता हूँ।"

श्रीकृष्ण—ब्रह्मन्! मैं धर्मवक्ता हूँ, मैं धर्म्मानुष्ठान करता हूँ और मैं ही धर्म कर्म्मों का अनुमोदन करता भी हूँ। सब लोगों को धार्मिक शिक्षा देने के अभिप्राय ही से मैं इस रूप में अवस्थित हूँ। तुमको मेरी योगमाया देख कर मोहित न होना चाहिये।

श्रद्धायुक्त चित्त से धर्म अर्थ और काम के द्वारा श्री कृष्ण से नारद इस प्रकार पूजित हो और उनका स्मरण करते हुए, वहाँ से चल दिये।

जरासन्ध द्वारा उत्पीड़ित राजाओं के भेजे हुए दूत का श्रीकृष्ण के पास आगमन ।

सवेरा हो रहा था और इसकी सूचना देने वाले कुक्कुट बोल रहे थे। श्रीकृष्ण पड़े सो रहे थे। कुक्कुटों का शब्द सुन वे उठ बैठे और पैर धो तथा आचमन कर, सब इन्द्रियों को प्रसन्न और मन को स्वस्थ किया। फिर वे अपने ही रूप के ध्यान में मग्न हुए। फिर निर्मल जल से स्नान कर उत्तरीय वस्त्र धारण किया। फिर नित्य नैमित्तिक कर्म किये। इतने में सूर्य देव ने दर्शन दिये। उनको प्रणाम कर ब्राह्मणों को अनेक पटवस्त्र, मृगचर्म और तिल सहित चौरासी सहस्र तेरह गौवें दीं। तदनन्तर बड़े बूढ़ों और ब्राह्मणों को प्रणाम कर उन्होंने, वस्त्र भूषण धारण किये। तदनन्तर घी, दर्पण, वृष, द्विज और देवताओं के दर्शन कर सब वर्ण के पुरवासियों और अन्तःपुरचारी लोगों को उनकी अभिलषित वस्तुएँ दीं।

इतने ही में सारथी ने जुता जुताया रथ लाकर द्वार पर खड़ा किया। तब श्रीकृष्णचन्द्र उद्धव और सात्यकी के साथ रथ पर जा बैठे। रथ वहाँ से चल कर उग्रसेन के सुधर्म्मा सभा-भवन के द्वार पर पहुँच कर रुका और श्री-कृष्ण अपने साथियों समेत उतर कर सभा में जा विराजे। इतने ही में उस सभा में एक अपरिचित ब्राह्मण आ उपस्थित हुआ। उसने सभाके भवन में जा श्रीकृष्ण को प्रणाम किया और फिर वह जिस कार्य्य को आया था, उसको उसने इस प्रकार कहना आरम्भ किया:—

ब्राह्मण—नाथ! जरासन्ध ने दिग्विजय यात्रा के समय उन राजाओं को पकड़ा जिन्होंने उसकी वश्यता अङ्गीकार नहीं की और उन्हें पकड़ कर उसने अपने दुर्भेद्य गिरिव्रज नामक दुर्ग में बन्द कर रखा है। गिरिव्रज दुर्ग में रुद्ध राजाओं की संख्या बीस सहस्र तक पहुँच गयी है। मैं उन्हींका भेजा दूत उन्हींका सन्देसा लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। उन्होंने नम्रतापूर्वक आपसे निवेदन किया है कि हम भेद भाव वाले, भवभय से भीत हो आपकी शरण में आये हैं। आप जगदीश्वर हैं। साधुओं की रक्षा और दुष्टों का दमन ही इस धराधाम पर आपके अवतीर्ण होने का उद्देश्य है। राजा होकर भी हमें अपना जीवन दुःसह भार जान पड़ रहा है। हमारे कष्टों का अन्त नहीं है। पर एक बड़ी आशा है। वह यह है कि आपके चरण कमल प्रणतजनों के शोक सन्ताप को हरने वाले हैं। मगधराज के शरीर में दस सहस्र हाथियों जितना बल है। वह सिंह के समान पराक्रमी जरासन्ध हमको उसी प्रकार अपने दुर्भेद्य दुर्ग में बंद़े हुए है, जैसे गड़रिया अपनी भेड़ों को बेंड़ता है। जरासन्ध आपसे भी सत्रह बार लड़ा पर सत्रहों बार उसे हारना पड़ा। किन्तु अठारहवीं बार आपके द्वारका चले जाने से वह अपने मन में आपको पराजित समझ आपके हम जैसे जनों को सता रहा है। अब आप जो उचित समझें सो करें।

दूत ब्राह्मण ने कहा:—"यह कह कर अवि-रुद्ध राजों ने, हे नाथ! आपके चरणों का आश्रय पकड़ा है। आप दीन जनों का मङ्गल कीजिये।"

दूत ब्राह्मण अपनी बात पूरी भी न करने पाया था कि परम तेजस्वी नारद जी आकाश मार्ग से उस सभा में पहुँचे। उनका यथा विधि पूजन कर श्रीकृष्ण ने उनसे कहा:—

श्रीकृष्ण—देवर्षि यह तो कहिये तीनों लोक इस समय निर्भय तो हैं न? किसी को किसी

प्रकार का भय तो नहीं है। आपका दर्शन हम अपने पक्ष में परम लाभ समझते हैं। विश्व ब्रह्माण्ड में ऐसा कोइ स्थल नहीं जहाँ का वृत्तान्त आपसे छिपा हो। आप यह तो बतलावें इस समय पाण्डव क्या कर रहे हैं?

नारद—हे भगवन्! आप साक्षात् परब्रह्म हो कर भी अपनी माया से सबको मोहित कर रहे हैं। आप ब्रह्म होकर भी इस समय मानवी लीला का अनुकरण कर रहे हैं। अतएव मैं आप की बुआ के लड़कों पाण्डवों का वृत्तान्त कहता हूँ। युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करने वाले हैं। आप इस सुकार्य का अनुमोदन कीजिये। इस यज्ञ में बड़े बड़े देवता और राजा आपही के दर्शनों की कामना से आवेंगे।

नारद ने भी गुप्तरूप से जरासन्ध के विजय की बात कही—पर सर्वसाधारण उपस्थित सदस्य नारद के सङ्केत को न समझ सके। अतएव उसे स्पष्ट करने के लिये श्री कृष्ण ने अपने भृत्य उद्धव से कहा—"हे उद्धव! तुम हमारे प्रिय बन्धु और श्रेष्ठ सचिव हो। तुम बड़े चतुर और बुद्धिमान् हो। तुम्हारी बुद्धि प्रत्येक रहस्य के तल तक पहुँच जाती है। मैं तुम्हें अपने दिव्य नेत्र समझता हूँ। अतः अब पहले क्या करना चाहिये सो कहिये।" सर्वान्तर्यामी स्वामी ने जब इस प्रकार अज्ञानी सदृश प्रश्न किया तब उनकी आज्ञा को सिर पर चढ़ा उद्धव ने कहा:—

उद्धव—देव! आपकी बुआ के लड़के जब राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं, तब आपका वहाँ जाना ही श्रेष्ठ है और साथ ही शरणागत राजाओं की रक्षा भी करनी आवश्यक है। मेरी समझ में देवर्षि की इच्छानुसार पहले आप हस्तिनापुर चलें। क्योंकि जब तक युधिष्ठिर दसों दिशाओं को न जीतेंगे, तब तक राजसूय कैसे होगा। उसी दिग्विजय में जरासन्ध भी जीता जायगा। इससे दोनों काम बन जांयगे। महाराज जरासन्ध के शरीर में दस सहस्र हाथियों जितना बल है। उसका सामना भीम को छोड़ और दूसरा कोई नहीं कर सकता।

श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर गमन।

उद्धव की युक्तियुक्त इस सम्मति को सभी उपस्थित सदस्यों ने सराहा। तदनन्तर हस्तिनापुर जाने की तैयारियाँ करने की आज्ञा दी गई। नारद आकाश मार्ग से चल दिये। तब श्री कृष्ण ने राजाओं के भेजे ब्राह्मण को सम्बोधन कर कहाः—

श्री कृष्ण—तुम जाकर राजाओं से कह दो कि वे घबड़ायें नहीं, उनका शीघ्र ही मङ्गल होगा। वे विश्वास रखें जरासन्ध अब बहुत शीघ्र मारा जायगा।

यह सुन दूत ने जा राजाओं को श्रीकृष्ण का सन्देसा सुनाया। सुनते ही वे सब श्री कृष्ण के आगमन और अपने छुटकारे की प्रतीक्षा करने लगे।

उधर श्रीकृष्ण भी हस्तिनापुर की ओर प्रस्थानित हुए और क्रमशः आनर्त्त सौवीर मरुदेश और कुरुक्षेत्र में होकर, अनेक गिरि, नगर ग्राम व्रज और घरों की शोभा देखते दृशद्वती और सरस्वती नदियों को पार कर पाञ्चाल और मत्स्य देश भझाते हस्तिनापुर में जा पहुँचे। श्रीकृष्ण का आगमन सुन युधिष्ठिर के आनन्द की सीमा न रही। वे उनकी अगवानी के लिये नगर के बाहिर गये। श्रीकृष्ण को देखते ही युधिष्ठिर के हृदय में स्नेह का सागर उमड़ा। कुछ देर के लिये तो मारे आनन्द के युधिष्ठिर आपे में न रहे और आनन्द में मग्न हो गये। क्रमशः भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी बड़े प्रेम के साथ श्रीकृष्ण से मिले भेंटे। तदनन्तर श्रीकृष्ण ने वहाँ जो बड़े बूढ़े और मान्य ब्राह्मण थे उन सब को यथायोग्य अभिवादन किया। फिर बड़ी धूमधाम से श्रीकृष्णचन्द्र की सवारी इन्द्रप्रस्थ में होकर निकली। सड़कों के

दोनों ओर स्त्री पुरुष दर्शकों की भीड़ लग गयी।

राजपथ से होकर श्रीकृष्ण की सवारी राजभवन के समीप पहुँची। वहाँ श्रीकृष्णचन्द्र जी ने देखा कि प्रत्येक भवन में श्रेणीबद्ध रत्न दीपकों का प्रकाश हो रहा है। यथायोग्य स्थानों पर पूजन की सामग्री सजी सजाई रखी है। भवन के झरोखों और जालियों में होकर सुवासित धूम निकल रहा है। भवन के शीर्ष स्थानीय भाग पर पताकाएँ फहरा रही हैं। भवन के ऊपर वाले खण्ड पर सुवर्ण के कलश रखे हैं; वह भवन एक सजेसजाये विमान जैसा जान पड़ता था। स्त्रियाँ रास्ते भर अटारियों पर चढ़ी और श्रीकृष्ण के दर्शन कर उन पर फूलों की वर्षा कर रही थीं।

युधिष्ठिर देवादिदेव श्रीकृष्ण को घर में ले जाकर आनन्द में ऐसे मग्न हुए कि वे पूजा का क्रम भी भूल गये। भीतर जाकर श्रीकृष्ण ने अपनी बुआ कुन्ती को और गुरु-पत्नियों को प्रणाम किया। फिर श्रीकृष्ण की छोटी बहिन सुभद्रा और द्रौपदी ने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया। श्रीकृष्ण अपनी मुख्य पटरानियों को भी अपने साथ हस्तिनापुर ले गये थे। अतः सासकी प्रेरणा से द्रौपदी ने रुक्मिणी आदिका आदर पूर्वक अच्छा सत्कार किया।

युधिष्ठिर को प्रसन्न करने के लिये श्रीकृष्ण कई मास तक हस्तिनापुर में रहे और रथ पर चढ़ अर्जुन सहित कितने ही स्थानों की देखा भाली की इसी अवसर पर श्रीकृष्ण ने इन्द्र का खाण्डव नामक वन दिला कर अग्नि को प्रसन्न किया और अग्नि से मायासुर की रक्षा की। इसके बदले मायासुर ने भी युधिष्ठिर को एक विचित्र और दिव्य सभा बना दी।

जरासन्ध का वध।

एक दिन मुनि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आचार्य एवं छोटे बड़े बन्धु बान्धवों सहित युधिष्ठिर सभा में बैठे हुए थे। उस समय उन्होंने सब के सामने श्रीकृष्ण से कहाः–

युधिष्ठिर—हे गोविन्द! सब यज्ञों में श्रेष्ठ राजसूय यज्ञ द्वारा आपकी पवित्र विभूति देवताओं का पूजन करने का मेरा विचार है। पर उस विचार का पूरा होना आपके हाथ है। जो लोग आपकी शरण में रहते हैं वे ही सुकृती हैं और उनका अमङ्गल कभी नहीं होता। आप की कृपा हुए बिना चक्रवर्त्तियों को भी सुख शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। आप अपने सेवकों को उनकी सेवा के अनुरूप फल भी देते हैं। इस आपके नियम में कभी तिल भर भी अन्तर नहीं पड़ता।

श्रीकृष्ण—राजन्! आपका यह विचार बहुत उत्तम है। राजसूय यज्ञ करने से आपकी कीर्त्ति चारों ओर फैल जायगी। मैं ही नहीं किन्तु ऋषि, पितृ, देवता और आपके बन्धुगण भी यही चाहते हैं कि आप यह यज्ञ करें। अतः पृथिवी मण्डल के समस्त राजाओं को जीत कर इस यज्ञ का सूत्रपात कीजिये। यज्ञीय सामग्री के एकत्रित किये जाने की आप अभी आज्ञा दें। राजन् लोकपालों के अंश से उत्पन्न आपके ये चारो भाई पृथिवी भर के राजाओं को जीत सकते हैं। मैं स्वयं उन लोगों के लिये अजेय हूँ, जो अजितेन्द्रिय हैं। किन्तु आपने मुझे भी अपने वश में कर रखा है क्योंकि आप जितेन्द्रिय हैं। आप चिन्ता न करें। मेरे भक्तों को यश, धन आदि में मनुष्यों की तो गिन्ती ही क्या है—देवता भी नहीं हरा सकते।

श्रीकृष्ण के मुख से ऐसे उत्साह बढ़ाने वाले वचनों को सुन उसी समय यज्ञ की तैयारियाँ होने लगीं। चारों भाइयों को अलग अलग चारों दिशाओं को जीतने का काम सौंपा गया। सहदेव दक्षिण की ओर, नकुल पश्चिम की ओर और भीमसेन पूर्व की ओर बहुत से सहायक नरेशों और सैन्य सहित दिग्विजय के लिये भेजे गये। यथा समय चारों भाई पृथिवी मण्डल के

समस्त अधीश्वरों को वश में कर और बहुत सा धन धान्य लेकर लौट आये। जरासन्ध को छोड़ सभी राजा परास्त हुए। जरासन्ध का परास्त होना सुन युधिष्ठिर चिन्तित हुए। तब अपने भक्त की चिन्ता मिटाने वाले श्री कृष्णचन्द्र अपने साथ भीम और अर्जुन को ले तथा ब्राह्मण का वेश धारण कर गिरिव्रज को गये जिस समय ये तीनों जरासन्ध के द्वार पर पहुँचे उस समय अतिथिवेला थी। द्वार पर पहुँचतेही ब्राह्मणवेशधारी इन तीनों क्षत्रियों ने प्रार्थना पूर्वक कहाः—

तीनों—राजन्! हम प्रार्थी अतिथि हैं हम बहुत दूर से आपके पास आये हैं। अतः हमें हमारी मुँहमाँगी वस्तु मिलनी चाहिये। आपका कल्याण हो। दानी पुरुष के लिये कोई भी वस्तु अदेय नहीं है और असत्जन के लिये कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो अनकरना हो, इसी प्रकार जो समदर्शी है उसके लिये उसका कोई भी पराया नहीं है। जो सामर्थवान् होकर भी सज्जनों के द्वारा गाने योग्य अविनाशी यश को नहीं कमाता, वह निन्द्य और शोच्य है। हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, मुग्दल, शिवि, वलि, व्याध, कपोत आदि के अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो उदारता दिखा कर, इस अनित्य शरीर से नित्य लोकों में पहुँचे हैं।

इन बनावटी ब्राह्मणों की बोलचाल के ढङ्ग और कलाइयों में पड़ी हुई धनुष की डोरी के चिन्हों को देख जरासन्ध झट जान गया कि ब्राह्मण बनावटी हैं किन्तु हैं क्षत्रिय। साथ ही उसे यह भी जान पड़ने लगा कि ये तीनों उसके पूर्व परिचित हैं पर हैं कौन सो उसे स्मरण न आया। तिस पर भी उसने अपने मन में यह निश्चित कर लिया कि ये क्षत्रिय होकर भी जब ब्राह्मण का वेश धर कर आये हैं, तब मैं यदि ये अदेय वस्तु भी मुझसे क्यों न माँगे मैं अपने मुँह से "नाहीं" नहीं करूँगा। क्योंकि यह शरीर तो नाशवान् है ही। एक न एक दिन यह नष्ट होवेहीगा, तब क्षत्रिय होकर ब्राह्मण का काम न करना जीवन को व्यर्थ खोना है। यह विचार मन में पक्का कर जरासन्ध ने उन तीनों अतिथियों से कहाः—

जरासन्ध—हे विप्रो! तुम्हारी जो इच्छा हो सो माँगो और तो और यदि तुम मुझसे मेरा सिर भी माँगोगे तो मैं उसे भी अपने हाथ से काट कर दे दूँगा।

श्रीकृष्ण—राजेन्द्र! हम ब्राह्मण नहीं क्षत्रिय हैं और युद्ध याञ्चा के लिये हम तुम्हारे पास आये हैं। हमें और कुछ भी नहीं चाहिये। यदि इच्छा हो तो हम तीनों में से जिससे चाहो उससे लड़ लो। यह तो कुन्तीपुत्र भीम हैं और दूसरे भीम के भाई अर्जुन हैं। इनके मामा का लड़का और तेरा वैरी मैं श्रीकृष्ण हूँ।

श्रीकृष्ण के वचन सुन मगधराज बड़ी ज़ोर से ठहाका मार कर हँसा। तदनन्तर कुछ कुछ रोष में भर कर बोलाः—

जरासन्ध—अरे मन्दमति क्षत्रियो! यदि तुम्हारी इच्छा लड़ने ही की है तो इसे भी मैं पूरी करूँगा। पर कृष्ण! तू तो भीरु और भगोड़ा है। तू तो रणक्षेत्र छोड़ कर भाग जाता है। तुझसे मैं न लड़ूँगा। रहा अर्जुन सो मुझसे अवस्था में छोटा है और बल में भी मुझ से हेटा है। अतः यह भी मेरे जोड़ का नहीं है। हाँ एक यह भीम है जिसके साथ मैं लड़ सकता हूँ।

यह कह एक गदा तो जरासन्ध ने भीम के हाथ में दी और वैसी ही दूसरी एक अपने हाथ में ली। फिर दोनों वीरों में परस्पर मारा मारी आरम्भ हुई। जब लोहे जैसे शरीर पर गिर गिर कर दोनो गदाएँ चूर्ण हो गईं तब दोनों में घूँसावाज़ी हुई। यह लड़ाई एक दो दिन तक नहीं किन्तु सत्ताइस दिनों तक होती रही। दिन भर तो इन दोनों में परस्पर युद्ध होता और रात के समय दोनों

और पास ही पास सोया भी करते थे। एक दिन रात के समय भीम ने श्रीकृष्ण से कहाः—

भीम—माधव! मुझसे तो युद्ध में जरासन्ध को जीतना नहीं बन पड़ेगा।

श्रीकृष्ण यह रहस्य जानते थे कि जरासन्ध दो टुकड़ों में जन्मा था और उन दो टुकड़ों को जरा नाम्नी राक्षसी ने जोड़ कर एक कर दिया था। अतः भीम की बात सुन श्रीकृष्ण ने भीम के शरीर पर अपना अभयहस्त फेरा।

दूसरे दिन सवेरे जब फिर युद्ध आरम्भ हुआ तब भीम को सङ्केत द्वारा जरासन्ध के मारने का उपाय बताने के अभिप्राय से श्रीकृष्ण ने एक तिनका उठाया और बीच से उसके दो टुकड़े कर डाले। इस सङ्केत को भीमसेन झट ताड़ गये। फिर क्या था, भीमसेन ने झट जरासन्ध को धरती पर पटक बीच से उसे चीर डाला। मगधराज मारे गये। उनके मरने का संवाद नगर में फैलते ही चारों ओर हाहाकार होने लगा। तदनन्तर श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के पुत्र सहदेव को राजगद्दी पर बिठाया और जरासन्ध द्वारा पकड़े गये और बन्द राजाओं को मुक्त किया।

बन्दी राजाओं का छुटकारा।

जरासन्ध ने २० हज़ार ८ सौ राजाओं को परास्त कर अपने दुर्गम दुर्भेद्य गिरिव्रज दुर्ग में क़ैद कर रखा था। बन्दी की अवस्था में बहुत दिनों तक रहने के कारण उन राजाओं की आकृति बदल सी गयी थी। पर श्रीकृष्णचन्द्र के दिव्य दर्शन पाते ही वे सारा कष्ट भूल गये और उनका जन्म जन्मान्तर का सारा पाप भी नष्ट हो गया। उन राजाओं ने श्रीकृष्ण के चरणों पर अपने सीस नवा उन्हें प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर यह स्तुति कीः—

राजा—हे श्रीकृष्ण! हम आपके शरणागत हैं। अब हमें राजपाट नहीं चाहिये; क्योंकि हमारे मन में अब वैराग्य उदय हुआ है। अब तो आप हमारी प्रार्थना स्वीकार करें। हमें इस घोर भवसागर से निकालिये। अपने चिर शत्रु मगधराज के प्रति हमारे मन में तिल भर भी वैरभाव नहीं है। राज्य से भ्रष्ट होना हम राजाओं को अपने ऊपर आपकी पूर्ण कृपा समझनी चाहिये। राजा लोग राज्य और ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त हो कुपथगामी होते हैं। आपकी माया से मोहित वे अनुपाय ही को उपाय समझ बैठते हैं। सब सर्गों की जन्मभूमि इस शरीर द्वारा जिस राज्य का भोग किया जाता है उस मृगतृष्णा तुल्य राज्य की हमें तिल भर भी चाहना नहीं है आप तो हमें अब कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे संसार में बार बार जन्म लेकर भी हम आपके चरण कमलों को कभी न भूलने पावें।

श्रीकृष्ण—हे राजा गण! तुम्हारी इच्छानुसार आज से मुझमें तुम्हारी अटल भक्ति होगी। तुम्हारा संकल्प ठीक है और तुम्हारे विचार भी अच्छे हैं। मद, मनुष्य मात्र के अधः पतन का कारण है। नहुष, रावण, नरकासुर का अधःपतन ऐश्वर्य के मद ही से हुआ। मुझ में मन लगा कर साँसारिक सुखों को जो उपभोग करता है, वह अन्त समय में परब्रह्म स्वरूप मुझको प्राप्त होता है।

इस प्रकार राजाओं को उपदेश दे श्रीकृष्ण ने उन राजाओं के उबटना लगा कर उन्हें स्नान कराने के अर्थ अनेक दास दासियाँ नियुक्त कीं। जब वे स्नान कर और उत्तम वस्त्र धारण कर चुके, तब उन्हें भोजन कराये गये। तदनन्तर उन राजाओं की पद मर्यादा के अनुसार उनका सत्कार कर और रथों पर बिठा वे सब अपने अपने राज्यों को भेज दिये गये। अपनी अपनी राजधानियों में पहुँच अपनी प्रजा को जरासन्ध के मारे जाने और अपने छुटकारे के उपाय का

वृत्तान्त कहते हुए श्रीकृष्ण का गुण गान किया।

इस प्रकार जरासन्ध को मरवा और उसके पुत्र सहदेव के द्वारा पूजित हो भीम और अर्जुन सहित श्रीकृष्ण गिरि व्रज से हस्तिनापुर को लौट आये। जरासन्ध का मारा जाना सुन सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। दोनों भाइयों सहित श्री कृष्ण ने जाकर युधिष्ठिर को प्रणाम किया और गिरिव्रज का सारा हाल कहा।

शिशुपाल का वध।

अब युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ आरम्भ हुआ। इस यज्ञ में द्वैपायन, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वशिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, विश्वामित्र, वामदेव, जैमिनि, धौम्य, भार्गव आदि महर्षि, धृतराष्ट्र, कृपाचार्य, भीष्म आदि कौरव और विदुर आदि पाण्डवों के हितैषी उपस्थित हुए थे।

ब्राह्मणों ने सुवर्ण के हल से यज्ञभूमि संस्कारित की और वैदिक विधि के अनुसार युधिष्ठिर को यज्ञ की दीक्षा दी गयी। सब देवता, किन्नर, यक्ष, राक्षस, सपरिवार सब राजा, इस यज्ञ को देखने आये। विधिपूर्वक यज्ञ पूरा हुआ। अन्त में महाभाग याजकों की युधिष्ठिर ने पूजा की। उस सभा में सब से प्रथम पूजन पाने के योग्य कई लोग उपस्थित थे। अतः लोग विचारने लगे कि प्रथम पूजन किसका हो? जब इस प्रश्न पर विचार करते बहुत समय बीत गया और अन्तिम निर्णय न हो पाया, तब जरासन्ध के पुत्र सहदेव से न रहा गया। वह कहने लगाः—

सहदेव—आप लोग विचार ही विचार में इतना समय व्यर्थ क्यों गँवा रहे हैं? यदुकुल के अधिपति श्रीकृष्ण सब के पूज्य हैं इनके पूजन से सब कार्य सुसम्पन्न होंगे। ये विश्वात्मा होने से सारे यज्ञ इन्हींके रूप हैं। ये ही अग्नि हैं। ये ही आहुती हैं। ये ही मंत्र हैं। ये ही ज्ञान और योग की चरम सीमा हैं। अपने यदि पुण्य कर्म को अक्षय्य करने की इच्छा हो तो सब से पहले भेदभाव रहित होकर श्रीकृष्ण का पूजन करो।

यह कह सहदेव के चुप होते ही साधु जन उनकी प्रशंसा कर वाह वाह करने लगे। इस पर युधिष्ठिर ने इस बात को सर्वसम्मति समझ श्रीकृष्ण का पूजन किया। उस समय से चारों ओर से श्रीकृष्णचन्द्र पर पुष्पों की वर्षा होने लगी। पर दमघोषतनय शिशुपाल को श्रीकृष्ण का यह सम्मान अच्छा न लगा। वह अत्यन्त कुपित हुआ। क्रोध के आवेश में वह अपने आसन पर स्थिर न रह सका और उठ कर खड़ा हो गया। फिर हाथ उठा और निर्भय हो भरी सभा में इस प्रकार श्रीकृष्ण को गालियाँ देते हुए कहने लगाः—

शिशुपाल काल की लीला भी विचित्र है। यह काल की महिमा ही है कि एक बालक के कहने से बड़े बूढ़ों की मति पर भी पत्थर पड़ गये। हे सम्पूर्ण सदस्यो! आप पात्रापात्र का ज्ञान रखते हैं। श्रीकृष्ण ही सब से पहले पूजने योग्य हैं, बालक के कहे हुए इस वाक्य को आप ठीक न समझना। तप, व्रत, विद्या और ज्ञान द्वारा जिनके सारे दुष्कृत नष्ट हो चुके हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, उन सभापति महर्षियों के सामने यह कुल कलङ्क गोप का छोकड़ा कैसे पूजने के योग्य हो सकता है? देवताओं के पुरोडाश को कहीं काक खा सकता है? इस कृष्ण के न तो वर्ण तथा आश्रम का कुछ ठीकठिकाना है और न इसके कुल ही का कुछ पता चलता है। यह सब धर्मों से वहिष्कृत और मनमानी घर जानी करने वाला और गुणहीन है। यह पूज्य क्यों कर हो सकता है? यह उसी कुल का कलङ्क है जिस कुल में श्रीभ्रष्ट, साधुपरित्यक्त एवं वृथा मान निरत ययाति हो चुका है। यह ब्रह्मर्षि सेवित देश को छोड़ कर समुद्र के बीच दुर्ग बना कर बसा है और डाँकुओं की तरह प्रजा को सताता है।

शिशुपाल ने इसी प्रकार के अनेक कटुवचन कहे—पर श्रीकृष्णचन्द्र चुप चाप सुनते रहे। कुछ भी न बोले। पर अन्य सदस्यों से उनकी निन्दा न सुनी गयी और वे शिशुपाल को कोसते और कानों को उङ्गलियों से बन्द किये हुए—सभा से उठ कर चल दिये। क्योंकि भगवान् या भगवद्भक्तों की निन्दा करने वाले को दण्ड देने में असमर्थ जो पुरुष उठ कर नहीं चल देता उसके सारे सुकृत नष्ट हो जाते हैं।

अन्त में श्रीकृष्ण की निन्दा को न सुन कर चारों पाण्डव, मत्स्य, सञ्जय और केकय देश के नरेश हथियार लेकर शिशुपाल को मारने के लिये उठ खड़े हुए—पर शिशुपाल यह देख कर तिल भर भी विचलित न हुआ। उसने भी ढाल तलवार उठा ली। पर श्रीकृष्ण ने अपने पक्षवालों को युद्ध करने से रोका और स्वयं क्रुद्ध हो अपने ऊपर आक्रमण करते हुए शिशुपाल का सिर चक्र से काट गिराया। उसके मारे जाते ही सभा में बड़ा कोलाहल हुआ। शिशुपाल के पक्षपाती अन्य राजा अपने अपने प्राण लेकर भागे।

तदनन्तर युधिष्ठिर ने ऋत्विजों और सदस्यों को मुँह माँगी दक्षिणा दे सन्तुष्ट किया और अन्त में अवभृथ स्नान किये।

इस प्रकार राजसूय यज्ञ कर महाराजयुधिष्ठिर सम्राट् हुए।

यज्ञ पूरा होने पर श्रीकृष्ण पाण्डवों के आग्रह से कई मास तक हस्तिनापुर में रहे। अन्त में अन्य उपाय न देख युधिष्ठिर की इच्छा न रहने पर भी श्रीकृष्ण अपने साथियों सहित हस्तिनापुर से चल कर द्वारका में पहुँचे।

महाराज युधिष्ठिर के इस यज्ञ को देख, दुर्योधन को छोड़ और सभी सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए थे।

दुर्योधन की अवज्ञा।

पढ़ने वाले पूँछ सकते हैं कि यज्ञ में जितने लोग सम्मिलित हुए थे उनमें केवल दुर्योधन ही के मन में पाण्डवों का वैभव देख जलन क्यों उत्पन्न हुई? इसका कारण है, और वह आगे दिखलाया जाता है।

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में यज्ञ सम्बन्धी अनेक कार्यों को महाराज के बन्धु-बान्धवों ने स्वयं पृथक् पृथक् बाँट लिये थे। जैसे भीमसेन को पाकशाला का और दुर्योधन को धनागार का काम सौंपा गया था। अर्जुन अभ्यागतों की सेवा पर और श्रीकृष्ण उनके चरण धोने के काम पर नियुक्त थे। द्रौपदी सब को भोजन कराती और उदारमना कर्ण को दान देने का काम सौंपा गया था। इसी प्रकार सात्यकी, विकर्ण, हार्दिक्य और विदुर आदि महाराज युधिष्ठिर के भाई बन्धु यज्ञ सम्बन्धी भिन्न भिन्न कार्य किया करते थे। यज्ञ के समाप्त होते न होते शिशुपाल मारा गया और तदनन्तर अवभृथ स्नानार्थ महाराज युधिष्ठिर गङ्गा तट पर गये। गङ्गागमन महोत्सव की शोभा देखने योग्य थी। आगे आगे शुभ बाजे बजते थे। उनके पीछे गवैयां गान गाते चले जाते थे। इनके पीछे और सब राजाओं के आगे महाराज युधिष्ठिर थे। हाथी घोड़े, पालकी ध्वजा पताकाएँ सभी तो उनके साथ थे। ऊपर से देवता लोग उन पर पुष्पों की वर्षा करते जाते थे। ऊपर तो देवियाँ विमानों में बैठ इस जलूस की शोभा देख रहीं थीं और नीचे रानियाँ रथों में बैठी इस सुहावने दृश्य को देख अपने नेत्रों को सफल कर रहीं थीं। उनके रथों की रक्षा के लिये अनेक सैनिक रक्षक थे जो रथों को घेर कर चलते थे। इन रानियों की सवारियाँ गङ्गातट पर पहुँचीं और वहाँ स्नान किये।

द्रौपदी सहित महाराज युधिष्ठिर को ऋत्विकों ने विधि पूर्वक स्नान कराये। तदनन्तर अन्य चारों वर्ण वालों ने स्नान किये। स्नान के बाद बहुमूल्य रेशमी पट और आभूषण धारण कर महाराज युधिष्ठिर ने ऋत्विकों

एवं समागत नरपतियों तथा भाई बन्दों का यथायोग्य सत्कार और पूजन किया। तदनन्तर युधिष्ठिर से अनुमति लेकर सब लोग अपने अपने घरों को गये। तदनन्तर महाराज ने श्री कृष्णचन्द्र जी एवं अन्य अपने आत्मियों को भी बड़े प्रेम से विदा किया। पर युधिष्ठर को वियोग के दुःख से कातर देख श्रीकृष्ण कुछ दिनों और हस्तिनापुर में रहे और साम्ब आदि यादवों को द्वारका भेज दिया।

यह सब तो हुआ पर युधिष्ठिर के ऐश्वर्य और उनके इस राजसूय यज्ञ को देख दुर्योधन बहुत सन्तप्त हुआ। सब से बढ़ कर दुःसह दाह तो दुर्योधन के मन में मायासुर रचित सभा मण्डप को देख कर उत्पन्न हुआ था। एक बार महाराज युधिष्ठिर अपने भाई बन्दों और राजसत्ताधिकारियों सहित इसी सभा भवन में सुवर्ण के सिंहासन पर विराजमान थे। इतने में महामानी दुर्योधन भी अपने भाइयों सहित उस सभा भवन में पहुँचा। रास्ते में वह द्वारपालों को झिड़कता हुआ जा रहा था कि उस सभामण्डप की विलक्षण रचना के कारण भ्रम वश उसे कई बार लांच्छित होना पड़ा। उस सभामण्डप का काम ऐसी सफाई से बनाया गया था कि दुर्योधन को स्थल का जल और जल का स्थल देख पड़ा। जहाँ उसे विना कपड़े समेटे जाना चाहिये था वहाँ तो वह जल समझ कपड़े समेट कर गया और जहाँ कपड़े उठा कर उसे चलना चाहिये था वहाँ वह स्थल समझ वैसे ही चला और जल में गिर अपने सब कपड़े भिंगो लिये। दुर्योधन की इस मूर्खता पर महाराज युधिष्ठिर के रोकने पर भी श्री कृष्ण का सङ्केत पा द्रौपदी आदि स्त्रियाँ तथा भीमसेन हँसे। इससे दुर्योधन बहुत लज्जित हुआ और मन ही मन मारे क्रोध के वह जलने लगा। कहा तो उसने कुछ भी नहीं, पर सिर नीचा कर चुप चाप वह उसी समय अपने घर लौट गया। इस घटना से युधिष्ठिर उदास हुए; पर श्रीकृष्ण से कुछ कहा सुना नहीं। बात यह थी कि श्रीकृष्ण तो पृथिवी का भार उतारना चाहते थे, अतः उन्हींकी इच्छा से यह दुर्घटना हुई थी। राजसूय यज्ञ देख कर दुर्योधन के अप्रसन्न होने का यही कारण है।

शाल्व वध।

जिस समय श्रीकृष्ण रुक्मिणी को लेकर भागे थे उस समय शिशुपाल के साथ उनका मित्र शल्व भी था और जरासन्ध आदि के साथ उसे भी यादवों से युद्ध में हारना पड़ा था। उस समय रोष और क्षोभ में भर सब राजाओं के सामने शाल्व ने प्रतिज्ञा की थी कि—"मैं अपने पुरुषार्थ से यादवों के वंश का नाश करूँगा। तुम देखोगे कि इस पृथिवी पर यादवों का चिन्ह तक न रहैगा। यह कह वह वहाँ से चला आया और नित्य केवल एक मुट्ठी राख फाँक कर वह शिव की आराधना करने लगा। जब एक वर्ष तक शाल्व ने इस प्रकार घोर तप किया तब शिव जी प्रसन्न हुए और वर देने के लिये प्रस्तुत हो उससे कहाः—"वर माँगो।" शाल्व ने तब शङ्कर से एक ऐसा विमान माँगा, जिसे देख यादव डरें तो पर उसे तोड़ न सकें। इस पर 'शङ्कर तथास्तु' कह कर अपने लोक को लौट गये।

तदनन्तर परपुरञ्जय शिव के कहने से शाल्व को मयदानव ने एक दुर्भेद्य लोहे का सौभ नामक विमान बना दिया। उस दुष्प्राप्य कामचारी विमान में बैठ, यादवों को डराने के अभिप्राय से शाल्व उसी क्षण द्वारका की ओर गया। उसके साथ बहुत सी सेना भी थी। द्वारका में पहुँच शाल्व की सेना वहाँ की रमणीक वाटिकाओं, उपवनों, गोपुरों तथा ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं को तोड़ने फोड़ने लगी। विमान में बैठा शाल्व आकाश मार्ग से द्वारकापुरी के ऊपर बड़े बड़े भारी पत्थर, वृक्ष और भयङ्कर सर्पों की वर्षा करने लगा। इन अकस्मात् उपद्रवों के कारण द्वारकावासी बड़े डरे।

अपनी आश्रित प्रजा को भयभीत और त्रस्त देख उन्हें धीरज बँधाया तथा स्वयं रथ पर बैठ प्रद्युम्न, शाल्व से युद्ध करने के लिये प्रस्थानित हुए। उनके साथ सात्यकी, साम्ब, चारुदेष्ण आदि अनेक वीर यादव भी थे जो चतुरङ्गिणी सेना का परिचालन करते थे। शाल्व की सेना और यादवों की सेना में घोर युद्ध हुआ। देखते देखते प्रद्युम्न जी ने शाल्व की माया को क्षण भर में विनष्ट कर डाला और पच्चीस बाण मार कर शाल्व के सेनापति को घायल कर दिया। फिर सौ बाण शाल्व के भी मारे। प्रद्युम्न की इस वीरता को देख उनके मित्र एवं शत्रु दोनों ही उनकी प्रशंसा करने लगे। शाल्व का वह विमान कभी एक रूप और कभी बहुरूप हो जाता था। यादव लोग उसकी गति को नहीं देख पाते थे। उसका विमान क्षण भर में पृथिवी पर क्षण भर में आकाश में, क्षण भर में समुद्र के जल के ऊपर और क्षण भर में पर्वत शिखर पर दीख पड़ता था। पर जहाँ वह विमान दीख पड़ता वहीं प्रद्युम्न उस पर बाणों की वर्षा करने लगते थे। प्रद्युम्न के छोड़े तीरों की मार से शाल्व का विमान जर्जरित हो गया और स्वयं शाल्व मूर्च्छित हो गये। शाल्व का द्युमान नामक एक मंत्री था, जिसे प्रद्युम्न ने मूर्च्छित कर दिया था। अब उसकी मूर्च्छा भङ्ग हुई और उठते ही उसने एक बड़ी भारी लोहे की गदा प्रद्युम्न पर चलाई और बड़े ज़ोर से वह गर्जा। इस गदा के आघात से प्रद्युम्न की छाती में गहरी चोट लगी और वे मूर्च्छित हो रथ में गिर पड़े। तब उनके अरिंदम सारथी ने रथ हाँक रणक्षेत्र से दूर सुरक्षित स्थान में रथ जा खड़ा किया। मुहूर्त भर में सचेत हो और अपने को रणक्षेत्र में न पाकर प्रद्युम्न ने सारथी से कहा:—

प्रद्युम्न—अरे सारथी! मुझे रणभूमि से हटा लाकर तूने अच्छा काम नहीं किया। मूर्च्छित अवस्था में भी रणभूमि से मेरा हटना ठीक नहीं हुआ। मुझे छोड़ और कोई भी यदुवंशी रणभूमि से भागा हो यह नहीं सुना गया। अब मैं पिता श्रीकृष्ण और चाचा बलदेव जी को अपना मुख क्योंकर दिखलाऊँगा। मेरी भौजाइयाँ मुझे देख हँसेंगी और मुझे चिढ़ावेंगी। वे हँस कर जब मेरे कायरपन का उल्लेख करने लगेंगी, तब मैं उनसे क्या कहूँगा।

इस पर प्रद्युम्न के सारथी अरिंदम ने कहा:—

अरिंदम—हे आयुष्मन्! सारथी का यह काम है कि वह विपन्न रथी की रक्षा करे और साथ ही रथी का धर्म है वह सङ्कटापन्न सारथी की रक्षा करे। मैंने यह काम इसी धर्म्म के अनुसार किया है। जब आप शत्रु की गदा की चोट से अचेत हो गये तब मैं आपको रणभूमि से हटा लाया।

यह सुन प्रद्युम्न ने जल से मुख धोया और दुर्भेद्य कवच पहन सारथी से कहा—"मुझे तू द्युमान् के सामने ले चल।

उस समय द्युमान् यादवों की सेना को मार कर पीछे हटा रहा था। इतने में प्रद्युम्न ने पहुँच, उसकी छाती में आठ बाण मारे। फिर चार तीरों से उसके घोड़े और एक बाण से उसके सारथी को मार डाला। तदनन्तर एक बाण ऐसा मारा कि द्युमान् का सिर कट कर गिर पड़ा। गद, साम्ब आदि शाल्व की सेना का संहार करने लगे। सौभ विमान में बैठ कर लड़ने वाले शाल्व के सैनिकों के सिर कट कट कर गिरने लगे। यह युद्ध सात दिन और सात रात तक बराबर होता रहा।

उस समय श्रीकृष्ण द्वारका में न थे और हस्तिनापुर में थे। वहाँ अशुभ असगुनों को देख, वे युधिष्ठर से विदा हो द्वारका को आये। रास्ते में उन्हें यह बात भास गयी कि शिशुपाल के मारे जाने से उसके मित्र राजा लोग द्वारका में पहुँच अवश्य ही बखेड़ा कर रहे होंगे। द्वारका में पहुँच कर उन्होंने देखा कि जिस बात की

उन्हें आशङ्का थी वह ठीक है। उन्होंने बलदेव जी को तो पुर की रक्षा के लिये भेजा और अपने सारथी दारुक से बोलेः—

श्री कृष्ण—देखो मेरे रथ को शाल्व के विमान के सामने ले चलो। वह मायावी है इससे तुम किसी बात को देख घबड़ाना मत।

यह सुन दारुक सम्हल कर बैठ गया और रथ हाँकने लगा। उनके रथ की गरुड़ चिन्हित ध्वजा को देख उनके शत्रु मित्र जान गये कि श्री कृष्ण आ पहुँचे। शाल्व ने तब एक महा भयानक शक्ति दारुक के ऊपर चलाई। पर श्रीकृष्ण ने बीच ही में उसके सैकड़ों खण्ड कर डाले। फिर श्रीकृष्ण ने सोलह बाण शाल्व की छाती में मार और उसके विमान को भी छिन्न भिन्न कर डाला। तब शाल्व ने भी श्रीकृष्ण पर बाण चलाये और उनके शार्ङ्ग धनुष को उनके हाथ से गिरा दिया। यह घटना बड़ी अद्‌भुत थी और इसे देख सब दर्शक हाहाकार करने लगे। शाल्व ने भी गरज कर कहाः—

शाल्व—अरे मूढ़! मेरे देखते देखते तू मेरे मित्र एवं भाई शिशुपाल की स्त्री हर लाया और उस मेरे असावधान मित्र को तूने भरी सभा में मार डाला। तूने समझ रखा है कि मैं अजेय हूँ। यदि तू कुछ देर तक मेरे सामने ठहरा रहा तो तुझे मैं उस लोक को अभी भेज दूँगा जहाँ गया मनुष्य लौट कर नहीं आता।

श्रीकृष्ण—अरे मूढ़! तू बहुत सी डींगें क्यों मारता है। जो वीर होते हैं वे बकते नहीं—करके दिखाते हैं।

यह कह श्रीकृष्ण ने शाल्व पर अपनी महा भयानक गदा चलाई। उस गदा के लगते ही शाल्व काँप उठा और उसके मुख से रक्त गिरने लगा। इस गदा के प्रहार को शाल्व सह कर अदृश्य हो गया।

इस घटना के कुछ देर बाद एक मनुष्य श्रीकृष्ण के पास गया और बोला—हे कृष्ण! हे कृष्ण! आपके पिता वसुदेव को शाल्व बाँध कर ले गया।" इस दुःखदायी संवाद को सुन श्रीकृष्ण ने कहाः—

श्रीकृष्ण—बड़े आश्चर्य की बात है कि अजेय बलराम के पुर रक्षा के लिये तत्पर रहते शाल्व क्यों कर मेरे पिता को ले गया।

इतने में शाल्व फिर प्रकट हुआ और वसुदेव जैसे एक व्यक्ति को दिखा कर बोला—कृष्ण!

शाल्व—देख यही तेरा जन्मदाता पिता है। रे मूढ़! तेरे सामने हो मैं इसे मारता हूँ यदि तुझमें शक्ति हो तो इसे बचा।

यह कह शाल्व ने उस व्यक्ति का सिर काट डाला और उस कटे सिर को ले वह विमान पर जा बैठा। यह देख मनुष्य स्वभाव का अनुकरण कर श्रीकृष्ण शोक करने लगे। पर तुरन्त ही वे यह भी जान गये कि वे सारा करतब शाल्व की आसुरी माया का है। क्योंकि न तो वहाँ देवकी का भेजा दूत रहा और न वसुदेव का कटा हुआ रुण्ड। तब तो वे शाल्व को मारने के लिये उद्यत हुए। उधर शाल्व उन पर अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करने लगा। पर श्रीकृष्ण ने बीच ही में अपने पैने बाणों से काट उन्हें व्यर्थ कर डाला। फिर एक एक कर उन्होंने शाल्व का कवच, सिर का लोहे का टोप भी काट गिराया। फिर श्रीकृष्ण की गदा के प्रहार से शाल्व का विमान चूर चूर होकर समुद्र के जल में गिर गया। तब शाल्व उस विमान को छोड़ पृथिवी पर आ खड़ा हुआ और गदा उठा कर श्रीकृष्ण की ओर लपका। इतने में श्रीकृष्ण ने गदा सहित उसके बाहु को काट डाला, और उसके मारने को अपना सुदर्शन चक्र हाथ में लिया। देखते देखते शाल्व का किरीट कुण्डल से सुशोभित सीस कट कर पृथिवी पर गिर पड़ा। उधर शाल्व की मृत्यु का समाचार सुन दन्तवक्र अपने मित्र शिशुपाल और शाल्व का बदला लेने द्वारकापुरी में पहुँचा।

शिशुपाल, शाल्व, पौण्ड्रक के वध को स्मरण कर दन्तवक्र क्रोध में भर अकेला ही पैदल झपट कर श्रीकृष्ण के पास पहुँचा। उसकी झपट के मारे पृथिवी काँपने लगी थी। गदा लिये अपनी ओर आते देख श्रीकृष्ण झट अपने रथ से कूद पड़े और पृथिवी पर खड़े हो गये। गदा ताने हुए दन्तवक्र ने श्रीकृष्ण से कहाः—

दन्तवक्र—बड़ा अच्छा हुआ जो तू मुझे इसी समय मिल गया। कृष्ण! तू मेरे मामा का पुत्र और मेरे मित्रों का मारने वाला है और इस समय मुझे मारने को उद्यत है। अतएव मैं इस गदा से तुझे मारूँगा। तू मेरा अहितकारी बन्धुरूप शत्रु है। सो मैं आज तुझे मार कर अपने मित्रों के ऋण से उऋण होऊँगा।

इन रूखे वाक्यों से श्रीकृष्ण के मन को पीड़ित कर दन्तवक्र ने उनके सिर पर ज़ोर से गदा मारी और मार कर उच्च-स्वर से गरजा। पर उस गदा के आघात से वे रत्ती भर भी विचलित न हुए और अपनी कौमोदकी गदा तान कर दन्तवक्र की छाती में मारी। इस गदा की चोट से दन्तवक्र का हृदय फट गया और मुख से रुधिर गिरने लगा। हाथ पैर शिथिल हो गये। सिर के बाल खुल पड़े और कुछ ही क्षणों में उसका प्राण-हीन शरीर धरती पर गिर पड़ा।

बलदेवजी द्वारा तीर्थ यात्रा में सूत का वध।

एक बार बलदेव जी ने सुना कि कौरवों और पाण्डवों में परस्पर लड़ाई होने की तैयारियाँ हो रही हैं। अतः उन्होंने वह अवसर बचाने के लिये तीर्थ यात्रा के मिस से प्रभास-क्षेत्र की यात्रा की। इसका कारण यह था कि दुर्योधन तो बलदेव जी का शिष्य था और पाण्डव उनके नातेदार थे। अतः वे यदि युद्ध में सम्मिलित भी होते तो किस ओर से? अतएव वे किसी ओर भी सम्मिलित होना नहीं चाहते थे। इसीसे वे द्वारका से टल गये।

प्रभास में पहुँच कर बलदेव जी ने स्नान किये और देव ऋषि पितृ तर्पण किया। प्रभास से चल कर श्रेष्ठ विप्रों सहित वे उलटी बहने वाली सरस्वती के तट पर पहुँचे। वहाँ से क्रमशः वे पृथूदक, विन्दु सरोवर, त्रितकूप, सुदर्शन नद, विशाल नदी, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ, पूर्ववाहिनी सरस्वती एवं गङ्गा यमुना के परिवर्ती सब तीर्थों में होते हुए नैमिषारण्य तीर्थ में पहुँचे। वहाँ पर बहुत दिनों से बड़े बड़े ऋषि तपस्या कर रहे थे। सो उन लोगों ने बलदेवजी का भली भाँति सत्कार किया। जब बलदेवजी मुनियों के दिये हुए आसन पर बैठ गये, तब उन्होंने देखा कि वेदव्यास के शिष्य रोमहर्षण व्यासासन पर बैठे हुए हैं। रोमहर्षण थे तो व्यास जी के शिष्य पर जाति के शूद्र थे, अतः उन्होंने बलदेव जी को अभ्युत्थान न दिया। अर्थात् उन्हें देख वे खड़े न हुए। यही नहीं किन्तु शूद्र होकर बलदेवजी को प्रणाम तक न किया।

सूत को ब्राह्मणों से भी ऊँचे आसन पर ऐसे अभिमान के साथ बैठा देख कर बलदेव जी को बड़ा क्रोध उपजा। क्रोध में भर बलदेव जी ने कहाः—

बलदेव जी—यह आदमी जाति का शूद्र होने पर भी इन ब्राह्मणों और हमसे भी ऊँचे आसन पर क्यों बैठा है। यह दुर्मति तो मार डालने योग्य है। यह भगवान् वेदव्यास का शिष्य है। इसने उनसे अनेक इतिहास पुराण, और धर्म्मशास्त्र पढ़े हैं। तिस पर भी इसमें विनय और शिष्टाचार की गन्ध तक नहीं है। यह पण्डिताभिमानी वृथा गर्व करता है। इसमें आत्मदमन तो है ही नहीं—अतएव इसका पढ़ना लिखना सब निष्फल है। पढ़ लिख कर भी यह शास्त्रों पर तो चलता ही नहीं। केवल धर्म के चिन्हों को धारण करने वाले और धर्माचार से विमुख पापियों को वध करने के अर्थ ही मेरा अवतार हुआ है।

तीर्थ यात्रा में वलदेव जी दुष्टों को भी मारने का विचार छोड़ चुके थे—पर इस वार वे अपने इस विचार से डिग गये। क्योंकि होनी वड़ी प्रवल होती है। वलदेव जी ने यह कह कर हाथ में लिये हुए कुश के अग्रभाग से सूत को मार डाला। यह देख उपस्थित ऋषिगण हाहाकार कर वलदेव जी से वोले:—

ऋषि—हे प्रभो! आपने अधर्म का काम किया है! हमने जान वूझ कर तव तक के लिये इन्हें ब्रह्मासन और कष्ट रहित आयु दी थी, जव तक कि हमारा यज्ञानुष्ठान पूर्ण न हो आपने अनजान की तरह इसका वध कर ब्रह्म-हत्या के समान पाप किया है। यद्यपि आप योगेश्वर हैं और वेद की विधि भी आपको किसी कार्य विशेष को करने के लिये वाध्य नहीं कर सकती तथापि अन्य लोगों को शिक्षा देने के लिये आपको इस ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करना उचित है।

वलदेवजी—मैं इतर जनों की शिक्षा के लिये इस हत्या का प्रायश्चित्त करूँगा। प्रायश्चित्त के जो मुख्य मुख्य नियम हों वे आप मुझे वत-लावें।

ऋषिगण—हे राम! हमारी यह इच्छा है कि आप ऐसा करें जिसमें न तो आपकी वात जाय और न हमारी ही।

वलदेवजी—वेद के अनुसार जीव आपही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। अतएव रोम-हर्षण का पुत्र उग्रश्रवा—इसके आसन पर वैठ आपको पुराणादि सुनावेगा और आपके कथनानुसार, इसकी वड़ी आयु होगी।

हे मुनियो! अव और आप क्या चाहते हैं। मुझे आप हत्या का प्रायश्चित्त भी वतलावें।

ऋषिगण—हे देव! इल्वल का पुत्र वल्वल नाम का एक घोर दानव प्रत्येक पर्व में आकर हमारे यज्ञ में वाधा डालता है। उसे आप मारिये। यही आपके द्वारा हमारी वड़ी सेवा है। भगवन्! तदनन्तर आप १ वर्ष तक काम क्रोध विवर्जित हो, कष्ट सह कर तीर्थों में स्नान दान कीजिये। ब्रह्महत्या का आपके लिये यही प्रायश्चित्त है।

वल्वल वध।

इतने में धूल वर्साती भयानक प्रचण्ड आँधी चली और चारों ओर वड़ी उग्र दुर्गन्ध उठी। तदनन्तर यज्ञ मण्डप पर पीव आदि अपावन पदार्थों की वर्षा होने लगी। इसके कुछ ही देर वाद हाथ में त्रिशूल लिये हुए भयानक वल्वल नामक दैत्य देख पड़ा। काजल जैसा काला उसके शरीर का रङ्ग था। उसके सिर और मूँछ के वाल तपे हुए ताँवे के समान लाल लाल थे। उसकी वड़ी डाढ़ें और टेढ़ी भौंहें उसको और भयानक वना रही थीं। उसे देखते ही वलराम ने अपने हल मूसल को स्मरण किया। स्मरण करते ही वे दोनों आ उपस्थित हुए। तव उस ब्राह्मण विरोधी दानव को हल से पकड़ कर वलदेव जी ने खींचा और मूसल की चोट से उसके सिर को चकना चूर कर डाला। सिर चकना चूर होते ही उसका प्राणहीन शरीर पृथिवी पर गिर पड़ा। उसको मरा देख ऋषियों ने वलदेव जी को अमोघ आशीर्वाद दिये। साथ ही वैजन्ती माला उत्तमवस्त्र आदि भी ऋषियों ने वलराम जी को दिये।

वलराम की तीर्थयात्रा।

तदनन्तर वलदेव जी ने ऋषियों की अनु-मति ले तीर्थ यात्रा आरम्भ की। ब्राह्मणों सहित पहले तो उन्होंने कौशिकी नदी में स्नान किये। वहाँ से वे उस सरोवर के तट पर गये जहाँ से सरजू नदी निकलती है। अनुलोम क्रम से सरयू में स्नान करके वे प्रयागराज आये। यहाँ स्नान और देवर्षि पितृ तर्पण कर वे पुलह ऋषि के आश्रम में गये। वहाँ से गोमती, गण्डकी, विपाशा और शोण नद में स्नान कर वे गया गये, गया में पितृपूजन एवं पिण्डदान कर, वे

गङ्गा सागर गये। वहाँ स्नान कर वे महेन्द्राचल पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने परशुराम के दर्शन किये और उन्हें प्रणाम किया। तदनन्तर सप्त-गोदावरी, वेणा, पम्पा, भीमरथी आदि तीर्थों में होते हुए बलराम श्री शैलपर्वत पर पहुँचे। वहाँ से वे श्री वेंकटाचल पर गये। वहाँ से चल कर वे कामकोष्ठी, काञ्चीपुरी. कावेरी पर होते हुए, श्रीरङ्ग नामक महा पवित्र स्थान पर गये। वहाँ बलदेवजी ने विधि पूर्वक दस सहस्र उत्तम गौवें ब्राह्मणों को दीं। फिर कृतमाला और ताम्रपर्णी नदियों में स्नान कर वे मलय पर्वत पर पहुँचे। मलय पर्वत पर अगस्त्य जी को प्रणाम कर और उनसे आशीर्वाद एवं अनुमति लेकर, वे दक्षिण समुद्र के तट पर पहुँचे और वहाँ कन्या नाम्नी दुर्गा देवी के दर्शन किये। फिर फाल्गुण नाम पवित्र क्षेत्र में होते हुए, वे पञ्चाप्सर नाम पवित्र सरोवर पर पहुँचे। यहाँ स्नान कर उन्होंने दस सहस्र गौवें ब्राह्मणों को दीं। फिर केरल, त्रिगर्त, आदि देशों में घूमते फिरते वे गोकर्ण क्षेत्र में पहुँचे। फिर द्वीपनिवासिनी अर्पादेवी के दर्शन करके वे सूर्प्यारक क्षेत्र को गये और वहाँ से तापी. पयोष्णी, निर्विन्ध्या नाम नदियों में स्नान करते हुए वे दण्डकारण्य होकर, माहिष्मतीपुरी के पास वे नर्मदा नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ से मनु तीर्थ में स्नान करते हुए वे फिर प्रभास क्षेत्र में पहुँचे।

प्रभास क्षेत्र में पहुँच बलराम ने सुना कि कौरव पाण्डवों के मुँह में सब वीर क्षत्री मारे गये। इससे वे जान गये कि पृथिवी का बोझ उतर गया। उस समय भीम और दुर्योधन का परस्पर गदायुद्ध हो रहा था। इस युद्ध को बन्द कराने के अभिप्राय से बल-देव जी उस स्थान पर पहुँचे। उनको देख, युधिष्ठिर, नकुल सहदेव, अर्जुन तथा श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया। फिर वे उनके मुख से उनके आने का अभिप्राय जानने के लिये उनके मुख की ओर टकटकी लगा कर देखने लगे।

बलदेव जी ने देखा कि दोनों वीर हाथों में गदा लिये एक दूसरे पर प्रहार करने का अव-सर ढूढ़ते हुए पैंतरे बदल रहे हैं। यह देख बलदेव जी ने उनसे कहाः—

बलदेव जी—हे राजन्! हे भीम! तुम दोनों बल और वीरता में समान हो। अतः इस युद्ध में एक का जय और दूसरे का पराजय नहीं दीख पड़ता। अतः तुम यह समझ कर, इस निष्फल युद्ध को बन्द कर दो।

भीम और दुर्योधन में बहुत दिनों से वैर चला आता था पहले कहे हुए कटुवचनों और अपकारों को स्मरण कर दोनों एक दूसरे के प्राणों के गाहक हो रहे थे। इसीसे वे बल-देव जी के कहने पर ध्यान न देकर युद्ध से विरत न हुए। तब "भाग्य को प्रबल" कह वे वहाँ से चल दिये।

वहाँ से चल कर वे द्वारकापुरी में पहुँचे और वहाँ उग्रसेनादि अपने सजातियों से मिल कर उनको सन्तुष्ट किया।

वहाँ से चल कर वे फिर नैमिषारण्य में पहुँचे। वहाँ उन्हें ऋषियों ने अनेक यज्ञ कराये। बदले में बलराम ने उन ऋषियों को विशुद्ध ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। फिर बन्धु बान्धवों और पत्नियों सहित अवभृथ स्नान कर बलदेव जी ने उत्तम वस्त्र और उत्तम आभूषण पहने। इस प्रकार बलदेव जी ने अनेक पवित्र कर्म किये।

सुदामा और श्रीकृष्ण।

वेद जानने वालों में श्रेष्ठ एक ब्राह्मण था जो लड़कपन में श्रीकृष्ण का सखा रह चुका था। वह विषयों से विरक्त, शान्त और जिते-न्द्रिय था। उस ब्राह्मण के गृहस्थी भी थी। जो कुछ उसे अपने आप मिलता उसीसे वह घर का काम चलाता था। वह स्वयं एक चिथड़ा लपेटे रहता था और उसकी स्त्री भी

वैसा ही एक कपड़ा पहने रहती थी। नित्य भोजन न मिलने के कारण उसकी स्त्री बहुत दुःखी रहा करती थी। अन्य भोग की सामग्रियों की तो बात ही क्या है, उसका पति भोजन वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थों को भी जुटाने में असमर्थ था अतः उस पतिव्रता के जीवन के दिन बड़े दुःख के साथ बीतते थे। भूख से विकल एक दिन ब्राह्मणी ने अपने पति से कहाः -

ब्राह्मणी—मैंने सुना है, ब्राह्मण हितकारी, शरणागत पालक भगवान् श्रीकृष्ण आपके मित्र हैं। हे महाभाग! वे साधुओं के परम सहायक और परमगति हैं। आप उन्हींके पास जाइये। आप कुटुम्बी हैं, दरिद्र होने के कारण कष्ट पा रहे हैं। जब उनको यह बात विदित होगी तब वे आपको निश्चय ही बहुत सा धन देंगे। आज कल वे द्वारकापुरी में हैं। वे जगद्गुरु ऐसे उदार हैं कि जो कोई उनके चरण कमलों को स्मरण करता है उसे वे अपना शरीर तक दे डालने में सङ्कोच नहीं करते। हे देव! यद्यपि आपको धनेषणा नहीं है, तो भी बिना धन के गृहस्थी का काम तो नहीं चलता। अतः आप उनके पास अवश्य एक बार जांय।

इस प्रकार बारम्बार स्त्री के अनुरोध करने पर उस दरिद्र ब्राह्मण ने अपने मन में विचारा कि वहाँ जाने पर और कुछ मिले या न मिले पर भगवान् श्रीकृष्ण के दुर्लभ दर्शन तो हो जांयगे। अतः उस सुदामा नामक ब्राह्मणने श्रीकृष्ण के समीप जाने का निश्चय कर लिया। तदनन्तर स्त्री से कहाः—

सुदामा—हे कल्याणी! घर में कोई ऐसी वस्तु भी है जो श्रीकृष्ण को भेंट दी जा सके। हो तो ले आओ। रीते हाथ वहाँ जाना ठीक नहीं।

घर में कुछ भी न था अतः सुदामा-पत्नी पड़ोसी के घर जा मुट्ठी भर चावल मांग लाई और उन्हें एक मैले फटे चिथड़े में बाँध कृष्ण की भेंट के लिये पति को दिये। उस पोटली को ले सुदामा द्वारकापुरी की ओर चले। रास्ते भर सुदामा को यदि किसी बात का सोच था तो यही कि श्रीकृष्ण के दर्शन मुझे क्यों कर होंगे।

ज्यों त्यों कर सुदामा द्वारकापुरी में पहुँचे। तीन द्वारपालों से रक्षित तीन ड्योढ़ियों को नाँघ कर सुदामा बैरीकटोक कृष्ण के अन्तःपुर में पहुँचे। वहाँ वे श्रीकृष्णचन्द्र की रानियों में से एक के भवन में घुसे। वहाँ घुसते ही उन्हें ऐसी प्रसन्नता हुई जैसी ब्रह्मप्राप्ति से होती है।

इस समय श्रीकृष्ण पर्यङ्क पर पड़े हुए थे। सो विप्रवर सुदामा को दूर ही से आते देख वे उठ बैठे और प्रसन्नता पूर्वक आगे बढ़ दोनों हाथ फैला कर सुदामा को गले लगा लिया। इससे सुदामा बहुत प्रसन्न हुए और आनन्द के उत्साह से उनके नेत्र सजल हो गये। श्रीकृष्ण ने सुदामा को ले जाकर पर्यङ्क पर बिठाया। फिर स्वयं पूजन की सामग्री लाकर उनके चरणों को धोया और इस पादोदक को त्रिलोक पावन ने अपने मस्तक पर चढ़ाया फिर मित्र के शरीर में चन्दन कुङ्कुमआदि लगा धूप दीप आदि से पूजन कर, सुस्वादु भोजन कराये। तदनन्तर पान और एक दुधार गौ देकर उनकी कुशल पूछी। सुदामा का शरीर अति मलीन और क्षीण था। उनके शरीर की सारी नसें देख पड़ती थीं और शरीर पर एक चिथड़े को छोड़ और कुछ भी न था। तिस पर भी स्वयं रुक्मिणी जी उन पर सुवर्ण की डण्डी का पङ्खा कर रहीं थीं। एक अति दीन हीन ब्राह्मण का इतना आदर सत्कार होते देख, अन्तःपुरवासी आपस में कानाफूँसी करके कहने लगेः—

"न मालूम इस अवधूत ब्राह्मण ने कौन सा ऐसा पुण्यकार्य किया है जो त्रैलोक्य गुरु लक्ष्मीपति स्वयं बड़े भाई के समान इसका पूजन कर रहे हैं।"

सुदामा और श्रीकृष्ण

उधर श्रीकृष्ण सुदामा का हाथ अपने हाथ में थाम उनसे गुरुगृह में रहने के समय की बातें करने लगे। श्रीकृष्ण ने कहा:—

श्रीकृष्ण—हे धर्मज्ञ ! यह तो बतलाओ गुरुगृह से लौट कर तुमने अपने योग्य किसी स्त्री से विवाह किया कि नहीं यह तो मैं जानता हूँ कि तुम सांसारिक भोगों से विरक्त हो; अतः तुम धनोपार्जन की ओर दत्तचित्त नहीं हो। मित्र ! इस संसार में ऐसे भी लोग हैं जो विषय वासना को छोड़ मेरे समान लोगों को दिखलाने के लिये कर्म किया करते हैं। ब्रह्मन् ! याद है हम तुम दोनों एक साथ गुरुकुल में रहे थे। भला कभी तुम्हें उस समय का भी स्मरण आता है ? जन्मदाता पिता तो प्रथम गुरु है और दूसरा गुरु वह है जो उपनयन संस्कार करा कर गायत्री का उपदेश देता और वेद पढ़ाता है। और सब आश्रमवालों का तीसरा गुरु मैं हूँ। मैं सब के अन्तःकरण में रह कर सब को विशुद्ध विज्ञान का उपदेश देता हूँ। मैं गुरु-सेवा से जितना प्रसन्न होता हूँ उतना वर्णाश्रम धर्म के पालन से नहीं।

मित्र ! वह बात याद है जब हम तुम दोनों गुरुपत्नी की आज्ञानुसार लकड़ियाँ लाने महा-वन गये थे। उस समय वर्षा ऋतु न होने पर भी अचानक बादल घहरा आये और पानी बरसने लगा था। बिजली कौंध रही थी और सूर्य के अस्त हो जाने से चारों ओर अन्धकार छा गया था। जल भर जाने से ऊँची नीची पृथिवी नहीं जान पड़ती थी और बीच बीच में जल की बौछार से बड़ा कष्ट मिलता था। उस समय यह भी नहीं सूझता था कि हम किधर जाँय। याद है उस रात को हम दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़े और सिर पर लक-ड़ियों का गट्ठा रक्खे कितने हैरान हुए थे। फिर सूर्योदय के कुछ ही काल पूर्व हमारे आचार्य्य हमें खोजते वन में हमसे मिले थे।

मित्र ! तुम्हें उनके वे उपदेशपूर्ण वचन याद हैं जो उन्होंने हमसे और तुमसे कहे थे। यह उन्होंने आशीर्वाद दिया था कि मेरे आशी-र्वाद से तुम्हारे सब मनोरथ पूर्ण हों और जो वेद तुमने मुझसे पढ़ा है उसका सारांश तुम इस लोक और परलोक दोनों में कभी न भूलोगे।

सुदामा—हे देवदेव ! हे जगद्गुरो ! आप सत्यसंकल्प हैं। यह मेरा सौभाग्य था कि आपके सहवास से गुरुगृह में मैं कृतार्थ हो सका। नाथ ! आपकी कृपा ही सब कामनाओं को पूरी करती है। मुझे किसी वस्तु की अभि-लाषा नहीं है। सब कुछ है, प्रभो ! आपका गुरुगृह में रह कर विद्या पढ़ना लोकाचरण मात्र है।

सुदामा की इन बातों को सुन श्रीकृष्ण मुसकाये और बोले:—

श्रीकृष्ण—ब्रह्मन् ! घर से मेरे लिये तुम क्या सौगात लाये हो ? क्योंकि भक्तों की न कुछ भेंट को भी मैं बहुत कुछ मानता हूँ। परन्तु अभक्तों का सर्वस्व भी मुझे अच्छा नहीं लगता।

इस प्रकार पहले ही से सर्वान्तर्यामी श्री-कृष्ण ने भूमिका बाँध कर सुदामा को समझाया। पर सुदामा उस चाँवल की पोटली को बगल से निकालते लज्जित होने लगे। तब मन की सब बातें जानने वाले श्रीकृष्ण ने "यह क्या है" कह कर सुदामा की बगल से पोटली खींच ली। फिर उसे खोल कर बोले—"हे मित्र ! यही तो मुझको अत्यन्त प्रसन्न करने वाली सौगात है। इन चाँवलों से मैं और सारा जगत् तृप्त हो जायगा। यह कह उन्होंने एक फङ्का चावलों का लगाया और दूसरा लगाने के लिये मुट्ठी भरी। यह देख पास बैठी हुई रुक्मिणी ने हरि का हाथ थाम लिया और बोलीः—

रुक्मिणी—हे विश्वरूप! बस, हो चुका मनुष्यों की आत्यन्तिक श्रीवृद्धि के लिये आपकी इतनी ही प्रसन्नता वहुत है।

भोजन आदि करके सुदामा जी ने वह रात्रि अच्युत ही के मन्दिर में विताई।

प्रातःकाल होते ही सुदामा जी अपने घर को चलेने लगे। श्रीकृष्ण उन्हें पहुँचाने कुछ दूर तक गये। फिर प्रणाम कर मीठे वचन कह मित्र को विदा किया। न तो श्रीकृष्ण ने उन्हें कुछ धन दिया और न उन्होंने उनसे कुछ माँगा। सुदामा जी श्रीकृष्ण के दर्शन कर वड़े प्रसन्न तो हुए पर अपनी दीन हीन दशा को देख वे लज्जित हुए। रास्ते भर सुदामा मन ही मन कहते जाते थे—"मैंने भगवान् की ब्रह्मण्यता का अच्छा परिचय पाया। देखो तो जिस हृदय पर लक्ष्मी का निवास है उससे मुझे भगवान् ने लगा लिया। फिर वड़े भाई की तरह मेरा सत्कार किया। जैसे कोई अपने इष्ट-देव का पूजन करे वैसे ही श्रीकृष्ण ने मेरा पूजन किया और मेरे चरण दवाये। हरि के चरणों की सेवा से मनुष्य को सब कुछ मिलता है, पर धन पाने से कहीं मैं उन्मत्त न हो जाऊँ यह विचार कर ही कृपालु ने मुझे धन नहीं दिया।"

सुदामा जी इस प्रकार विचारते हुए अपने घर के समीप पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि जहाँ उनकी टूटी फूटी झोंपड़ी थी वहाँ वड़े चटकीले भड़कीले और ऊँचे ऊँचे भवन खड़े हैं और उपवन सुशोभित हैं। उनमें वृक्षों पर बैठे नाना प्रकार के पक्षी आनन्द में भर कलोलें करते हुए मधुर कलरव से मन को मोहित कर रहे हैं। नीचे सुन्दर सरोवर हैं उनमें कुमुद, कल्हार, पद्म आदि के फूल फूल रहे हैं। सुन्दर वस्त्र पहने पुरुप स्त्री उन महलों की शोभा को वढ़ा रही हैं। यह देख सुदामा जी दङ्ग रह गये। वे मन ही मन अनेक प्रकार के तर्क वितर्क करने लगे।

इतने में देव देवियों के समान सुदामापुर-वासी स्त्री पुरुषों ने बड़े समारोह से और आदर पूर्वक सुदामा जी का स्वागत किया और कहाः—

पुरवासी—आप क्या सोच विचार रहे हैं? यह आप ही की पुरी है भीतर चलिये।

उधर पति के लौटने का समाचार सुन सुदामा की पत्नी वहुत प्रसन्न हुई और पति को लाने के लिये बड़ी शीघ्रता से वह घर से निकली। उसका देवी जैसा रूप रङ्ग और वेश-भूषा देख सुदामा को वड़ा अचम्भा हुआ। फिर वे अपनी पत्नी के साथ उस महेन्द्रोपम विशाल भवन में घुसे। भवन के भीतर की सजावट का कहना ही क्या था। अपने भवन के भीतर इस प्रकार के वैभव को देख वे इतने विशाल ऐश्वर्य के मिलने का कारण मन ही मन सोचने लगे। अन्त में उन्हें निश्चय हो गया कि महा ऐश्वर्यशाली यदुपति का यह प्रसाद है। मुझ जैसे हतभाग्य एवं आजन्म दरिद्र ब्राह्मण को उनका अनुग्रह हुए विना कदापि इतना ऐश्वर्य नहीं मिल सकता। उनकी सब लीलाएँ विचित्र हैं। याचक को विना वताये वे अतुल सम्पत्ति देते हैं। वे भक्तों की अति तुच्छ भेंट को अधिक करके मानते हैं और अपने अत्यन्त दान को कुछ भी नहीं समझते। देखो न मैं एक मुट्ठी भर चाँवल की सौगात ले गया था। उनके वदले यदुपति ने यह अतुल सम्पत्ति मुझे दी। मेरी अब यही प्रार्थना है कि जन्मजन्मान्तर में श्रीकृष्ण ही मेरे सखा मित्र हों और मैं उनका अनन्य सेवक हूँ। मुझे यह सम्पत्ति नहीं चाहिये। मैं तो प्रत्येक जन्म में उन्हीं सर्वगुण सम्पन्न की विशुद्ध भक्ति और उनके भक्तों का लोकपावन श्रेष्ठ सङ्ग चाहता हूँ।

इस प्रकार निश्चय कर सुदामा ऐश्वर्य पाकर भी और विषयों का भोग करते हुए भी

ईश्वर के भजन में मन लगा धीरे धीरे विषयों के छोड़ने का अभ्यास करने लगे। कुछ ही दिनों बाद अहंभाव को मिटा कर, सुदामा को ब्रह्मज्ञानियों की गति प्राप्त हुई।

श्रीकृष्ण की कुरुक्षेत्र यात्रा।

एक समय वैसा ही सर्वग्रास सूर्यग्रहण का योग आकर पड़ा जैसा कल्पान्त में पड़ा करता है। इस सूर्यग्रहण के पड़ने का हाल सब लोग पहले ही से जान गये थे। अतः पुण्य सञ्चय की कामना से अनेकानेक स्त्री पुरुष बड़ी बड़ी दूर से इस दुर्लभ पवित्र पर्व के अवसर पर कुरुक्षेत्र के स्यमन्तपञ्चक नामक तीर्थ में स्नान करने गये।

यह स्यमन्तपञ्चक तीर्थ उस समय का है जब वीर वर परशुराम ने पृथिवी को एक प्रकार क्षत्रियों से हीन करके उनके रुधिर से पाँच बड़े सरोवरों को भरा था; पर परशुराम ने ईश्वरावतार होकर भी लोकशिक्षा के निमित्त इस राजहत्या का प्रायश्चित्त करने के अभिप्राय से इस पवित्र स्थान का आराधन किया था। इसी महापावन तीर्थक्षेत्र में सूर्यग्रहण पर्व पर असंख्य नर नारियों की भीड़ हुई। अक्रूर, वसुदेव, उग्रसेन आदि यादव भी पाप नष्ट करने की कामना से कुरुक्षेत्र को गये। गद, प्रद्युम्न, साँव, सुचन्द्र, शुक, शारण, सेनापति कृतवर्म्मा और अनिरुद्ध जी पुरी की रक्षा के निमित्त द्वारका ही में रह गये। यादव जिस समय बढ़िया सजे रथों में बैठ अथवा मदमत्त चिङ्घारते हुए गजों पर बैठ कर चले; उस समय उनकी सजावट देख, लोगों को उनके विद्याधर होने का भ्रम होता था।

इन महा तेजस्वी यादवों ने कुरुक्षेत्र में पहुँच कर सूर्यग्रहण के समय स्यमन्तपञ्चक में स्नान किये और ब्राह्मणों की विधिवत् पूजा करके उन्हें वस्त्र भूषण और अलङ्कृत गौवें दीं। इस दिन उन्होंने निर्जल निराहार व्रत भी किया। उग्रहण को देख यादवों ने फिर स्यमन्तपञ्चक तीर्थ में स्नान किये। फिर उन्होंने ब्राह्मणों को इस संकल्प से भोजन करा सन्तुष्ट किया कि उनका मन श्रीकृष्ण की भक्ति में अटल बना रहे। फिर श्रीकृष्ण ही इष्टदेव हैं जिन यादवों के उन्होंने श्रीकृष्ण से आज्ञा माँग स्वयं भी भोजन किये और सघन वृक्षावली की छाँह में डेरा डाले।

इस पर्व के समय कुरुक्षेत्र में उशीनर, कोशल, विदर्भ, सञ्जय, कम्बोज, केकय, भद्र, कुन्ति, आनर्त और केरल देश के अनेक नरेश जो श्रीकृष्ण के सुहृद और सम्बन्धी थे, आये थे। इनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण के बाल्यावस्था के सखा गोप गोपियाँ और नन्द यशोदा भी कुरुक्षेत्र में पहुँची थीं। ये सब श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन कर अत्यन्त आनन्दित हुए। एक दूसरे ने एक दूसरे को गले से लगा कर बड़ी उत्कण्ठा दिखलाई। कुन्ती भी श्रीकृष्ण को देख अपने सारे दुःख भूल गई।

कुन्ती ने अपने भाई वसुदेव से कहाः—

कुन्ती—भैया! मैं अपने को इसलिये कृतार्थ नहीं समझती कि आप जैसे श्रेष्ठ सत्स्वभाव वालों के रहते भी विपत्काल में भी आपमें से कोई मेरी सुध नहीं लेता। इसमें किसी का दोष नहीं। क्योंकि दैव ही जब प्रतिकूल है, उसको उसके सजातीय पुत्र, पिता माता भाई आदि सभी भूल जाते हैं।

वसुदेव—बहिन! हम पर आप वृथा दोष लगाती हैं। क्योंकि मनुष्य तो दैव के हाथ के कठपुतले हैं। मनुष्य ईश्वराधीन होने के कारण उसीकी इच्छानुसार सब काम करते हैं। हम लोग तो कंस के अत्याचारों के मारे इधर उधर मारे मारे फिरते थे। पर आज देखो उसी काल रूपी ईश्वर ने हम सब को इस स्थान पर इकट्ठा कर मिला दिया।

भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, पुत्रों सहित गान्धारी, सपत्नीक पाण्डव, कुन्ती, सञ्जय विदुर, कृपा-

चार्य, कुन्तिभोज, विराट, भीष्मक, नग्नजित्, पुरजित्, शैव्य, धृष्टकेतु, काशिराज, मद्रपति केकय नरेश, युधामन्यु, सुशर्म्मा और सपुत्र वाल्हीक आदि तथा युधिष्ठिर के अनुगत अन्यान्य राजा सब लोग श्रीकृष्ण की शोभा देख अत्यन्त विस्मित हुए। बलराम और श्रीकृष्ण ने अत्यन्त आदरपूर्वक और यथाविधि इन सब का पूजन किया। वे लोग अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्न हो श्रीकृष्ण के स्वजन यादवों की प्रशंसा करते हुए बोलेः—

वाह! हे भोजपति उग्रसेनजी! पृथिवी तलवासी मनुष्य मात्र में आप ही लोगों का जन्म सार्थक है। क्योंकि जिनके दर्शन के लिये बड़े बड़े योगी तरसा करते हैं उन श्रीकृष्ण के दर्शन आपको सदा और क्षण क्षण पर हुआ करते हैं। जिनकी कीर्त्ति की स्तुति श्रुति कर रही है, जिनका चरणोदक गङ्गा और जिनके शास्त्र रूपी वाक्य त्रिभुवन को पवित्र कर रहे हैं और जिनके चरण कमलों की महिमा के प्रभाव से कालवश क्षीण शक्ति होने पर भी यह पृथिवी हम सब को हमारी अभिलषित वस्तुएँ दे रही हैं, वे ही भगवान् विष्णु तुम्हारे दैहिक और वैवाहिक सम्बन्ध में जकड़े जा कर, तुमको कृतकृत्य कर रहे हैं। तुम बड़े भाग्यवान् हो जो नित्य उनके साथ उठते बैठते खाते पीते, सोते जागते, चलते फिरते और बात चीत किया करते हो। बन्धन में फँसाने वाले गृह में रह कर भी तुम श्रीकृष्ण की कृपा से भोग और मोक्ष दोनों ही के पात्र बन, पूर्ण काम हो रहे हो।

वसुदेव आदि यादवों के आगे का संवाद पाकर श्रीकृष्ण, वसुदेव आदि अपने सुहृदों से मिलने के अभिप्राय से नन्द आदि गोप अनेकानेक उपहार की वस्तुओं को छकड़ों पर लाद वसुदेव जी के डेरे की ओर गये। प्रिय प्राणों के पाने से जैसे मृत शरीर उठ खड़ा हो वैसे ही नन्द आदि गोपों को देख यादव उठ खड़े हुए। और सब से मिले भेटें। मिलते समय वसुदेवजी को कंस के अत्याचार और गोपों द्वारा श्रीकृष्ण के पालन पोषण रूपी उपकार का स्मरण हो आया। वसुदेव ने आनन्द में विह्वल हो नन्दजी को गले लगाया। बलराम और श्रीकृष्ण भी नन्द यशोदा के गले लगे और उन्हें प्रणाम किया। प्रेम की उमङ्ग में उनके नेत्र सजल हो गये और कण्ठावरोध होने के कारण उनके मुख से एक भी शब्द न निकल सका।

महाभागा यशोदा ने पुत्रों को अपनी गोद में बिठा लिया और दोनों हाथों से उन्हें अपने हृदय से चिपटा अपने सन्तप्त हृदय को शीतल किया। यशोदा के सारे शोक ताप जाते रहे। तदनन्तर रोहिणी और देवकी व्रजरानी यशोदा से मिलीं और उनकी मैत्री को स्मरण कर गद्गद कण्ठ से कहने लगींः—

रोहिणी और देवकी—तुम्हारे स्नेहयुक्त व्यवहार और मैत्री को कौन स्त्री भूल सकती है? इन्द्र जितना ऐश्वर्य देनेसे भी तुम्हारे उपकार और व्यवहार का बदला नहीं चुकाया जा सकता। ये दोनों बालक तुम्हींको अपने माता पिता समझते थे। जैसे पलक नेत्रों की सब प्रकार रक्षा करते हैं वैसे ही तुमने इन दोनों बालकों की रक्षा की। तुम साधु इसलिये हो कि जो साधु होते हैं वे अपने बिराने में भेद बुद्धि नहीं करते। तुमने स्नेह पूर्वक इनको पाला पोसा और ये निडर होकर इतने बड़े हुए।

गोपियों को श्रीकृष्ण के दर्शन बहुत दिनों बाद हुए थे। सो पलक जब श्रीकृष्ण के दर्शन करने में बाधा डालने लगे; तब वे पलकों के बनाने वाले दैव को भला बुरा कह कर अकोसने लगीं। क्योंकि श्रीकृष्ण के दर्शन के समय पलक का झपकना भी गोपियों को असह्य जान पड़ता था। बहुत दिनों बाद श्रीकृष्ण से मिलकर गोपियों के मन और शरीर की विलक्षण दशा हो गयी। श्रीकृष्ण ने उनको हृदय से

लगा कर उनसे उनकी कुशल पूछी। फिर मुसका कर मीठे वचन कहे:--

श्रीकृष्ण—हे सखियो! तुम कभी हमें भी स्मरण किया करती हो? हम अपने बन्धु बान्धवों का काम पूरा करने के अभिप्राय से तुम्हें छोड़ कर चले आये थे और उस कार्य में हमें विलम्ब भी लगा। इसीसे हमे फिर तुमसे मिल न सके। इसके लिये तुम हमें कहीं अकृतज्ञ और निठुर समझ हमसे घृणा तो नहीं करने लगीं? यह निश्चय समझ रखो कि वे अचिन्त्य भगवान् ही प्राणियों को मिलाते और अलग किया करते हैं। मनुष्य अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे वायु के कारण बिखरी पड़ी रुई, तृण और मेघ परस्पर मिल जाते और अलग हो जाते हैं, वैसे ही ईश्वर भी कामी प्राणियों को मिला देता है और कभी उन्हें अलग कर देता है।

हे सुन्दरियों! मेरा भजन भाव ही प्राणी मात्र को मुक्ति दे सकता है। तुमको बड़े सौभाग्य से मेरा दुर्लभ प्रेम मिला है। इस प्रेम के प्रताप ही से तुम आत्मस्वरूप (मुझे) पा सकोगी। जिस प्रकार आकाश, वायु, जल, तेज और पृथिवी भौतिक पदार्थों के अन्त मध्य और भीतर बाहिर वर्त्तमान रहते हैं, वैसे ही मैं भी सब प्राणियों में रहता हूँ।

इस प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा श्रेष्ठ आत्मज्ञान की शिक्षा पाकर, कृष्ण के ध्यान में निरन्तर मग्न गोपियाँ ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र में तन्मय होकर कहने लगीं:—

गोपियाँ—हे पद्मनाभ! यद्यपि हम गृहस्थी के जाल में जकड़ी हैं। तथापि हम यही माँगती हैं कि गृहस्थी में रह कर भी हमारे हृदय में आपके चरण कमल सदैव बने रहें और अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को सदा दूर करते रहें।

इस प्रकार गोपियों पर परम अनुग्रह कर श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर आदि बन्धुओं से मिल कर कुशल पूँछी। तब युधिष्ठिर ने कहा:—

युधिष्ठिर—हे प्रभो! आपके चरण कमल देहधारियों के अज्ञान को नष्ट करने वाले हैं। आप अखण्ड हैं क्योंकि आपकी शक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती। काल पाकर लुप्त होने वाले वेदों की रक्षा के निमित्त, योगमाया द्वारा आप अरूप होकर भी अनेक रूपधारी हो जाते हैं। परमहँस जनों की आप ही एक मात्र गति हैं।

एक ओर तो युधिष्ठिरादि इस प्रकार श्रीकृष्ण की स्तुति कर रहे थे और दूसरी ओर यादवों और कौरवों की स्त्रियाँ उन हरि की परस्पर चर्चा कर रहीं थीं, जिनका यश त्रैलोक्य विश्रुत है। उन दोनों दलों की स्त्रियों में जो बातचीत हुई, उसका हाल अब यहाँ लिखा जाता है।

कृष्ण की रानियों और द्रौपदी में वार्तालाप।

द्रौपदी—हे रुक्मिणी! भद्रा! जाम्बवती! सत्या! सत्यभामा! कालिन्दी! मित्रविन्दा! रोहिणी! लक्ष्मणा! एवं अन्य श्रीकृष्णचन्द्र की प्रिय पत्नियों भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार तुम्हारे साथ विवाह किया सो कहो, मैं सुनना चाहती हूँ।

रुक्मिणी—बहिन द्रौपदी! शिशुपाल के साथ मेरा विवाह कराने के लिये जरासन्ध आदि राजाओं ने धनुष धारण किया; किन्तु उन दुर्जन भट नरपतियों के सिर पर पैर रख कर, श्रीकृष्ण मुझे उसी प्रकार ले आये। जैसे गीदड़ों के झुण्ड से वीर सिंह अपना अंश ले आता है।

सत्यभामा—भाई प्रसेन के मरने से मेरे पिता को बड़ा सन्ताप हुआ। श्रीकृष्ण ने मणि

की चोरी के अपने कलङ्क को धोने के निमित्त वन में जा जाम्बवान् नामक ऋक्षराज को परास्त किया और मणि ले आये। अपने किये अपराध से भयभीत और चिन्तित मेरे पिता ने श्रीकृष्णचन्द्र को मुझे अर्पित किया। यद्यपि वाग्दान मेरा अन्य को हो चुका था।

जाम्बवती—मेरे पिता ने पहले तो श्रीकृष्ण को पहचान न पाया और इसीसे सत्ताईस दिनों तक उनसे वे लड़े। पर पीछे उनके असीम पराक्रम को देख वे जान गये कि ये मेरे स्वामी सीतापति हैं। तब मेरे पिता श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों पर गिरे और मणि सहित मुझे अर्पण कर दिया।

कालिन्दी—अपने सखा अर्जुन द्वारा मुझको अपने चरणस्पर्श की कामना से तप करने में तत्पर जान श्रीकृष्ण स्वयं मेरे समीप गये और मुझे ले आकर मेरे साथ विवाह किया। मैं उनके भवन में बुहारी लगाने वाली उनकी एक दासी हूँ।

भद्रा—मेरे स्वयंवर में श्रीकृष्ण स्वयं गये और विपक्षी राजाओं तथा विघ्न डालने में उधर मेरे भाइयों को जीत कर मुझे वे वैसे ही ले आये जैसे कुत्तों के बीच से निर्भय हो सिंह अपने भाग को ले आता है। मेरी मन से यह इच्छा है कि मैं जन्म जन्म उनके चरणों की दासी बनी रहूँ।

सत्या—राजाओं के बल की परीक्षा करने के लिये, मेरे पिता ने पैने सींगवाले सात बैलों को नाथने वाले के साथ मेरा विवाह करने की प्रतिज्ञा कर रखी थी। जैसे बालक बकरियों को वश में कर ले—वैसे ही श्रीकृष्ण ने उन बैलों को सहज ही में नाथ दिया। फिर मुझे वीर्य्य रूपी मूल्य लेकर और मार्ग में मेरे लिये लड़ने वाले राजाओं को परास्त कर, वे मुझे ब्याह लाये। मैं चाहती हूँ कि मैं चिरकाल तक उनकी दासी बनी रहूँ।

मित्रविन्दा—मेरे मन को श्रीकृष्ण पर मोहित जान पिता ने आप ही आप मातुलपुत्र श्रीकृष्ण को बुला उनके साथ मेरा विवाह कर दिया और यौतुक में बहुत सा द्रव्य दिया। यह जीव कर्मानुसार संसार की अनेक योनियों में घूमा करता है—अतः मेरी यह अभिलाषा है कि जन्म जन्मान्तर में मुझे इन्हीं हरि के चरणों का मङ्गलकारी स्पर्श प्राप्त हो।

लक्ष्मणा—हे द्रौपदी! नारद द्वारा हरि के दिव्य चरित्रों को सुन कर, बड़े बड़े लोकपालों के द्वारा पाये जाने की इच्छा रख कर भी मेरा मन उन्हें छोड़ श्रीकृष्ण के चरणकमलों का भ्रमर बन गया।

मेरे पिता बृहत्सेन का मुझ पर बड़ा स्नेह था। अतएव मेरी इच्छा पूरी करने को उन्होंने एक उपाय सोचा। रानी जी जैसे तुम्हारे स्वयंवर में अर्जुन ही तुम्हारे पति हों इस उद्देश्य से मत्स्यवेध की व्यवस्था की गई थी, वैसी ही व्यवस्था मेरे स्वयंवर में भी की गई। परन्तु विशेषता यह थी कि जिस खम्भे पर मत्स्य था उसके नीचे एक घड़े में जल भरा रहता था और उसमें मत्स्य की परछाहीं देख पड़ती थी। अतएव नीचे की ओर दृष्टि रख कर और परछाईं देख कर ऊपर मत्स्य को वेधना था। इस असम्भव काम को श्रीकृष्ण को छोड़ और कोई नहीं कर सकता था। इसकी सूचना पाकर शस्त्रविद्या में प्रवीण अनेक राजकुमार अपने आचार्यों के साथ स्वयंवर में आये। मेरे पिता ने उनकी पदमर्य्यादा के अनुसार सब का सत्कार किया। जब समय आया तब एक एक कर उन सब राजकुमारों ने उस धनुष को उठाया, जिससे मत्स्यवेध करना था। इनमें से किसी ने तो केवल धनुष भर उठाया और उस पर वे रोदा न चढ़ा सकने के कारण फिर उसे वैसा ही रख कर बैठ गये। कोई कोई ऐसे भी निकले जो रोदे को धनुष की नोंक तक तो ले गये पर धनुष के खिंचाव को न सम्हाल सके

और धनुष के लगने से अचेत हो गिर पड़े। मगध, अम्बष्ठ चेदि देश के नरेश तथा भीम, कर्ण और दुर्योधन धनुष पर रोदा तो चढ़ा सके, पर मत्स्य की स्थिति का निश्चय न कर सकने के कारण लक्ष्यच्युत हुए और धनुष रख कर बैठ गये। अर्जुन ने मत्स्य को वेधा तो पर उसे काट वे भी न सके।

इस प्रकार जब सब क्षत्रिय अकृतकार्य हुए और उनका मान भङ्ग हो चुका; तब श्रीकृष्ण-चन्द्र ने बात की बात में मत्स्य को काट कर डाल दिया।

यह देख रेशमी नवीन वस्त्र पहन कर और अलङ्कारों से भूषित मैं जयमाल ले अन्तःपुर से निकली और प्रेम पूर्ण अतृप्त दृष्टि से अपने प्रेम-पात्र हरि के गले में जयमाल डाल दी।

यह देख अनेक ईर्ष्यालु राजा बलपूर्वक मुझे ले जाने को उद्यत हुए। तब कवच पहने हुए श्रीकृष्ण ने मुझे रथ पर बिठाया और चतुर्भुज हो दो भुजाओं से तो मुझे सम्हाला और दो से शार्ङ्ग धनुष लेकर उन राजाओं को ललकारा। दारुक सारथी काञ्चन भूषित रथ को हाँकता, उन राजाओं के बीच से निकला। श्रीकृष्णचन्द्र उन राजाओं के बीच से वैसे ही निकल गये जैसे हिरनों के बीच होकर मृगराज सिंह निकलता है। वे राजा लोग ताकते के ताकते ही रह गये। रथ निकल जाने पर राजाओं ने उसका वैसे ही पीछा किया, जैसे कुत्ते सिंह का पीछा करते हैं। इनमें से कुछ तो शार्ङ्ग धनुष से छूटे हुए तीरों की मार से तुरन्त सदा के लिये धराशायी हुए और कुछ अङ्ग विहीन हुए। ऐसे लोग अपने प्राण लेकर भाग गये।

इसके अनन्तर अनेक प्रकार के रङ्गों की ध्वजा पताकाओं से भूषित द्वारकापुरी में श्रीकृष्ण जी ने प्रवेश किया।

मेरे पिता ने मेरे विवाह में आये हुए सुहृदों तथा बन्धु बान्धवों को महामूल्य वस्त्र और आभूषण आदि अनेक सामग्री देकर सन्तुष्ट किया। द्रौपदी जी! इस प्रकार सब का साथ छोड़, आत्माराम, पूर्ण काम घनश्याम की हम दासी हुई हैं।

अन्य सोलह सहस्र एक सौ रानियाँ।

श्री कृष्णचन्द्र ने दल बल सहित भौमासुर को मारा। फिर जब उन्हें यह बात विदित हुई कि भौमासुर ने दिग्विजय में अनेक राजाओं को जीत कर उनकी कन्याओं को बल पूर्वक लाकर विवाह के निमित्त अन्तःपुर में रुद्ध कर रखा है। तब श्रीकृष्णचन्द्रजी ने वहाँ जाकर हम सब को छुड़ाया। भगवान ने स्वयं पूर्ण काम होकर भी संसार से मुक्त करने वाले अपने चरण युगलों के पाने की कामना रखने वाली हम सब राजकुमारियों को इस प्रकार अपने चरणों की दासी बनाया।

रानी जो हमको न तो पृथ्वीमण्डल का साम्राज्य चाहिये, न इन्द्रपद, न ब्रह्मपद, न अणिमादि सिद्धियाँ, न मोक्ष और न हरि का लोक वैकुण्ठ ही हमको चाहिये। हम तो केवल यही चाहती हैं कि श्रीकृष्ण की चरण रज को हम सदा अपने मस्तक पर लगाती रहें।

कुन्ती गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, एवं अन्यान्य राजा लोगों की स्त्रियों को और कृष्ण की अनन्य भक्त गोपियों को भी श्रीकृष्ण की रानियों का श्रीकृष्ण के प्रति ऐसा अपूर्व अनुराग देख बड़ा अचम्भा हुआ। उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे। इस प्रकार नारियाँ नारियों से और नर नरों से मिल कर वार्तालाप कर रहे थे।

वसुदेव के यज्ञोत्सव का वर्णन।

इतने में बलराम और श्रीकृष्ण को देखने के लिये, द्वैपायन वेदव्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम,

परशुराम, सशिष्य वशिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वितात्रित, एकत, ब्रह्मा के पुत्र सनकादिक, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य, और वामदेव प्रभृत श्रेष्ठ महर्षिगण उपस्थित हुए। उन विश्व-वन्दित महर्षियों की मण्डली को आते देख वहाँ पहले से बैठे राजा लोग, यादव, कौरव, पाण्डव, श्रीकृष्ण और बलराम उठ खड़े हुए और बद्धाञ्जलि हो प्रणाम किया। उन ऋषियों का यथोचित सत्कार और विधिवत् पूजन कर श्रीकृष्ण ने उनसे कुशल पूँछी। जब सब ऋषि अपने अपने आसनों पर बैठ गये, तब श्रीकृष्ण कहने लगेः—

श्रीकृष्ण—वाह! वाह! आज हमारा जन्म सफल हुआ। देवदुर्लभ आपके दर्शन पाकर आज हम कृतार्थ हुए। जो केवल प्रतिमाही को देवरूप से देखते हैं और जो भेद भाव पूर्ण तुच्छ तप में तत्पर रहते हैं—उनको आप जैसे योगीश्वरों के दर्शन केवल कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव हैं। सचमुच जलमय तीर्थ हैं और मिट्टी पत्थर की बनी प्रतिमाएँ न तो तीर्थ हैं और न देवता ही। यदि वे तीर्थ और देवता मान भी ली जायँ तो बहुत दिनों तक सेवा करने पर वे पवित्र करती हैं। परन्तु साधुओं के दर्शन मात्र ही से शरीर और आत्मा शुद्ध हो जाता है अतएव सच्चे तीर्थ और देवता साधु लोग ही हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारागण, पृथिवी, जल, आकाश, वायु एवं वाक्य और मन आदि अज्ञान को मिटाने की शक्ति नहीं रखते, किन्तु मुहूर्त्त भर भी साधुसेवा तत्क्षण सब अज्ञान मिटा देती है। जो लोग साधुओं को आत्मा, आत्मीय, देवता और तीर्थ न समझ कर, साधारण जन समझते हैं—वे भारवाही गधे हैं। उनसे बढ़ कर कोई दूसरा अज्ञानी नहीं है—वे नितान्त विवेकशून्य हैं।

श्रीकृष्ण के मुख से ऐसे गूढ़ और अश्रुत पूर्व वचन सुन कर, कुछ देर तक तो वे ऋषि चुपचाप रहे क्योंकि साधारण जनों की तरह धर्म नियमों के पालने में अपने को विवश बताने वाले वे श्रीकृष्ण के उपरोक्त वाक्यों के अर्थ समझने में विचक्षण-बुद्धि सम्पन्न उन ऋषियों की भी बुद्धि चकरा सी गई। कुछ देर के अनन्तर ऋषियों ने जाना कि भगवान् लोगों को धर्म्मोपदेश करने के निमित्त स्वयं धर्म बनाने वाले होकर भी ऐसा उपदेश कर रहे हैं। तब मन्द-हास पूर्वक ऋषियों ने कहाः—

ऋषिगण—भगवन्! यद्यपि हम तत्वज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं और विश्वसृष्टा प्रजापतियों के भी अधीश्वर हैं, तथापि हम जिसकी माया में मुग्ध हो रहे हैं, माया मानव रूप में छिपे वही परमेश्वर आज साधारण मनुष्यों जैसा आचरण कर रहे हैं। भगवन्! आपकी लीला का आरपार पाना असम्भव है। आपके संकल्प कोई नहीं जान सकता। आप अकर्मा होने पर भी अनेक प्रकार से इस जगत् की सृष्टि, पालन, और प्रलय करते रहते हैं। तिस पर भी स्वयं आप निर्लिप्त रहते हैं। आप परिपूर्ण परमेश्वर हैं। आपके जन्म कर्म केवल अनुकरण मात्र हैं। अपने जनों की रक्षा और दुष्टों को दण्ड देने के अभिप्राय ही से आपका समय समय पर सदैव अवतार हुआ करता है। आप ही सनातन धर्म के सञ्चालक परम पुरुष और वेद मार्ग के पालन करने वाले हैं। तप स्वाध्याय और संयम द्वारा प्राप्त होने वाले आप ही ब्रह्म हैं और वेद नामक शब्द ब्रह्म आपका अन्तरङ्ग रूप है। अतः आप सब शास्त्रों की उत्पत्ति के आधार हैं। आप ब्रह्मभक्तों में अग्रगण्य हैं, आप परम मङ्गल मय हैं। आप कल्याणों की अन्तिम सीमा हैं और सज्जनों की एक मात्र गति हैं। अतः आपके आज दर्शन पाने से हमारी विद्या, तपस्या, दृष्टि, जन्म सभी तो सफल हो गये। हम उन श्रीकृष्णचन्द्र को प्रणाम करते हैं जिनकी महिमा उनकी स्वयं निर्मित माया से छिपी हुई है, जिनकी मेधा मौथरी नहीं होती और

जिनके यथार्थ रूप को, निकट रहने वाले राजा और यादव मायारूपी पर्दे में छिपे रहने के कारण नहीं जान पाते।

भगवन् हमें आज आपके उन पापपुञ्ज नाशकारी चरण कमलों के देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिनको बड़े बड़े योगीजन, बहुत दिनों के योगाभ्यास के अनन्तर अपने हृदय में स्थापित करने में समर्थ होते हैं और जो पतित पावनी गङ्गा के उद्गम स्थल हैं। नाथ! हमें तो आप अपने चरणों की भक्ति प्रदान कीजिये।

वसुदेव जी का यज्ञ।

इस प्रकार स्तुति और प्रार्थना कर, वहाँ उपस्थित धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण से अनुमति ले अपने अपने आश्रमों को जाने के लिये उठ खड़े हुए। यह देख महा यशस्वी वसुदेव जी ने उठ कर और नियमपूर्वक ऋषियों के पैर पकड़ कर कहा:—

वसुदेव—हे महात्मागण! श्रुतियाँ कहती हैं वेदपाठी ब्राह्मण ही में सब देवों का निवास है अतः आप सर्वदेवमय हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे महर्षियो आप मुझे कोई ऐसा कार्य बतलाइये जिसके अनुष्ठान से कर्मफल नष्ट हों। यह जानने और सुनने के अर्थ मैं बड़ा उत्सुक हो रहा हूँ।

श्रीकृष्ण को छोड़ अपने से ऐसा प्रश्न वसुदेव को करते देख मुनिगण विस्मित हुए। तब नारद जी ने कहा:—

नारद—महानुभाव! इसमें विस्मित होने की कोई बात नहीं। वसुदेव जी श्रीकृष्ण को बलराम समझ कर अपने कल्याण का उपाय पूँछते हैं। क्योंकि उत्तम से उत्तम वस्तु के निकट रहते हुए भी लोग उसका उतना आदर नहीं करते जितना उसका होना चाहिये। उदाहरण के लिये गङ्गा के तटवर्ती लोगों को ले लीजिये। त्रैलोक्य पावनी गङ्गा के समीप रह कर भी उन लोगों की इच्छा दूर देशों के जलाशयों में स्नान करने की हुआ करती है।

नारद जी के इन वाक्यों को सुन सब ऋषियों ने उपस्थित राजाओं के सामने ही वसुदेव जी को सम्बोधन करके कहा:—

ऋषिगण—महाभाग! साधुजनों का मत है कि धर्मक्षय करने के अभिप्राय से निष्काम हो श्रद्धापूर्वक सब यज्ञों के इष्ट, यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु की विविध यज्ञों से आराधना करे। सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है जिससे जीव कर्मबन्धन से छुटकारा पा सकते हैं। द्विजाति गृहस्थों के लिये यही उपाय मङ्गलकारी है।

जन्म ही से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, देवता, ऋषि और पितरों के ऋणी होते हैं। अतः वेदाध्ययन द्वारा देवताओं का, यज्ञ द्वारा ऋषियों का और पुत्रोत्पादन द्वारा पितरों का ऋण चुकाना चाहिये। अतः आप यज्ञ द्वारा देवऋण से उऋण होकर, गृहस्थाश्रम को छोड़िये। हे महाभाग! आपने निश्चय ही परम भक्ति से भगवान् की आराधना की है और उसका फल भी आपको हाथों हाथ यह मिला कि साक्षात् भगवान् आपके घर में आपके पुत्र बन कर प्रकट हुए हैं।

इन वचनों को सुन वसुदेव ने ऋषियों के चरणों पर सीस नवा कर उन्हें प्रणाम किया और ऋत्विक बनने की उनसे प्रार्थना की। यथाविधि किये गये वसुदेव के वरण को उन ऋषियों ने स्वीकृत किया और इसी परम पावन क्षेत्र में धार्मिक वसुदेव को यज्ञ की दीक्षा देकर, यज्ञ की उत्तम सामग्री एकत्र कर, यज्ञारम्भ हुआ। यादव तथा अन्य राजागण स्वच्छ वस्त्र और अलङ्कारों से विभूषित हो यज्ञ मण्डप में उपस्थित हुए। सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहने तथा हाथ में पूजन का सामान लिये हुए उन की स्त्रियाँ भी यज्ञ देखने के लिये वहाँ एकत्र हुई। उस समय भाँति भाँति के बाजे बजने लगे। वह अपनी कलाएँ दिखाने लगे वेश्याएँ नाच करने लगीं। सूत मागध, वन्दीजन स्तुतिपाठ करने

लगे और वीणाविनिन्दित कण्ठ वाली गन्धर्वों की स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ गाने बजाने लगीं।

तदनन्तर वसुदेव जी ने अपनी अट्ठारह पत्नियों के साथ यज्ञदीक्षा ली और काले मृग चर्म पर बैठे हुए वसुदेव जी वैसे ही शोभा युक्त हुए जैसे तरुओं से घिर कर निशानाथ शोभा को प्राप्त होते हैं। वसुदेव के यज्ञ में नवीन रेशमी वस्त्र धारण कर सदस्यों सहित ऋत्विक गण वैसे ही अपने अपने आसनों पर बैठे जैसे इन्द्र के यज्ञ के ऋत्विक अपने अपने आसनों पर बैठते हैं। इष्ट मित्र, बन्धु बान्धव एवं सपत्नीक पुत्र और पौत्रों सहित श्रीकृष्ण और बलरामजी उस यज्ञशाला की शोभा बढ़ाने लगे। वसुदेव ने ऋत्विजों की आज्ञानुसार प्रत्येक यज्ञ में अग्निहोत्रादि से युक्त ज्योतिष्टोम, दर्शपौर्ण मास आदि प्राकृत और शौर्यसत्रआदि वैकृत यज्ञविधि से विष्णु का पूजन कराया।

तदनन्तर यथा विधि वसुदेवजी ने ब्राह्मणों का पूजन किया और उन्हें दक्षिणा में गौ, भूमि, सुन्दरी कन्याएँ, वस्त्र, अलङ्कार और महामूल्य धन रत्नादि देकर प्रसन्न और सन्तुष्ट किया। यज्ञान्त में महर्षियों ने पत्नी समाज और अवभृथ स्नान आदि सम्पूर्ण कर्म्मों को करा, स्यमन्त पञ्चक नामक सरोवर में स्नान किये।

इस प्रकार स्नान कर और सुन्दर वस्त्रालङ्कार धारण कर. वसुदेव जी ने सूत, मागध वन्दीजनों को तथा, भूखे नङ्गे मनुष्यों से लेकर कुत्तों तक को अन्न, वस्त्र, आभूषणादि से तृप्त किया।

तदनन्तर हाथी घोड़े पालकी आदि दे अपने भाई बन्धुओं को प्रसन्न किया। ये सब लोग कृष्ण की आज्ञानुसार प्रसन्न होते हुए अपने अपने घरों को चले गये। सब तो गये किन्तु बन्धुवत्सल नन्दजी, श्रीकृष्ण, बलदेव, उग्रसेन और वसुदेव आदि सुहृदों के आदर सहित पूजन को स्वीकृत करके उनके अनुरोध से उनको प्रसन्न करने के निमित्त कुछ दिनों और गोप गोपियों सहित वहाँ रहे। वसुदेव ने प्रेम पूर्वक नन्दजी का हाथ पकड़ कर कहा:—

वसुदेव—भाई! प्रेम का पाश बड़ा कठिन है। इससे मनुष्य का छूटना असम्भव है। इस सुदृढ़ प्रेमबन्धन को न तो वीर बल से और न योगी ज्ञान से काट सकते हैं। नन्दजी आप परोपकारी सज्जनों में सर्वाग्रगण्य हैं और हम नितान्त अकृतज्ञ हैं। आपने जैसी मैत्री हमारे साथ वर्ती है यद्यपि हम उसका बदला आपको नहीं दे सकते. तथापि वह निष्फल न होगी। भाई! पहले हम असमर्थ होने के कारण आपको प्रसन्न न कर सके और अब भी हम सौभाग्य के मद से विवेक रूपी दृष्टि को गँवा कर अपने सामने बैठे आप जैसे उपकारी साधुजनों को नहीं देख पाते। हे ब्रजराज! हम तो यही कहेंगे कि जो राजलक्ष्मी सुप्रसन्न होने पर अपने उपासक को, उसके सुहृद, भाई बन्धुओं तक को छुड़ा देती है वह राजलक्ष्मी मङ्गल की कामना करने वाले को कभी न मिले।

नन्दजी के पूर्व उपकारों का स्मरण आते ही वसुदेवजी का शरीर शिथिल पड़ गया और प्रेम विह्वल हो वे रोने लगे।

नन्दजी वसुदेव, बलदेव और श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिये तीन मास तक वहीं रहे। यादवों ने इस बीच में नन्दजी का बड़ा सत्कार किया। श्रीकृष्ण और बलराम ने नन्दजी की सारी कामनाओं को पूरा किया और फिर बहुमूल्य सामग्री भेंट कर और मार्ग में रक्षा के लिये अनेक रक्षक सैनिक दे उन्हें विदा किया।

इस प्रकार बन्धु बान्धवों को विदा कर और वर्षाऋतु को समीप आयी जान, यादवों ने भी द्वारका की ओर प्रस्थान किया।

कुरुक्षेत्र में ऋषियों के मुख से श्रीकृष्ण की महिमा सुन वसुदेवजी को अब विश्वास हो गया कि श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं।

वसुदेव को श्रीकृष्ण बलदेव द्वारा ब्रह्मज्ञान का उपदेश और मृत छहो पुत्रों की प्राप्ति।

एक बार श्रीकृष्ण और बलदेव, वसुदेवजी के समीप गये तथा उनको प्रणाम किया। वसुदेवजी ने भी उन्हें आशीर्वाद दिया। इस प्रकार लोकाचार हो चुकने पर वसुदेवजी ने उन दोनों से कहाः—

वसुदेव—हे महायोगी श्रीकृष्ण! मैं आपको इस विशाल विश्व के कारण का भी कारण अर्थात् ईश्वर समझता हूँ। जो जब जैसे होता है, हो रहा है या होने वाला है; उन सब के ईश्वर आप ही हैं।

हे भगवन्! चन्द्रमा की कान्ति, अग्नि का तेज, सूर्य की कान्ति नक्षत्रों की प्रभा, विद्युति की सत्ता, आपही हैं।

इस गुणप्रवाह रूपी संसार में आपकी सूक्ष्मगति न जानने के कारण ही जीवों को बारम्बार मरना जीना पड़ता है।

भगवन्! दैव संयोग से दुर्लभ नर देह पाकर और तिस पर भी इन्द्रियों की स्वस्थता पाकर जो जीव अपने सर्वोच्च स्वार्थ की सिद्धि नहीं करता वह आपकी माया में मोहित रह कर वृथा अपनी आयु को गँवाता है।

आपही ने जीव को बेटे, नाती, स्त्री, पतोहू के मायाजाल में जकड़ रखा है। आप दोनों वास्तव में मेरे पुत्र नहीं हैं साक्षात् प्रकृति एवं पुरुष के नियन्ता परमेश्वर हैं। पृथ्वी के भार स्वरूप दुष्ट क्षत्रियों को विध्वंस करने के लिये आपने पृथिवी पर अवतार लिया है। हे प्रभो! आपके चरण कमल शरणागतों के दुःखों को दूर करने वाले हैं। उन्हीं चरणों का आश्रय अब मैंने पकड़ा है।

इस प्रकार पिता के तत्वज्ञान मय वाक्यों को सुन कर, श्रीकृष्ण ने विनययुक्त वचनों से वसुदेव को सम्बोधन कर कहाः—

श्रीकृष्ण—हे पितृदेव! आपका कथन युक्ति-युक्त है। यह सारा चराचर जगत् ब्रह्मस्वरूप है। जिज्ञासु को उचित है कि वह इसी प्रकार व्यापक रूप से ब्रह्म को विचारे। एक मात्र, ज्योतिः स्वरूप, नित्य, अनन्य और निर्गुण ब्रह्म अपने ही से प्रकट गुणों के द्वारा गुण विशिष्ट उपाधिरूपी तत्वों में अनेक रूप वाला जान पड़ता है।

इन वाक्यों को सुन कर वसुदेव के चित्त से भेदभावना जाती रही और उनका मन अत्यन्त प्रसन्न और शान्त हुआ।

बलरामजी ने अपने गुरु का मृत पुत्र यमलोक से ला दिया यह जान कर देवकी देवी को बड़ा विस्मय हुआ। साथ ही कंस द्वारा मारे गये अपने मृत पुत्रों का स्मरण हो आने से देवकी को बड़ा सन्ताप हुआ। तब वे श्रीकृष्ण बलदेव के पास जाकर इस प्रकार दीन वचन कहने लगींः—

देवकी—हे बलराम! और हे योगेश्वर श्रीकृष्ण! मैं जानती हूँ कि आप ब्रह्मा आदि विश्व स्रष्टाओं के भी ईश्वर हैं। आपने दुष्टों का नाश करने के लिये ही मेरे गर्भ से जन्म लिया है। मैंने सुना है कि आपने गुरुदक्षिणा में अपने गुरु का मरा हुआ पुत्र यमलोक से ला दिया है। सो हे योगेश्वरों के ईश्वर! यह सुन मेरे मन में भी वैसी ही इच्छा उत्पन्न हुई है। उसको आप पूर्ण करो अर्थात् कंस द्वारा मारे गये मेरे भी छहों पुत्रों को ला दो। मैं उनको देखना चाहती हूँ।

माता की आज्ञा पाकर वे दोनों उसी समय योगमाया के बल से सुतल को गये। अपने लोक में उन दोनों को देख राजा बलि

बहुत प्रसन्न हुए। सपुत्र पौत्र आसन छोड़ बलि ने उठ कर उन दोनों को प्रणाम किया और उन्हें सुन्दर आसनों पर बैठाया। तदनन्तर उनके चरण धो और चरणोदक को अपने और अपने परिवार वालों के सिरों पर छिड़का। फिर यथाविधि पूजन कर आत्मसमर्पण किया। फिर राजा बलि भगवान् के चरणों को अपनी गोद में रख कर दबाने लगे। उस समय आनन्द का वेग बढ़ने से उनके शरीर के रोंगटे खड़े होगये। नेत्रों से आँसू निकलने लगे और चित्त प्रेम से विह्वल हो गया। तदुपरान्त दैत्यराज ने कहाः—

दैत्यराज—हे भगवन्! हम राजस तामस गुण विशिष्ट जीव हैं। तिस पर भी आपने घर बैठे ही हमें दर्शन दिये। यद्यपि अज्ञानान्ध प्राणियों को आपका दर्शन दुर्लभ है, तथापि हमारी समझ में आप जिन पर दया करते हैं उनके लिये आपके दर्शन सुलभ हैं। दैत्य, दानव, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रमथ नायक आदि समस्त राजसी और तामसी प्रकृति के प्राणी आपसे शत्रुता किया करते हैं। हम भी वैसे ही हैं। किन्तु जैसे गोपियाँ काम भक्ति से और कोई कोई दैत्य आपके साथ वैर करके आपको प्राप्त हुए हैं, वैसे ही सत्वशील और समीपस्थ देवता भी आपको प्राप्त नहीं हो पाते। इसीसे आपकी लीला अपरम्पार है। जब योगेश्वर लोग भी आपकी योगमाया के स्वरूप को नहीं जान पाते तब हमारी बिसात ही कितनी है? अतः प्रसन्न होकर हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि निरपेक्ष मुनिगण के एक मात्र आश्रय आपके चरण कमलों के ध्यान और भजन में सदा हम संलग्न रहें। क्योंकि आपके चरणों की सेवा ही सब का सार है। रहे गृह आदि सांसारिक विषय सो अन्धे कुएँ के समान हैं। हमारी यह प्रार्थना है कि जो विश्व को अन्ध-कूप से निकाल कर उसकी सदा रक्षा किया करते हैं उनके चरण कमलों में हमारी अनन्य भक्ति हो।

भगवान् श्रीकृष्ण—हे दैत्यराज! पहले स्वायम्भुव मन्वतर में ऊर्णा के गर्भ से मरीचि ऋषि के छः पुत्र हुए। अपनी कन्या पर ब्रह्मा जी को अनुरक्त देख कर वे देव सदृश ऋषि हँसे। इस पाप के कारण उसी क्षण उन्हें आसुरी योनि मिली। उस जन्म के बाद योग-माया द्वारा वे देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए और कंस द्वारा वे मारे गये। किन्तु प्रबल पुत्रस्नेह के कारण देवी देवकी उनके लिये विकल हैं। वे ही बालक ये तुम्हारे पास वर्त्त-मान हैं। अतः माता का शोक मिटाने को मैं उन्हें अपने साथ ले जाऊँगा। पीछे से वे शाप से मुक्त और विगत ताप होकर फिर देवलोक को लौट जायँगे। स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, क्षुद्रभृत और घृणि नाम के ऋषिकुमार मेरे अनुग्रह से मोक्ष पावेंगे।

यों कह कर और बलि द्वारा पूजित होकर बलराम और श्रीकृष्ण उन बालकों को ले द्वारका-पुरी में पहुँचे। उन पुत्रों को देखते ही पुत्र-स्नेह के कारण देवकी के स्तनों से आप ही आप दुग्ध बहने लगा। स्नेह वश देवकी ने उनको अपनी छाती से लगा लिया और गोद में रख, बारम्बार उनका माथा सूँघने लगी। माया में मुग्ध देवी उन बालकों को स्तनपान कराने लगी। श्रीकृष्ण भगवान् के पीने से बचा देवकी का दूध पीने और श्रीकृष्ण के शरीरस्पर्श से उन बालकों के मन में आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ। तब वे सब के देखते ही देखते वसुदेव कृष्ण और देवकी को प्रणाम कर आकाश मार्ग से देवलोक को चले गये।

इस घटना को देख देवकी को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे समझ गयीं कि ये सारी माया योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण की है।

सुभद्रा हरण।

एक बार महा पराक्रमी अर्जुन तीर्थयात्रा के लिये निकले। जब वे प्रभास क्षेत्र में पहुँचे; तब उन्होंने सुना कि बलदेवजी अपनी बहिन सुभद्रा का विवाह दुर्योधन के साथ करने वाले हैं, किन्तु कृष्ण यह नहीं चाहते। यह सुन अर्जुन ने निश्चित किया कि सुभद्रा के साथ मैं विवाह करूँगा। यह विचार पक्का कर त्रिदण्डधारी संन्यासी का रूप बना कर अर्जुन द्वारकापुरी में पहुँचे। अपना काम निकालने के अवसर की प्रतीक्षा में रह कर उन्हें चौमासा बिताना पड़ा। उन्होंने अपना ऐसा रूप बदला कि बलभद्र आदि उनके आत्मीय जन भी उन्हें न पहचान पाये। अतः इन्हें त्रिदण्डी यती समझ उन लोगों ने इनका बड़ा आदर सत्कार किया।

एक दिन निमन्त्रण दे बलदेवजी त्रिदण्डी रूपधारी अर्जुन को भोजन कराने अपने घर लिया ले गये। घर पर जा अर्जुन ने भोजन किये। वहाँ वीर पुरुषों के चित्त को चुराने वाली सुशीला सुभद्रा को देख अर्जुन उस पर मुग्ध हो गये। वह भी सरस और सलज्ज कटाक्षों से अर्जुन की ओर देखने लगी। उसने देखते ही वीर पुङ्गव अर्जुन को अपना सर्वस्व सौंप दिया। उस दिन से अर्जुन के हृदय-मन्दिर में सुभद्रा देवी ने अपनी स्थापना कर ली और कामदेव अर्जुन को अपने चोखे बाणों से घायल करने लगा।

इतने में एक दिन देवयात्रा के अवसर पर, सुभद्रा रथ में बैठ अन्तःपुर से निकल देवदर्शन के लिये गयीं। इस अवसर को पा कृष्ण, वसुदेव और देवकी इच्छानुसार रास्ते ही से वीर अर्जुन सुभद्रा को हर ले गये। जिन रक्षकों ने अर्जुन के इस काम में बाधा डालनी चाही उन्हें अर्जुन ने मार भगाया। यादव चिल्लाते ही रह गये, पर अर्जुन सुभद्रा को उसी प्रकार ले गये जैसे सिंह अपने भाग को ले जाता है। यह संवाद सुन बलदेवजी को बड़ा क्रोध उपजा, किन्तु कृष्णचन्द्र ने अपने बड़े भाई के पैर पकड़ उन्हें शान्त किया। तब बलदेवजी ने प्रसन्न होकर वरवधू के लिये यौतुक में बहुमूल्य गृहसामग्री, हाथी, रथ घोड़े रत्नालङ्कार, दास दासियाँ भेज दीं।

श्रीकृष्ण की मिथिला यात्रा।

श्रुतदेव नामक एक ब्राह्मण था जो श्रीकृष्ण का परम भक्त था। वह बड़ा शान्त, चतुर, विवेकी और सन्तुष्ट ब्राह्मण था और श्रीकृष्ण की भक्ति छोड़ और किसीसे वह कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता था। वह विदेह देश के अन्तर्गत मिथिला पुरी में रहता था। श्रुतिदेव गृहस्थ था किन्तु अपने आप ही उसे जो कुछ मिलता उसीसे वह अपना निर्वाह कर लिया करता था। साथ ही जीवन रक्षा भर को अन्नादि उसे नित्य ही मिल जाया करता था अधिक नहीं मिलता था। वह उतने ही से अपना काम चला कर निज धर्म का पालन किया करता था। उस समय में वहाँ मैथिल वंशज बहुलाश्व नामक राजा राज्य करते थे। ये राजा भी श्रीकृष्ण के परम भक्त थे और अभिमान तो इन्हें छू तक नहीं गया था। इन दोनों भक्तों को कृतार्थ करने के अभिप्राय से श्रीकृष्णचन्द्र जी ने रथ में बैठ मिथिला की यात्रा की। उनके साथ नारद, वामदेव, अत्रि, वेदव्यास, परशुराम, असित, अरुणि, वृहस्पति, शुकदेव, कण्व मैत्रेय, च्यवन आदि ऋषि भी गये। जिस जिस नगर में होकर यह मण्डली निकली वहाँ वहाँ के निवासियों ने इनका यथाविधि पूजन सत्कार किया। आनर्त, मरु, कुरुजाङ्गल, कङ्क, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधुकेकय, कोशल, अर्ण आदि अनेक मार्गस्थित देशवासियों ने भगवान् के दर्शन कर अपने को कृतकृत्य माना। त्रैलोक्यगुरु श्रीकृष्ण के दर्शन से उनका अज्ञान दूर हो गया और उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई।

अन्त में श्रीकृष्णचन्द्र मिथिला नगरी में पहुँचे। उनका आगमन सुन मिथिलापुरवासी स्त्रीपुरुष हाथ में पूजन की सामग्री ले ले कर

उनकी अभ्यर्थना करने के अभिप्राय से अग्रसर हुए। भगवान् के दर्शन करते ही उनके मुख मण्डल पर आनन्द की छटा छहराने लगी। उन लोगों ने ऋषियों सहित श्रीकृष्ण को आदर पूर्वक प्रणाम किये। श्रुतिदेव और मिथिला नरेश ने अपने ऊपर भगवान् का अत्यन्त अनुग्रह जान उनके चरणों पर सीस रख प्रणाम किया और प्रार्थना की—"आप ब्राह्मणश्रेष्ठ ऋषियों सहित हमारे अतिथि सत्कार को स्वीकृत कर हमें कृतकृत्य कीजिये। तब दोनों भक्तों के आतिथ्य को स्वीकृत कर और दो रूप धारण कर, दोनों के घर में रह कर दोनों को प्रसन्न किया। श्रुतिदेव समझता कृष्ण भगवान् हमारे ही यहाँ आये हैं और मिथिला-नरेश ने समझा कि वे हमारे यहाँ आये हैं। मिथिला नरेश ने दूर से चल कर आये हुए ऋषियों की थकावट मिटाने के लिये उनको आसनों पर बिठाया। जब ऋषि और भगवान् सुख पूर्वक आसनों पर बैठ गये तब नरेश ने उनके चरण धोकर उस चरणोदक को अपने और कुटुम्ब भर के सिरों पर छिड़का। आनन्द और भक्ति के उद्रेक में भर मिथिलानरेश का कण्ठ रुद्ध हो गया और नेत्रों से जल प्रवाहित हुआ। तदनन्तर राजा ने भगवान् और उनके साथी ऋषियों का यथाविधि पूजन किया। फिर अन्नजल ताम्बूल आदि से तृप्त और सन्तुष्ट कर मिथिलानरेश श्रीकृष्ण भगवान् की चरण सेवा करते हुए मधुरस्वर से बोले:—

मिथिला नरेश—हे विभो! हे नाथ! आप स्वयं प्रकाशमान हैं। सब जीवों के चेतनदाता और साथी आप ही तो हैं। अपने चरण कमलों को सदा भजने वाले हमसे तुच्छ सेवकों को आपने आज घर बैठे दर्शन दे कृतार्थ किया। आपका कथन है कि अनन्त, लक्ष्मी और ब्रह्मा से बढ़ कर आपको अपने भक्त प्यारे हैं। अपने इस कथन की पुष्टि के उद्देश्य ही से आपने मेरे घर को पवित्र किया है।

भगवन्! निष्किञ्चन शान्त मुनियों को आप आत्मज्ञान देने वाले हैं। यह जानता हुआ भी कौन चतुर व्यक्ति होगा जो आपके चरण कमलों से विमुख हो। आपने इस धराधाम पर यदुवंश में अवतार ले, तीनों लोकों के पापों का नाशकारी अपना सुयश इसलिये फैलाया है कि लोग उसे कह सुन कर संसार से छुटकारा पावें।

अकुण्ठित अनुभव से पूर्ण, शान्त तपस्वी नारायण को मैं प्रणाम करता हूँ। हे सर्वेश्वर! इन महर्षियों सहित कुछ समय तक इस दास के गृह में रहकर अपनी पवित्र चरणरज से इस निमिकुल को पवित्र कीजिये।

इस प्रकार राजा की स्तुति सुन श्रीकृष्ण-चन्द्र कुछ समय तक नरेश के यहाँ रहे।

उधर मिथिला नरेश की तरह श्रुतिदेव ने भी श्रीकृष्णचन्द्र और समागत ऋषियों को प्रणाम कर उनका बड़ी श्रद्धा के साथ आतिथ्य सत्कार किया और भक्ति में भर वह आनन्द पूर्वक नाचने लगा। उसे उस समय शरीर और शरीर के वस्त्रों की कुछ भी सुध नहीं रही। उसने काष्ठ, तृण और कुश के आसनों पर सब को बिठाया। तदनन्तर कुशल पूँछा, पत्नी सहित उन सबके चरण धोये। अब क्या था श्रुतिदेव के सारे मनोरथ पूरे हो गये थे। उस चरणोदक को श्रुतिदेव ने अपने सीस और सब घर वालों के सीस पर छिड़का तथा घर की भूमि पर उसे छिड़क उसको भी पवित्र किया। फिर अन्न आदि सात्विक सामग्रियों से श्रीकृष्ण आदि का पूजन कर वह अपने मन में सोचने लगा:—

मैं तो गृहरूपी अन्धे कूप में पड़ा हुआ एक अधम व्यक्ति हूँ। जिन चरणों की रज में सब तीर्थ विद्यमान हैं और जो साक्षात् हरि के रहने के स्थान हैं उन इन श्रेष्ठ ब्राह्मणों का और साक्षात् विष्णु भगवान् का समागम मुझे किस पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुआ।

जब श्रीकृष्ण ऋषि मण्डली सहित सुख पूर्वक आसनों पर बैठ गये; तब स्वजन मण्डली

सहित श्रुतिदेव ने कृष्णचन्द्र के पास बैठ, उनके चरणों को दबाते हुए कहाः—

श्रुतिदेव—हे परम पुरुष! आपने आज ही मुझे दर्शन दे कृतकृत्य नहीं किया; किन्तु मुझमें आप उस समय से मिले हुए हैं जब आपने इस सृष्टि की रचना की थी। जो निर्मल अन्तःकरण वाले पुरुष, निरन्तर आपके गुण और कर्मों का गान किया करते हैं तथा आपका पूजन वन्दन कर मन द्वारा आपसे मिलते रहते हैं, उन्हींके हृदय के भीतर आप प्रकट होते हैं। किन्तु आप मेरे तो नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हैं। अतः मुझसे बढ़ कर भाग्यशाली कौन है? जो लोग सकाम कर्म्मों में संलग्न हैं, उनके हृदय में वास करके भी उनके लिये आप बहुत दूर हैं। किन्तु जो लोग अभिमान रहित हैं, जिनके अन्तःकरण, आपके गुणानुवादों के श्रवण कीर्तनों से पवित्र हो चुके हैं उनके आप अत्यन्त निकट हैं और उनके लिये आप अत्यन्त सुलभ हैं।

भगवन्! आत्मज्ञानियों को आप मोक्ष देते हैं, किन्तु देहाभिमानी आपके दर्शन भी नहीं कर पाते। अतः माया के आवरण से ढके होने के कारण जन्म मरण के चक्कर में आप उन्हें छोड़ देते हैं। हे देव! हम आपके दास हैं कृपा पूर्वक आज्ञा दीजिये कि हम आपकी क्या सेवा करें। भगवन् जब तक आपके दर्शन नहीं मिलते तभी तक लोगों को सांसारिक यातना भोगनी पड़ती है।

श्रुतिदेव के इन यथार्थ वचनों को सुन श्रीकृष्णचन्द्रजी हँस कर और श्रुतिदेव का हाथ पकड़ कर कहने लगेः—

श्रीकृष्णचन्द्र—ब्रह्मन्! अपनी चरणरज से त्रिभुवन को पवित्र करने वाले ये ऋषि महोदय तुम्हारे ऊपर अनुग्रह कर, तुम्हारे घर में पधारे हैं। देखो, देवता, तीर्थ और पुण्यक्षेत्र तो कुछ काल तक सेवन करने पर फल देते हैं किन्तु, साधु ब्राह्मणों को एक बार प्रणाम करते और उनका एक बार दर्शन करते ही से तत्क्षण मन और शरीर पवित्र हो जाते हैं।

ब्राह्मण जन्म ही से प्राणीमात्र में श्रेष्ठ और पूज्य हैं। तिस पर यदि वह तपस्वी विद्वान् सन्तोषी हो और मेरा उपासक हो तो फिर उसका कहना ही क्या है? ब्राह्मण मेरी ही मूर्ति है। मुझे मेरा यह चतुर्भुजरूप भी ब्राह्मणों से बढ़ कर प्रिय नहीं है। ब्राह्मण रूप की सेवा से मैं जितना सन्तुष्ट और प्रसन्न होता हूँ उतना अपने इस रूप की सेवा से नहीं होता, क्योंकि मैं और ब्राह्मण दोनों ही सर्वदेव मय हैं ब्राह्मण मुझको सर्वत्र व्यापक जानता है और सब को मेरा ही रूप मानता है। जो मन्दमति हैं वे ब्राह्मणों को दोष की दृष्टि से देखते और उनका अनादर करते हैं। किन्तु जो लोग बुद्धिमान् हैं वे ब्राह्मणों को मेरी आत्मा का श्रेष्ठ रूप मान और अपना गुरु समझ उनका सम्मान करते हैं अतः हे विप्रवर इन सब ऋषियों को तुम मेरा ही स्वरूप समझो और श्रद्धा पूर्वक इनकी पूजा करो। इनके पूजन से मैं प्रसन्न होऊँगा।

इस प्रकार श्रीकृष्ण की आज्ञा पाकर श्रुतिदेव कृष्ण सहित उन सब ब्रह्मर्षियों की एक भाव से आराधना करके अन्त में सद्गति को प्राप्त हुए और भगवान् इस प्रकार अपने दोनों भक्तों को श्रुति सम्मत ब्रह्मपरतारूपी मुक्ति का पथ दिखला द्वारकापुरी को लौट गये।

यदुवंश को शाप।

जब महाभारत के लोकक्षयकारी युद्ध की पूर्णाहुति हो चुकी तब श्रीकृष्ण ने विचारा कि—"यद्यपि ससैन्य दुष्ट राजा लोगों के नाश से पृथिवी का भार बहुत कुछ हलका हो गया है, तथापि मेरी समझ में सारा बोझ नहीं हल्काना है—क्योंकि यह अलक्ष्य और प्रबल यादव कुल तो विद्यमान ही है। मेरे आश्रित रह कर और उत्तरोत्तर सम्पत्ति से समृद्धशाली होने के कारण यह यादववंश मद में चूर होता

चला जाता है। मेरी वैकुण्ठयात्रा के बाद तो इनकी उद्दण्डता की सीमा न रहेगी और यह मनमानी घर जानी कर बड़े बड़े अत्याचार करने लगेंगे। अतः परस्पर के कलह से इस वंश का भी नाश करा मैं पृथिवी का भार कम करा-ऊँगा।" यह विचार कर भगवान् ने वैसी ही लीला रच दी।

विश्वामित्र, असित, कैण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ठ, नारद आदि ऋषि वसुदेव के भवन में पुण्य कर्म कराने आये। फिर जब वहाँ से विदा होकर जाने लगे तब द्वारकापुरी के समीप पिण्डारक नाम पवित्र तीर्थ में तप करने के विचार से गये। वहाँ पर यादववंशोद्भव धृष्ट बालक खेल कूद रहे थे। क्रीड़ा कौतूहल वश उन बालकों ने जाम्बवती के पुत्र साम्ब को स्त्रियों के कपड़े पहनाये। वे ऋषि के साथ उपहास करने के निमित्त, बनावटी नम्रता दिखा कर और ऋषियों के पास जाकर उनसे कहने लगेः—

यादवकुमार—हे ऋषिगण! यह श्याम लोचना सुन्दरी पेट से है। साँझ सवेरे इसके लड़का होने ही वाला है। पर लजीली यह इतनी अधिक है कि अपने मुख से आप लोगों से कुछ पूँछने की हिम्मत नहीं पड़ती। इसीसे इसने हमारे द्वारा आपसे पुछवाया है कि आप लोग कृपा कर बतावें कि इसके लड़का होगा कि लड़की? आप लोग तो त्रिकाल दर्शी हैं—आप से भला कोई बात तो छिपी नहीं।

इस प्रकार बालकों को उपहास करते देख ऋषि बहुत क्रुद्ध हुए और उसी क्रोध के आवेश में उन्होंने कहाः—

ऋषि—अरे मन्दमति बालको! यह तुम्हारी सुन्दरी एक लोहे का ऐसा मूसल जनेगी, जो तुम्हारे कुल के नाश का कारण होगा।

इस घोर शाप को सुन वे बालक बहुत डरे। फिर जब उन्होंने साँब का पेट खोल कर देखा तो सचमुच उनके लोहे का एक मूसल निकला। तब तो वे अत्यन्त चिन्तित हुए और कहने लगेः—"हाय हम अभागों ने यह क्या अनर्थ कर डाला? हमारे बड़े लोग हमसे क्या कहेंगे?" इस प्रकार चिन्तित हो वे मूसल लिये हुए घर गये। डरे हुए उन बालकों ने वह मूसल ले जाकर यादवों की भरी सभा में रख दिया। साथ ही महाराज उग्रसेन से सारा हाल कहा—ब्राह्मणों के अमोघ शाप को सुन और उस मूसल को देख सब द्वारकावासी जन बहुत ही चिन्तित और भयभीत हुए। राजा उग्रसेन ने सब की सम्मति से उस मूसल को बिलकुल महीन महीन चूर्ण सा करवा उसको उसी तरह समुद्र में फिकवा दिया। इस मूसल का एक टुकड़ा नहीं पिस पाया था—सो उसे एक मछली निगल गई। सो चूर्ण था वह समुद्र के तट पर आलगा और उससे बहुत से सोटे उत्पन्न हो गये।

दैववशात् एक मछुवे ने जाल डाला और उसमें वह मछली भी जो मूसल का अनपिसा टुकड़ा निगल गयी थी—पकड़ी गयी। उसका पेट तराशने पर वह लोहे का टुकड़ा निकला और एक बहेलिया ने उस लोहे से बाण के दो अग्रभाग तैयार कर लिये।

यदुवंश का अन्त।

जब श्रीकृष्णचन्द्र की आज्ञा पाकर उद्धव बदरिकाश्रम को चले गये तब आकाश स्वर्ग और पृथिवी पर बड़े बड़े उत्पात उठते देख सुधर्मा सभा में स्थित यादवों से श्रीकृष्ण ने कहाः—

श्रीकृष्ण—हे यादवो! देखो द्वारका में मृत्युसूचक अनेकानेक घोर उत्पात हो रहे हैं। अतः हम लोगों को यहाँ अब मुहूर्त्त भर भी न ठहरना चाहिये। स्त्री, बालक एवं वृद्धों को शङ्खोद्धार नामक तीर्थ को भेज कर हम लोग प्रभास क्षेत्र को चलेंगे। वहाँ पश्चिम वाहिनी सरस्वती नदी है। उसके पवित्र जल में स्नान
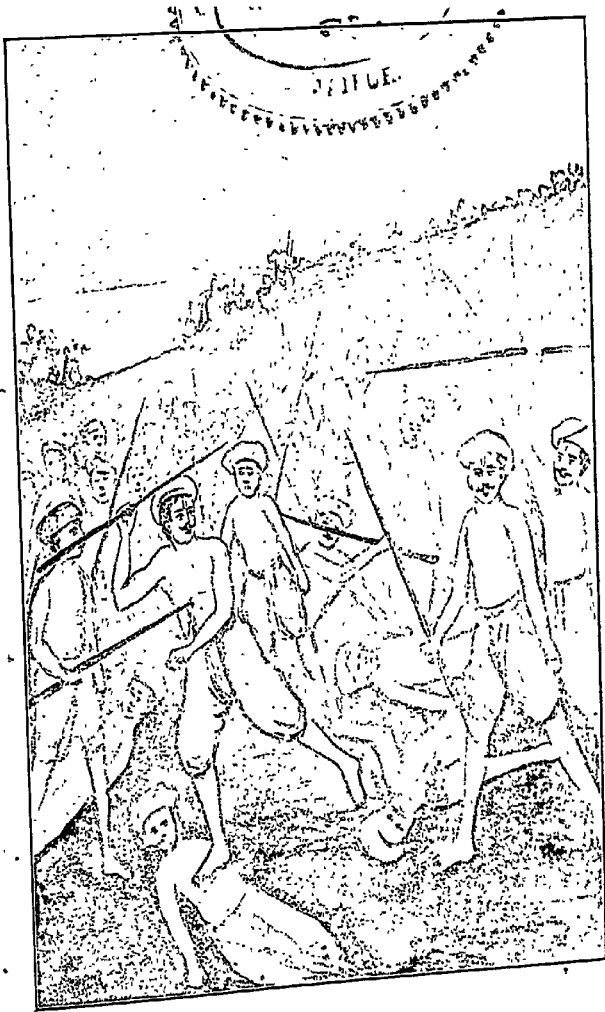
यदुवंशियों का अन्त

कर पवित्रता पूर्वक उपवास कर एकाग्रचित्त हो स्नान आदि करा देवपूजा करेंगे। शान्ति और स्वस्त्ययन-वाचन के पश्चात् हम सब वहाँ गौ, पृथिवी, सुवर्ण, वस्त्र, गज, रथ, अश्व घर आदि दान कर, महाभाग ब्राह्मणों का पूजन करेंगे। ऐसा करने पर हमारा अमङ्गल और अरिष्ट नष्ट होगा। देव ब्राह्मण और गौओं की पूजा ही प्राणियों के जन्म की सफलता का उपाय है।

श्रीकृष्ण के इन मधुर वचनों को सुन यादवों के सब बड़े बूढ़ों ने उनकी बातों का अनुमोदन किया उसी समय नौका में बैठ और समुद्रपार हो, और रथों पर बैठ वे प्रभासक्षेत्र की ओर चल दिये। वहाँ पहुँच कर श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार यादवों ने सारे कृत्य किये।

तदनन्तर प्रबल भावी के प्रभाव में पड़ उन सब ने मैरेयक नाम की एक मदिरा पी। फिर श्रीकृष्ण की माया से मोहित और मदिरा पान से हतबुद्धि हो यादवों में परस्पर कुछ कहा सुनी आरम्भ हुई। यह यहाँ तक बढ़ी कि वे महा क्रोध से एक दूसरे का वध कर डालने के अभिप्राय से, अस्त्र शस्त्र ले आपस में लड़ने लगे। प्रद्युम्न, साम्ब, अक्रूर, भोज, अनिरुद्ध सात्यकी, सुभद्र और जिन् दारुण गद, एवं सुमित्र सुरथ में परस्पर द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। दाशार्ह, भोज, अन्धक, वृष्णि, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुकुर, कुन्ति, आदि वंशोद्भव वीर, स्नेह त्याग परस्पर एक दूसरे को मारने लगे। श्रीकृष्ण की माया में मोहित बेटा बाप को, भाई भाई को, भाञ्जा मामा को, भतीजा चाचा को, नाती बाबा को, मित्र मित्रों से, जाति वाले जाति वाले से लड़ कर एक दूसरे का वध करने लगे। धीरे धीरे सब बाण चुक गये, और दूसरे जो अस्त्र शस्त्र थे वे भी टूट टाट गये; तब उस मूसल के चूर्ण से उत्पन्न सैंटों को उखाड़ वे एक दूसरे को मारने लगे। जब श्रीकृष्णचन्द्र ने लोह सदृश उन सैंटों से परस्पर मारने वालों को रोका, तब वे उन्हीं पर टूट पड़े। तब बलराम और श्रीकृष्ण को भी बड़ा क्रोध आया और वे भी सैंटे उखाड़ और उन यादवों का नाश करने लगे। यादवों का नाश उसी प्रकार हुआ जैसे परस्पर की रगड़ से उत्पन्न वन के बाँसों की आग से उस वन का होता है।

जब सब यादव मारे जा चुके, तब श्रीकृष्ण ने सोचा—"हाँ अब पृथिवी का बोझ निःशेष हुआ।" उधर बलदेव जी ने समुद्र तट पर बैठ परम पुरुष चिन्ता रूप योग धारण कर आत्मा को आत्मा में लीन कर, मनुष्यलोक को त्याग दिया। बलदेव जी की परलोकयात्रा देख, श्रीकृष्णचन्द्र भी चुपचाप एक पीपल के पेड़ की जड़ के पास जा बैठे। उस समय भी उनकी शोभा अकथनीय थी। उस समय भगवान् के शङ्ख चक्रादि आयुध मूर्त्तिमान होकर सेवा में आये। भगवान् अरुण कमल सदृश वाम पाद को दहिनी जंघा पर रखे प्रसन्न भाव से बैठे थे। ऊपर कहा जा चुका है कि जरा नामक व्याध ने उस मूसल के टुकड़े से बाण का अग्र-भाग बनाया था। इस पर ठहरे हुए जरा व्याध ने भ्रमवश भगवान् के चरण को मृग समझ उसी बाण से भगवान् के चरण को बेध दिया। पर जब वह समीप पहुँचा, तब भगवान् के दर्शन पा और अपने किये पर पश्चात्ताप कर कहने लगा:—

जराव्याध—हे उत्तमश्लोक निष्पाप मधुसूदन! मुझसे अनजाने यह अपराध बन पड़ा है। अतएव हे प्रभो! क्षमा कीजिये। आप वे ही साक्षात् विष्णु भगवान हैं जिनके दर्शन से मनुष्यों के हृदय का अन्धकार मिट जाता है। हे नाथ! मुझसे बड़ा अपराध बन पड़ा है। मैं ने मृग के लोभ में पड़ यह घोर कुकर्म कर डाला है। मुझे आप शीघ्र मार डालिये, जिससे मैं ऐसा घोर पापाचार फिर न कर पाऊँ।

ब्रह्मा रुद्र आदि आपके आत्मज भी जब आपकी माया में मोह जाते हैं। तब हमारी तो बिसात ही कितनी है।

श्रीकृष्ण—हे व्याध ! तू डरे मत। तेरा यह काम मेरी ही इच्छा से हुआ है। अतः तू निर-पराधी है। मेरी आज्ञा से तू स्वर्ग लोक को जा जहाँ सुकृत करने वाले जन रहा करते हैं।

वह व्याध भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा कर और आये हुए विमान पर बैठ स्वर्ग को चला गया।

उधर दारुक सारथी श्रीकृष्ण को ढूंढ़ता ढूंढ़ता उसी स्थान पर पहुँचा। दारुक ने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्रजी एक पीपल के नीचे बैठे हैं। और मूर्त्तिमान अस्त्र शस्त्र उनकी सेवा में उपस्थित हैं। अपने स्वामी को देखते ही उसका मन भक्ति से विह्वल हो गया और नेत्रों में आँसू भर आये। रथ से कूद तुरन्त वह भगवान् के चरणों पर लोटने लगा और बोलाः—

दारुक सारथी—हे प्रभो ! आपके चरणार-विन्दों को न देख पाने के कारण मुझे कुछ भी नहीं सूझता। चारों ओर अन्धकार ही अन्ध-कार जान पड़ रहा है। जैसे सूर्य्यास्त होने पर किसी भी दिशा का ज्ञान अन्धकार के कारण नहीं होता। वैसे ही इस समय मुझे भी नहीं सूझ पड़ता कि मैं कहाँ हूँ और किधर जा रहा हूँ। हे नाथ ! मेरे मन को शान्ति प्रदान कीजिये।

दारुक की बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि वह गरुड़ चिन्हित रथ देखते ही देखते अश्व-ध्वजा आदि सामग्री सहित आकाश में पहुँच अदृश्य हो गया। रथ के साथ ही श्रीकृष्ण के दिव्य अस्त्र भी चले गये। यह लीला देख दारुक बड़ा विस्मित हुआ। तब श्रीकृष्ण ने सारथी से से कहाः—

श्रीकृष्ण—हे दारुक ! तुम द्वारका में जाकर यदुवंश के विनाश, बलदेव जी की परम गति और मेरी इस दशा का वृत्तान्त बन्धुओं को सुनाओ। उन से यह भी कहना कि तुम कोई भी द्वारकापुरी में न रहना। क्योंकि मेरी त्यागी हुई नगरी समुद्र में डूब जायगी। मेरे माता पिता सहित मेरे परिवार को ले अर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ को चले जाना। तुम इस विश्व को मेरी माया की रचना जानो। तुमको अन्त में मोक्ष मिलेगी।

यह सुन और बारम्बार अपने प्रभु की प्रदक्षिणा कर और प्रणाम करके और उदास हो दारुक द्वारका को लौट गया।

श्रीकृष्ण की परम-धाम-यात्रा।

तदनन्तर ब्रह्मा शिव तथा अन्य देवता, पितृ, सिद्ध, गन्धर्व विद्याधर, महा नाग, चारण यक्ष, किन्नर, अप्सराएँ और द्विज आदि सब प्राणी भगवान् की इस अन्तिम मानवी लीला का दृश्य देखने के लिये—वासुदेव के गुणों का गान करते हुए आकाश मार्ग में जा डटे।

उधर भगवान् ने ब्रह्मा, इन्द्र आदि अपनी विभूतियों की ओर एक बार दृष्टि डाल और आत्मा को आत्मा में लगा—दोनों नेत्र बन्द कर लिये। योग-धारणा-जनित अग्नि द्वारा अपनी त्रिभुवन मोहिनी मूर्ति को भस्म किये बिना ही श्रीकृष्ण सशरीर अपने धाम को सिधार गये। उस समय आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई और नगाड़े बजने लगे। हरि के वैकुण्ठ जाते ही सत्य, धर्म, कीर्ति, धृति और लक्ष्मी भी पृथिवी छोड़ चल दी। अपने धाम में श्रीकृष्ण भगवान् को प्रवेश करते ब्रह्मा आदि में से किसी ने देखा किसी ने नहीं। इससे उन सब को बड़ा विस्मय हुआ। जैसे मेघमण्डल को छोड़ कर जाती हुई बिजली की गति को मनुष्य नहीं देख पाते, वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र की गति को देवता न देख सके। उस समय ब्रह्मा, रुद्र, आदि सब हरि की योग गति को देख और विस्मित भाव से प्रशंसा करते हुए अपने अपने लोकों को चले गये।

उधर श्रीकृष्ण वियोग से कातर दारुक सारथी द्वारका में पहुँच वसुदेव और उग्रसेन के चरणों पर लोटने लगा और अश्रु जल से उनके

चरणों को भिगोता हुआ यदुवंश के नाश का वृत्तान्त कह सुनाया। इस दुस्संवाद को सुन सब लोग शोक मग्न हो गये। जहाँ पर सब बन्धु बान्धवों की लोथें पड़ी थीं वहाँ ये लोग छाती पीटते और विलाप करते पहुँचे। कृष्ण और बलदेव को न देख उग्रसेन, वसुदेव, देवकी और रोहिणी ने अपने अपने प्राणों को त्याग दिया। अपने पतियों के मृत शरीरों को ले स्त्रियाँ सती होगयीं। वसुदेव की शेष स्त्रियाँ और प्रद्युम्न आदि की स्त्रियाँ भी अपने अपने पतियों के मृत शरीर के साथ भस्म हो गयीं रुक्मिणी आदि कृष्ण के आने पर सती हुईं।

परम प्रिय सखा श्रीकृष्ण के विरह में अर्जुन ने अपने मित्र के बतलाये उपायानुसार अपने मन को शान्त किया। तदनन्तर अर्जुन ने अपने सब निहत बन्धुओं का अन्तिम सत्कार किया—क्योंकि यदुवंशियों के घरों में उन्हें कोई पिण्ड आदि देने वाला भी नहीं बचा था।

भगवान् के एक मात्र निवास मन्दिर को छोड़ उसी समय हरि विहीन द्वारकापुरी जल-मग्न हो गई।

जो स्त्री बालक और वृद्ध मरने से बच गये थे, उन्हें अर्जुन अपने साथ इन्द्रप्रस्थ लिवा ले गये और वहाँ का राज्य वज्र को सौंपा।

श्रीकृष्ण-कथा सम्पूर्ण

[उपदेशावली।]

राजा परीक्षित ने श्री शुकदेव जी से शङ्का की और कहाः—

राजा परीक्षित—ब्रह्मन्! देखते हैं कि देवता दैत्य और मनुष्यों में जो कोई शम्भु का आराधन करता है—वह धनी, भोग सम्पन्न होता है और जो कोई साक्षात् लक्ष्मीपति का आराधन करते हैं, वे प्रायः अकिञ्चन रहते हैं? इस विरोध का कारण क्या है?

इस प्रश्न के उत्तर में श्री शुकदेव जी ने जो बातें कहीं—वे ध्यान पूर्वक सुनने योग्य हैं। यद्यपि जो भाव श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध सर्ग ८८ में व्यक्त किये गये हैं—वे इस सार संग्रह में आना सर्वथा असम्भव हैं; तथापि उसका आभास मात्र देने का प्रयत्न किया जाता है।

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्! महादेव गुणभेद से त्रिविध अहङ्कार के अधिष्ठाता हैं, उन्हींसे दस इन्द्रिय, पाँच तत्व और मन को लेकर सोलह विकार उत्पन्न हुए हैं। अतएव त्रिकारोपाधि युक्त शिव को भजने से उपाधि के अनुरूप भोगादि मिलते हैं। किन्तु हरि प्रकृति से परे परम पुरुष हैं, वे सर्वदर्शी हैं और सब के अन्तर्यामी हैं। उनकी आराधना से निर्गुणत्व प्राप्त होता है।

राजन्! अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति होने पर तुम्हारे पितामह युधिष्ठिर ने भागवत् धर्मों को सुनते समय श्रीकृष्ण से प्रश्न कर जो उत्तर पाया था वह यह है। श्रीकृष्ण ने कहा—हे युधिष्ठिर! मैं जिस पर अनुग्रह करना चाहता हूँ उसको क्रमशः निर्धन कर देता हूँ। जब दुःख पर दुःख उसके ऊपर पड़ते हैं, तब उसके स्वजन अपने आप उसे छोड़ कर चल देते हैं। फिर जब वह अनेक बार धन पाने की चेष्टा करके भी सफलयत्न नहीं होता, तब वह विरक्त हो जाता और मेरे भक्तों के साथ वह मैत्री करता है। तब मैं उस पर प्रसन्न होकर उसके चित्त में अपना अनुराग उत्पन्न करता हूँ। इस प्रकार मेरी भक्ति पाकर और ब्रह्म को अपना ही रूप जान कर संसार से छुटकारा पा जाता है। यही कारण है कि लोग मुझ दुराराध्य को छोड़ कर, आशु प्रसन्न होने वाले तथा काम भोग देने वाले—मेरे ही गुण कृत अन्याय सुलभ वरदानी देवों की आराधना में संलग्न होते हैं; फिर उन शीघ्र प्रसन्न होने वाले देवताओं और प्रमत्तद्वारा राजलक्ष्मी और विभव पाकर वे उद्दण्ड हो जाते हैं और अन्त में उन वरदानी देवताओं को भी भूल कर, उनकी अवहेला करने लगे हैं।"

यह कह श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन् ब्रह्मा, विष्णु, और महेश तीनों देव, शाप और वर के देने वाले हैं। इनमें भी ब्रह्मा और शिव तो शाप भी देते हैं और वर प्रद भी हैं। किन्तु शान्तरूप भगवान् विष्णु अपने भक्तों और इतर जनों पर कृपा करने वाले हैं। इससे सम्बन्ध रखने वाला एक पुराना इतिहास है। उसे हे राजन्! ध्यान देकर सुनो।

शकुनि नाम असुर का पुत्र दुर्मति वृकासुर तपस्या करने को जा रहा था। राह में उसकी भेंट नारद से हुई। असुर ने प्रणाम कर उनसे पूछाः—

असुर—ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों में कौन सा देव शीघ्र प्रसन्न होने वाला है?

नारद—तुम देव देव महादेव की आराधना करो तो तुम्हारी मनोकामना शीघ्रही पूरी होगी। महादेव जी थोड़े ही से अपराध से अप्रसन्न और थोड़े ही स्तव से प्रसन्न होते हैं। देखो न उन्होंने तुरन्त प्रसन्न होकर बाणासुर और रावण को वर दे दिया जिससे पीछे उन्हें स्वयं सङ्कट में पड़ना पड़ा।

यह सुन वृकासुर केदार तीर्थ में गया और अग्नि में अपने शरीर के माँस की आहुति देकर शिव का आराधन करने लगा।

सात दिन लों इस प्रकार शिव की आराधना करने पर भी जब शङ्कर प्रकट न हुए तब केदार तीर्थ स्नान कर और हाथ में खड्ग लेकर अपना सिर होमने को उद्यत हुए। उसी समय परम कृपाल शिव जी प्रकट हुए और सिर काटने से उसे रोका। शिव जी के हस्त-स्पर्श ही से उसका सारा शरीर ज्यों का त्यों हो गया। शिव जी ने उससे कहाः—

शिवजी—बस बस बहुत हुआ। अब मैं तेरी मनोकामना पूरी करने के लिये ही प्रकट हुआ हूँ। मैं शरणागतों पर सदा प्रसन्न रहता हूं। अब तू व्यर्थ अपने आत्मा को कष्ट न दे।

यह सुन उस असुर ने महादेव जी से वह वर माँगा जिससे प्राणीमात्र को भय उत्पन्न हुआ।

वृकासुर—भगवन्! मैं जिसके सिर पर हाथ रख दूँ वही भस्म हो जाय।

यह सुन महादेव ने आगा पीछा विचारे बिना ही तुरन्त कह दिया—"तथास्तु अर्थात् ऐसा ही हो।" तब तो वह असुर अपने स्वभावानुसार पाये हुए वर की परीक्षा के लिये शम्भु के सिर पर ही हाथ रखने को उद्यत हुआ। यह देख महादेव बहुत घबड़ाये और अपनी भूल पर पछताते हुए तथा डर कर वहाँ से भागे। कोई दिशा विदिशा लोक, भुवन ऐसा न रहा जहाँ शिव जी न गये हों और वृकासुर ने उनका पीछा न किया हो। सारे देवता किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो शिव जी की दुर्दशा तो देखते रहे। पर उनसे करते धरते कुछ भी न बन पड़ा। तब रक्षा का अन्य उपाय न देख शम्भु श्री वैकुण्ठधाम में पहुँचे—जहाँ अनेक शान्ति कामी जीवों का निवास है और जहाँ पहुँच कर जीव फिर नहीं लौटता। पर दुःखहारी नारायण ने शिव को इस प्रकार सङ्कट में देख उन्हें धीरज बँधाया और स्वयं योग माया द्वारा वामन ब्रह्मचारी का रूप धर उस असुर के सामने जा खड़े हुए।

साक्षात् प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी बटुरूपधारी हरि को देख असुर ने बड़ी नम्रता से उनको प्रणाम किया। तब भगवान् ने उससे कहाः—

नारायण—हे शकुनि के पुत्र! जान पड़ता है बहुत चलते चलते तुम थके बहुत हो। अतः क्षण भर यहाँ ठहर कर विश्राम कर लो। क्योंकि सब पुरुषार्थों की सिद्धि इस आत्मा ही के ऊपर निर्भर है। अतः इसे कष्ट देना उचित नहीं। हे पुरुषसिंह, वह कौनसा कार्य है जिसके लिये तुम दौड़ रहे हो। यदि तुम्हारी कुछ हानि न हो, तो हमें अपना वह काम बतला दो। लोगों के काम दूसरों की सहायता से बड़ी सरलता से पूरे होते हैं। बहुत सम्भव है, हम भी तुम्हारी कुछ सहायता करें।

नारायण के इन सुधालम वचनों को सुन कर, असुर की सारी थकावट मिट गयी और उसने सारा वृत्तान्त आदि से अन्त तक कह सुनाया। उसे सुन भगवान् ने कहाः—

नारायण—भाई! यदि ऐसा है, तब तो हम शिवजी की बात का विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे तो दक्षप्रजापति के शाप से पिशाच प्रवृत्ति को प्राप्त हैं। जो भूतप्रेतों के अगुआ हैं, जिनकी

बुद्धि विषपान और भङ्ग पीने से भ्रष्ट हो रही है, उन शिव को यदि तुम जगद्गुरु मानते हो और उनके ऊपर श्रद्धा रखते हो तो अपने ही मस्तक पर हाथ रख कर सत्यासत्य की परीक्षा क्यों नहीं करते? हमारे विश्वास के अनुसार यदि उनका वचन मिथ्या निकले; तो उन्हें वह दण्ड देना जो उन्हें आजन्म याद रहे और आगे को ऐसे झूठ बोलने की उनकी बान छूट जाय।

नारायण के इन मधुर और मोह उपजाने वाले वाक्यों से दानवराज की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी और उसने अपने ही ऊपर अपनी दुर्मति का दुरुपयोग किया। अर्थात् अपने ही सिर पर अपना हाथ रख लिया। सिर पर हाथ रखते ही वज्राहत मनुष्य की तरह वह पापी असुर तत्क्षण ही मर कर धरती पर गिर पड़ा। यह देख आकाशस्थित देव, ऋषि, पितृ "जय जय" "नमोनमः" "साधु साधु" कहते हुए फूलों की वर्षा करने लगे। इस प्रकार हरि ने उस दानव को बातों के चक्कर में ला मारा और शङ्कर के प्राण बचाये। तदनन्तर शङ्कर के समीप जाकर हरि कहने लगे:—

नारायण—हे देवदेव महादेव! वह पापी अपने ही पाप से अपने आप ही नष्ट हो गया। बड़े व्यक्तियों को चिढ़ा कर क्या कोई कुशल मङ्गल से रह सकता है। आप विश्वनाथ हैं साक्षात् जगद्गुरु है, आपका अपराधी असुर भला क्योंकर बच सकता था।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश की भृगु द्वारा परीक्षा।

सरस्वती नदी के तट पर यज्ञकार्य में तत्पर ऋषिमण्डली में यह प्रश्न उठा कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश में कौनसा महान् या श्रेष्ठ है। इस प्रश्न की मीमांसा का भार महर्षि भृगु को सौंपा गया।

महात्मा भृगु सब से पहले अपने पिता ब्रह्मा के निकट गये। ब्रह्मा के महत्व की परीक्षा के लिये भृगु ने न तो उनको प्रणाम किया और न उनकी स्तुति की। यह देख कमलासनासीन ब्रह्मा अत्यन्त कुपित हुए और भृगु पर बहुत बिगड़े। किन्तु पीछे वे ठण्डे पड़े।

तदनन्तर भृगुजी महाराज वहाँ से चल कर कैलास पर पहुँचे। महेश्वर अपने भाई से मिलने के लिये आनन्द पूर्वक उठे, पर भृगु उनसे मिले नहीं और न मिलने का कारण बतलाते हुए यह कहा—"तुम कुमार्गगामी हो, मैं तुमसे मिलना नहीं चाहता।" यह सुन महादेव के क्रोध की सीमा न रही। लाल लाल नेत्र कर उन्होंने त्रिशूल उठा ही तो लिया और भृगु को मारने के लिये उद्यत हुए। तब पार्वती उनके पैरों पर गिरीं और अपने पति को मनाया।

तब वहाँ से चल कर भृगु वैकुण्ठ लोक में पहुँचे। उस समय भगवान् लक्ष्मी की गोद में सिर रखे सो रहे थे। भृगु ने पहुँचते ही लक्ष्मीपति की छाती में एक लात मारी। भगवान् तुरन्त पयङ्क छोड़ लक्ष्मी सहित नीचे उतर पड़े। फिर महर्षि को सिर झुका और प्रणाम कर कहने लगे:—

नारायण—ब्रह्मन आपको यहाँ तक आने में कोई कष्ट तो नहीं हुआ। इस आसन पर बैठ कुछ देर तक विश्राम तो कीजिये। हे प्रभो! हम आप के आगमन को जान नहीं पाये। इसीसे यह अपराध बन पड़ा। इसे आप क्षमा कीजिये।

भगवन्! आपके ये चरण बड़े कोमल हैं। मेरे कठोर वक्षःस्थल में टकराने से आपके कहीं चोट तो नहीं लग गयी?

यह कह हरि ने भृगु के पैरों को सहलाया और फिर कहने लगे:—

नारायण—हे भगवन्! सम्पूर्ण तीर्थों को पवित्र करने वाले अपने चरणोदक से मुझे

और मुझमें स्थित लोकपालों सहित समस्त लोकों को पवित्र कीजिये। भगवन्! शोभा का एक मात्र आश्रय आपके पैर का चिन्ह मुझे प्राप्त हुआ इससे मेरे सब पाप दूर हो गये। अतः इसे तो मैं आभूषण की तरह सदा हृदय पर रखूँगा। अब लक्ष्मी निश्चल होकर मेरे हृदय में रहेगी।"

ब्रह्मण्यदेव के ऐसे वचन सुन भृगु अत्यन्त सुखी और सन्तुष्ट हुए। उनके मुख से वचन तक न निकला। भक्ति और प्रेम से भृगु जी का हृदय भर आया एवं नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे।

वैकुण्ठ से लौट कर अपने यज्ञस्थल में पहुँचे और ऋषियों के सामने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुन सब मुनि विस्मित हुए और उनका सन्देह मिट गया। सब महर्षि विष्णु भगवान् को सर्वोत्तम और सर्वोपरि मान कर कहने लगेः—

ऋषिगण—जो साक्षात् धर्मस्वरूप हैं, जो शान्त, समदर्शी अकिञ्चन परोपकारी ऋषियों की एकमात्र गति हैं, सत्व जिनकी प्रियमूर्ति है, ब्राह्मण जिनके हैं, निपुण बुद्धिवाले निष्काम शान्त स्वभाव महात्मा जिनका भजन किया करते हैं—वे ही भगवान् नारायण सर्वोत्तम देव हैं।

श्रीकृष्ण और ब्राह्मण।

द्वारकापुरी में एक ब्राह्मण रहा करता था। उसकी स्त्री के गर्भ से एक बालक उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होते ही मर गया। तब वह ब्राह्मण उस बालक के मृत शरीर को ले राजद्वार पर गया और वहाँ उसे रख अत्यन्त कातर स्वर से रोता हुआ कहने लगाः—

ब्राह्मण—ब्राह्मण द्रोही, हतबुद्धि लोभी विषयासक्त, क्षत्रियाधम राजा के कर्मदोष ही से मेरा बालक मरा है। जब राजा हिंसापरायण और अजितेन्द्रिय होता है तभी प्रजा को दारिद्र्य तथा अनेक प्रकार के कष्ट पीड़ा पहुँचाते हैं।

यह कह और मृतपुत्र को राजद्वार पर रखा छोड़ ब्राह्मण अपने घर चला गया।

धीरे धीरे काल पाकर उसके चार पुत्र हुए और पहले की तरह चारों मर गये। उनको भी वह ब्राह्मण राजद्वार पर रख आया। इस प्रकार जब वह ब्राह्मण मरे हुए नवम बालक को लेकर राजद्वार पर पहुँचा और वे ही पूर्वोक्त वाक्य कह कर विलाप करने लगा, तब उसके विलाप को श्रीकृष्ण के पास बैठे हुए अर्जुन ने सुना। वे उठ कर ब्राह्मण के निकट गये और उससे बोलेः—

अर्जुन—हे विप्रदेव! आप वृथा क्यों विलाप करते हैं? आपके इस पुर में वीर पराक्रमी की तो बात दूर रहे, केवल धनुषधारी भी तो कोई नहीं दीख पड़ता जो आपके बालकों की मृत्यु से रक्षा करे। जिनके जीते ब्राह्मण लोग धन, पत्नी, पुत्र आदि के वियोग से शोकाकुल होते हैं, वे क्षत्रिय क्षत्रिय नहीं हैं—उन्हें तो पेटार्थी और विषयभोग करने के लिये क्षत्रिय वेषधारी नट समझना चाहिये।

भगवन्! पुत्र शोक से आप स्त्री पुरुष दोनों अत्यन्त दीन और व्याकुल हो रहे हैं। आप विश्वास रखिये—इस बार मैं आपके पुत्र की रक्षा करूँगा। यदि मुझसे अपनी इस प्रतिज्ञा का पालन न हो सका, तो उसका प्रायश्चित् करने के लिये मैं अग्नि में भस्म हो जाऊँगा।"

ब्राह्मण—भगवान् सङ्कर्षण, भगवान् वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध जैसे प्रसिद्ध धनुषधारी जिसकी रक्षा नहीं कर सकते—उसे तुम कैसे बचा सकते हो? जो काम जगदीश्वर के लिये भी दुष्कर है उसे तुम मूर्खता वश करना चाहते हो। अतः हमें तो तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं होता। अर्जुन ने अभिमान पूर्वक

कहा—हे ब्रह्मन्! मैं सङ्कर्षण, कृष्ण, प्रद्युम्न या अनिरुद्ध नहीं हूँ मैं वह अर्जुन हूँ जिसका गाण्डीव धनुष है। जो युद्ध में शिव को भी प्रसन्न कर चुका है। उसका आप यों अनादर न कीजिये। ब्रह्मन्! युद्ध में मैं मृत्यु को भी जीत कर तुम्हारे बालक को ले आऊँगा।

यह सुन वह ब्राह्मण प्रसन्न होता हुआ अपने घर को लौट गया। जब विप्रपत्नी का बालक प्रसव करने का समय आया, तब वह ब्राह्मण हड़बड़ाता अर्जुन के पास गया और कहने लगा—"हे पार्थ! अपनी प्रतिज्ञानुसार मृत्यु से मेरे बालक की रक्षा करो।"

यह सुन अर्जुन भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार ब्राह्मण के घर गये। वहाँ अर्जुन ने हाथ पैर धोकर पवित्र जल से आचमन किया। फिर शिव का स्मरण कर गाण्डीव धनुष पर चिल्ला चढ़ा सब अस्त्रों को स्मरण किया। तदनन्तर बाणों के जाल से सूतिकागृह को छा दिया। वह सूतिका गृह पिंजड़े जैसा जान पड़ने लगा।

यथा समय विप्रपत्नी के बालक उत्पन्न हुआ और बारम्बार रोता हुआ आकाश मार्ग में जाकर अदृश्य हो गया। इसके पहले बालक का मृत शरीर तो रह जाता था; पर अब की तो वह सशरीर ही अदृश्य हो गया। तब वह ब्राह्मण श्रीकृष्ण के पास जाकर अर्जुन की निन्दा करके कहने लगा:—

ब्राह्मण—मैं अपनी मूर्खता पर कहाँ तक खीझूं। मैंने व्यर्थ ही एक नपुंसक की बातों पर विश्वास कर लिया। मैंने तो पहले ही कहा था कि जिसकी रक्षा कृष्ण बलदेव आदि नहीं कर सकते—उसकी दूसरा क्योंकर कर सकता है। अपने मुख से अपनी झूठी प्रशंसा करने वाले अर्जुन को और उनके धनुष को धिक्कार है।

यह सुन अर्जुन तुरन्त योगबल से यमराज की संयमनी पुरी में पहुँचे। वहाँ भी ब्राह्मण के बालक को न पाया, तब वे क्रमशः इन्द्र, अग्नि आदि सब देवताओं के लोकों में तथा पाताल आदि कितने ही लोकों में गये पर बालक का कहीं पता न चला। तब अपनी प्रतिज्ञा को निष्फल जाते देख अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार वे चिता बना कर उसमें भस्म होने को उद्यत हुए। उस समय श्रीकृष्ण ने उन्हें जाकर रोका और कहा:—

श्रीकृष्ण—मित्र! तुम क्यों अग्नि में भस्म होने जाते हो? अपने को असमर्थ समझ स्वयं अपना अनादर मत करो। चलो! मैं तुम्हें ब्राह्मण के सब बालकों को दिखाऊँ। इस कार्य से मनुष्य लोक में हमारी अक्षय कीर्ति स्थापित होगी।

यह कह और अपने दिव्य रथ पर अर्जुन सहित बैठ पश्चिम दिशा की ओर चल दिये। सप्त सप्त पर्वतों से युक्त सातों द्वीपों को पार कर और लोकालोक पर्वत के उस पार महा अन्धकार मय पथ पर पहुँचने से रथ के घोड़े उस अन्धकार में इधर उधर भटकने लगे। तब सहस्र सूर्य्य प्रभ चक्र को भगवान् ने आगे कर दिया। चक्र के प्रदर्शित मार्ग पर चल और अन्धकार के उस पार पहुँच कर अर्जुन ने देखा कि असंख्य सूर्यों की जैसी अपार ज्योति चारों ओर फैली हुई है। उस श्रेष्ठ, ज्योति, स्वरूप ब्रह्मतेज की ओर अर्जुन से न देखा गया। यही नहीं वरन् उन्हें अपने दोनों नेत्र बन्द कर लेने पड़े।

तदनन्तर उन्होंने देखा कि उनका रथ आकाश मार्ग छोड़, अपार जल से पूरित समुद्र में प्रवेश कर गया है। तदुपरान्त उन्होंने एक अत्युत्तम, अद्भुत भवन देखा। उस भवन में सहस्रों ऐसे स्तम्भ थे, जिनमें अति प्रकाश युक्त मणियाँ जड़ी हुई थीं। उसी भवन के भीतर भीमरूप श्वेतपर्वत के समान अद्भुत आकार वाले अनन्त शेष नाग बैठे हुए थे। उनके सहस्रों फण समुज्ज्वल मणियों के प्रकाश

से देदीप्यमान हैं। उनके कण्ठ और जिह्वा का रङ्ग नीला है। उस अनन्त नाग के पर्य्यङ्क पर सर्वव्यापक सर्वान्तर्य्यामी साक्षात् नारायण सुखपूर्वक शयन कर रहे हैं। उनके सजल मेघों जैसे श्याम शरीर पर बिजली के समान पीताम्बर शोभायमान है। उनके मुखमण्डल पर प्रसन्नता छाई हुई है और नेत्र कमल दल के सदृश विशाल तरुण और दर्शन करने योग्य हैं। उनके किरीट मुकुट में नवरत्नों मणियों के गुच्छे लटक रहे हैं जिनकी आभा चारों ओर छिटक रही है। जानुओं तक लम्बी सुन्दर आठ भुजाएँ उनकी अनुपमता बढ़ा रही हैं। वक्षःस्थल पर श्रीवत्स तथा लक्ष्मी और कण्ठ में कौस्तुभ मणि व वनमाला सुशोभित हैं। सुनन्द, नन्द आदि पार्षद और मूर्तिधारी चक्रादि आयुध तथा पुष्टि, श्री, कीर्ति, मूर्तिमती. वहाँ विराजमान हैं।

श्रीकृष्ण और अर्जुन ने देखते ही आदर पूर्वक सिर झुका कर उन अच्युत को प्रणाम किया। तब सर्वान्तर्यामी प्रभु ने श्रीकृष्ण और अर्जुन से मुसका कर तथा प्रसन्नता प्रकट करते हुए गम्भीर स्वर से कहा:—

नारायण—हे नर और नारायण! तुम्हें देखने की इच्छा से ब्राह्मण के बालकों को मैंने ही मँगवा लिया है। सनातनधर्म की रक्षा के लिये मेरे ही अंश से तुम दोनों पृथिवी तल पर अवतीर्ण हुए हो। राजवेषधारी असुरों का संहार कर तुम शीघ्र मेरे समीप लौट आओ।

तुम दोनों श्रेष्ठ और पूर्णकाम हो, तथापि मर्यादा की रक्षा के लिये तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम धर्माचरण करो, जिससे इतर जनों को धर्म्म की शिक्षा मिले।

श्रीकृष्ण और अर्जुन ने बहुत अच्छा कह कर प्रणाम किया और फिर प्रसन्नता पूर्वक वे. ब्राह्मण के बालकों को लेकर जिस मार्ग से गये थे उसीसे द्वारकापुरी को लौट आये।

वहाँ पहुँच कर अर्जुन ने अपनी प्रतिज्ञानुसार ब्राह्मण को उसके सब बालक दे दिये। उन्हें पाकर ब्राह्मण अत्यन्त विस्मित हुआ।

श्रीकृष्ण का उद्धव को उपदेश।

श्रीकृष्ण ने कहा—"हे उद्धव! सत्सङ्ग द्वारा जैसा मैं पूर्णरूप से वशीभूत होता हूँ वैसा तो, योगाभ्यास. तत्वविवेक, अहिंसादि, सदाचार, व्रत. वेदाध्ययन, यज्ञ, तपस्या, संन्यास, अग्निहोत्र, परोपकारी कार्य्यों. दान दक्षिणा. यज्ञादि, मंत्रजाप. तीर्थयात्रा आदि से नहीं होता हूँ।

भिन्न भिन्न युगों में अनेक राजसी तामसी प्रकृति के अधमाधम जीवधारी केवल सत्सङ्ग के प्रभाव से मेरे धाम को प्राप्त हुए हैं। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयासुर, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान, गज, जटायु, तुलाधार वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रज की गोपियाँ और यज्ञ करने वाले माथुर ब्राह्मणों की स्त्रियाँ तथा इसी प्रकार के अन्यान्य अनेक जन केवल सत्सङ्ग के प्रभाव से अनायास मेरे दुर्लभ पद को पहुँच चुके हैं। देखो गोपिका, यमलार्जुन. गौवें. कालीनाग और व्रज के अन्यान्य मृग. पक्षी और जड़ तृण, तरु, लता गुल्म आदि सब केवल सत्सङ्ग से प्राप्त मेरी भक्ति द्वारा अनायास मुझे पाकर कृतार्थ हुए।

इन अज्ञानी और जड़ों में से किसी ने न तो वेदाध्ययन ही किया था, न महात्मा ऋषियों की उपासना की थी. न व्रत रखे थे और न तपस्या ही की थी।

हे उद्धव! इसीसे हम कहते हैं कि योग, ज्ञान, दान, व्रत, तप. यज्ञ, व्याख्या, स्वाध्याय आदि के द्वारा यत्न करने पर भी मेरा मिलना दुर्लभ है। मैं सुलभ केवल उन्हींके लिये हूँ जो भक्ति और सत्सङ्ग का आश्रय ग्रहण करते हैं।

अतः हे उद्धव! तुम श्रुति. स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य, श्रुति के चक्कर में न पड़

कर, सब शरीरधारियों के आत्मारूप एक मात्र मुझको भक्तिपूर्वक अपना अवलम्ब बना लो। मेरी शरण में आते ही तुम सब भ्रमों से छूट जाओगे।

इतना समझाने पर भी उद्धव का सन्देह न मिटा तब उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा:—

उद्धव—हे योगेश्वर! मुझे चक्कर में डालने वाला मेरे मन का सन्देह आपके इस उपदेश को सुन कर भी अभी भलीभाँति निवृत्त नहीं हो पाया। अतः कृपा कर आप मुझे भली भाँति समझा कर मेरे संशय को दूर कर दीजिये।

इस पर श्री भगवान् ने कहा सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण ये बुद्धि के गुण हैं। आत्मा के नहीं। सत्वगुण के द्वारा अन्य दोनों गुणों को जीत कर, सत्व की वृत्तियों को शान्ति ही से परास्त करना उचित है। जब सत्वगुण बढ़ता है तब मेरी भक्ति भी उत्पन्न होती है। सात्विक वस्तुओं के सेवन से सत्व बढ़ता है और उसके बढ़ने से धर्म में प्रवृत्ति होती है। सत्वगुण से उत्पन्न धर्म के द्वारा रजोगुण और तमोगुण की प्रेरणा से उत्पन्न होने वाली वासनाएँ नष्ट होती हैं और जब ये वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब इनसे उत्पन्न होने वाले पापकर्म भी अपने आप ही विनष्ट हो जाते हैं।

गुणों की वृद्धि के दस कारण हैं। यथा:—

१ शास्त्र, २ जल, ३ परिजन, ४ देश, ५ काल, ६ कर्म, ७ जन्म, ८ ध्यान, ९ मंत्र और १० संस्कार।

इन दसों में वृद्ध अनुभवी जन जिनकी प्रशंसा करते हैं वे सात्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं वे तामस हैं और जिनकी न निन्दा करते न स्तुति ही, वे राजस हैं।

सत्व की बढ़ती के लिये सात्विक शास्त्रादि का अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करने से धर्मोन्नति होती है और गुण नाश होने तक ज्ञान की प्राप्ति होती है।

बाँसों की परस्पर रगड़ से उत्पन्न अग्नि से जिस प्रकार वन भस्म होता है वैसे ही गुणों का समूह शरीर भी अपने से उत्पन्न ज्ञान या विद्या से अज्ञान भस्म हो जाता है।

हे उद्धव! जो अविवेकी पुरुष होता है उसके मन में "मैं" की अयथा बुद्धि उत्पन्न होती है और यह सत्व प्रधान मन को घोर रजोगुण में लिप्त कर देती है।

अविवेकी के रजोयुक्त मन में संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं और इनके उत्पन्न होते ही विषयों की ओर चिन्ता उत्पन्न होती है और विषयों की चिन्ता से वासना उत्पन्न होती है।

तब रजोगुणी अजितेन्द्रिय पुरुष विषय वासना से विवश होकर, जान कर भी दुःखदायक कर्मों को करता है।

जब तमोगुण, रजोगुण में बुद्धि बहक जाती है, तब जो विवेकी होते हैं वे सावधानी से दोष दृष्टि के द्वारा, बारम्बार मन को रोक कर उसे विषयों में फँसने नहीं देते।

सावधान और आलस्य छोड़ कर यथा समय साँस और आसन को स्थिर कर धीरे धीरे मन मुझमें लगा कर योग के साधन में लगना उचित है।

मन को सब विषयों से हटा कर उसे मुझ में लगाना ही सनकादिकों ने योग बतलाया है।

हे उद्धव! ब्रह्मा के मानसिक पुत्र सनकादिकों ने एक बार योग का परम सूक्ष्म परम तत्व पूछा था।

पर ब्रह्माजी की बुद्धि कर्मों में विक्षिप्त सी हो रही थी अतः वे बहुत सोचने पर भी अपने पुत्रों के प्रश्न का उत्तर न दे सके। तब इस

अभिप्राय से ब्रह्मा ने मुझे स्मरण किया। तब मैं हंसरूप से उनके सम्मुख[1] प्रकट हुआ।

मुझे देखते ही सनकादिक सहित ब्रह्मा उठ खड़े हुए और मुझे उच्च रूप से प्रणाम किया तदनन्तर ब्रह्मा को आगे कर मुझसे प्रश्न किया "तुम कौन हो?"

तत्वजिज्ञासु मुनियों के इस प्रश्न के उत्तर में मैंने उनसे कहा:—

हे विप्रवर्य। यदि तुम्हारा यह प्रश्न आत्मा के सम्बन्ध में है तब तो परमात्मा और सत्यदार्थ एक ही हैं। अतः तुम्हारा प्रश्न व्यर्थ है, अतः उस आत्मा में हम कौनसी जाति या वर्ण स्थापित करें। यदि तुम्हारा प्रश्न इस पञ्चभूत से बने शरीर के विषय में है तो तुम्हारा प्रश्न केवल वाणी का विलासमात्र इसलिये है कि पाँचो तत्व तो अभिन्न हैं।

तत्वविचार द्वारा तुमको जानना चाहिये कि मन, वाक्य, दृष्टि, तथा अन्य इन्द्रियों के विषय सब मैं ही तो हूँ।

हाँ यह बात ठीक है कि चित्त विषयों से और विषय चित्त से संलग्न हैं। सो भी सारे विषय और चित्त तो मेरे अंशरूप जीव की उपाधि या आवरण हैं।

बेर बेर विषयों के सेवन से चित्त विषय मय हो जाता है और वासनारूपी विषयों की उत्पत्ति का स्थान चित्त ही है।

मेरे स्वरूप्य होकर इन दोनों को छोड़ देना ही उचित है।

गुणों से उत्पन्न बुद्धि की तीन वृत्तियाँ हैं "जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति"।

व्यक्ति के द्वारा जब तक उसकी भेदवासना दूर नहीं होती तब तक यह अज्ञानी जीव स्वप्न में जाग्रत की भाँति जागने पर भी निद्रित ही रहता है।

हे उद्धव! मुझमें आत्मा अर्पित करने वाले लोगों को सब विषयों की अपेक्षा छोड़कर, आत्मारूपी जो नित्य सुख उससे मिलता है वह सुख विषयासक्त वालों को कहाँ मिल सकता है?

अकिञ्चन, जितेन्द्रिय, शान्त, समदर्शी और मेरी प्राप्ति ही से सन्तोष करने वालों के लिये दशों दिशाएँ सुख से भरी पूरी हैं।

जिसने आत्मा को मुझमें लगा दिया है वह मुझे छोड़ कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती का पद, पाताल आदि लिकों का आधिपत्य, योग की सिद्धियाँ अथवा मोक्ष कुछ भी नहीं चाहता।

हे उद्धव! ब्रह्मा, सङ्कर्षण, लक्ष्मी और अपनी मूर्ति भी मुझे उतनी प्रिय नहीं है जितने प्रिय तुम जैसे अनन्यभक्त मुझे प्रिय हो।

मेरे अकिञ्चन, शान्त, निराभिमान, निष्कामभक्त जिस सुख को भोगते हैं उसका अनुभव भी दूसरे नहीं कर सकते। क्योंकि उस परमानन्द के अधिकारी वे ही हैं जो कुछ भी नहीं चाहते।

समताशालिनी भक्ति के प्रभाव से मेरे अजितेन्द्रिय भक्त चित्त के चलायमान होने पर भी विषयासक्त नहीं होते।

जैसे अत्यन्त प्रज्वलित अग्नि लकड़ी के ढेरों को भस्म कर देता है, वैसेही मेरी भक्ति सब प्रकार के पापों को जला कर भस्म कर देती है।

मैं दृढ़भक्ति को छोड़. विज्ञान, वेदाध्ययन तप और दान आदि साधनों में से किसीसे भी नहीं मिल सकता।

मेरी भक्ति चाण्डालों और अन्त्यजों तक के जातीय दोषों को भी साफ कर देती है।

---

[1] जहाँ पर नारायण हंसरूप धारण कर ब्रह्माजी के सम्मुख उपस्थित हुए थे वह तीर्थ प्रयाग के झूँसी नाम स्थान में अब तक "हंसकूप" के नाम से प्रसिद्ध है।

बिना रोमाञ्च हुए, बिना प्रेम से गद्गद हुए, बिना आनन्द के आँसू बहे भक्ति का ज्ञान कैसे हो सकता है? बिना भक्ति के चित्त ही क्योंकर शुद्ध हो सकता है।

मेरी भक्ति से जिसकी वाणी और हृदय गद्गद हो जाता है, जो बारम्बार मुझे पुकारता है। और जो लाज छोड़ कर नाचता है वही मेरा भक्त तीनों लोकों को पवित्र करने वाला है।

जैसे अग्नि के ताप से सुवर्ण का मल नाश होता है, वैसे ही मेरी भक्ति से आत्मा की कर्मवासना दूर हो जाती है और उसका मेरा जैसा रूप हो जाता है।

जो सदा विषयों की चिन्ता किया करता है, उसका चित्त विषय वासनाओं ही में फंसा रहता है और जो मेरी चिन्ता किया करता है, उसका चित्त सम्पूर्णतया मुझ ही में लीन हो जाता है।

अतएव मिथ्या विषय चिन्ता को छोड़, मन मुझ ही में लगाना उचित है।

विवेकी पुरुष को उचित है कि वह स्त्री सङ्ग निरत पुरुषों का साथ छोड़ कर भयशून्य किसी निर्जन स्थान में बैठ कर सावधानी से मेरा ही ध्यान करे।

स्त्री सङ्ग और स्त्री सङ्ग करने वालों के साथ रहने से जैसा क्लेश और बन्धन होता है, वैसा अन्य की सङ्गति से नहीं होता।

हे उद्धव! समासन पर सीधा सुख पूर्वक बैठे, दोनों हाथों को उत्तानभाव से तर ऊपर रखे, फिर दृष्टि को नासिका के अग्रभाग की ओर लगावे। तदनन्तर जितेन्द्रिय होकर रेचक पूरक कुम्भक प्राणायाम का धीरे धीरे अभ्यास करे।

हृदय में अवस्थित ओंकार को प्राण वायु के द्वारा ऊपर ले जाकर उसे स्थिर करना चाहिये। ऐसा करने से योगी एक ही महीने में प्राणवायु को जीत सकता है।

मेरा ध्यान यों करना चाहिये, भगवान की चार विशाल और मनोहर भुजाएँ हैं ग्रीवा अत्यन्त रमणीय और सुन्दर है। कपोल परम सौन्दर्यमय हैं, मुख मण्डल मनोहर मन्द मुसकान से सुशोभित है दोनों कानों में मकराकृत कुण्डल विराजमान हैं। श्याम शरीर पर पीताम्बर की सुन्दर छटा छिटक रही है। वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह हैं। हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं। गले में वनमाला और कौस्तुभ पड़ी है। चरणों में नूपुर, शिर पर कान्तिशाली किरीट मुकुट और अन्य अङ्गों में अनेक अलङ्कार सुशोभित हैं।

मेरी ऐसी सर्वाङ्ग सुन्दर, मनोहर मूर्ति के मुख और नयन प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं। सब अङ्गों का ध्यान करना उचित है।

विवेकी पुरुष को उचित है कि वह इन्द्रियों को बुद्धिरूपी सारथी द्वारा विषयों से खींच कर मन को मुझमें लगावे।

हे उद्धव! जो जितेन्द्रिय है, जितप्राण है, स्थिरचित्त है, और जिसका चित्त मुझमें लग चुका है, ऐसे योगी के पास सब सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं।

हे उद्धव! मैं सब प्राणियों का आत्मा सुहृद और ईश्वर हूँ। ये सब प्राणी मैं ही हूँ और इनकी सृष्टि, स्थिति एवं ध्वंस का कारण हूँ।

गमनशील व्यक्ति और वस्तुओं में मैं गति हूँ। महान वस्तुओं में मैं महत्तत्व और सूक्ष्म वस्तुओं में मैं जीव हूँ। दुर्जयों में मैं मन हूँ। वेदों में मैं हिरण्यगर्भ हूँ। मंत्रों में मैं प्रणव हूँ। अक्षरों में मैं अकार हूँ। छन्दों में मैं गायत्री हूँ।

देवताओं में मैं इन्द्र हूँ, वसुओं में मैं अग्नि नाम वसु हूँ। आदित्यों में मैं विष्णु नाम आदित्य हूँ और मैं रुद्रों में नीललोहित नाम रुद्र हूँ।

मैं महर्षियों में भृगु, राजर्षियों में मनु, देवर्षियों में नारद और धेनुओं में कामधेनु मैं ही हूँ।

सिद्धेश्वरों में कपिल, पक्षियों में गरुड, प्रजापतियों में दक्ष और पितरों में अर्यमा मैं ही हूँ।

दैत्यों में असुरपति, प्रह्लाद, नक्षत्र और ओषधियों में सोम और यक्ष राक्षसों में कुबेर मैं ही हूँ।

गजराजों में ऐरावत, जलवासियों में वरुण प्रतापशाली और दीप्तशालियों में सूर्य्य और मनुष्यों में राजा मैं ही हूँ।

घोड़ों में उच्चैःश्रवा, धातुओं में सुवर्ण, दण्डधारियों में यम और सर्पों में वासुकी मैं ही हूँ।

नागराजों में अनन्त; शृङ्ग, दंष्ट्राधारी पशुओं में सिंह, आश्रमों में संन्यास और वर्णों में ब्राह्मण मैं ही हूँ।

तीर्थ और नदियों में गङ्गा, जलाशयों में समुद्र, आयुधों में धनुष और धनुषधारियों में शिव मैं ही हूँ।

निवास स्थानों में सुमेरु, दुर्गम स्थानों में हिमालय, वनस्पतियों में अश्वत्थ और ओषधियों में यव मैं ही हूँ।

पुरोहितों में वशिष्ठ, वेदज्ञों में बृहस्पति, सेनापतियों में कार्तिकेय और अग्रगण्य [illegible]यों में ब्रह्मा मैं ही हूँ।

यज्ञों में ब्रह्मयज्ञ, व्रतों में अहिंसाव्रत, शोधक वस्तुओं में सर्वथा शुद्धवायु, अग्नि सूर्य्य, जल, वाक्य और आत्मा मैं ही हूँ।

योगों में समाधि योग, जप साधनों में नीति, कौशलों में आन्वीक्षिकी विद्या, ख्यातवादियों में दुरन्त विकल्प मैं ही हूँ।

स्त्रियों में मनुपत्नी शतरूपा, पुरुषों में स्वायम्भुव मनु, मुनियों में नारायण, ब्रह्मचारियों में सनत्कुमार मैं ही हूँ।

धर्मों में प्राणीमात्र को अभयदान, अभय स्थानों में आत्मनिष्ठा गुह्य वस्तुओं में प्रियभाषण और मौन मैं ही हूँ।

मिथुनों में अज, कर्त्तव्य में सावधान रहने वालों में सम्वत्सर, ऋतुओं में वसन्त, मासों में मार्गशीर्ष नक्षत्रों में अभिजित्, युगों में सतयुग, विवेकियों में देवल असित मुनि, वेद विभागकर्त्ता व्यासों में द्वैपायनव्यास और कवियों में सहृदय शुक्राचार्य मैं हूँ।

भगवानों में वासुदेव, वैष्णवों में उद्धव, किम्पुरुषों में हनुमान और विद्याधरों में सुदर्शन नाम विद्याधर मैं ही हूँ।

रत्नों में पद्मराग, सुन्दरों में पद्मकोष, दर्भों में कुश और हविमात्र में गोघृत मैं ही हूँ।

व्यवसायियों में लक्ष्मी, धूर्तों में छल विद्या, क्षमाशालियों में क्षमा और सत्वशालियों में सत्व मैं ही हूँ।

बलवानों में देहबल, इन्द्रियबल; वैष्णव भक्तों में भक्तिकृत निष्काम कर्म मैं हूँ।

सात्वत धर्मभक्तों की पूज्य नव मूर्तियों में श्रेष्ठ आदि मूर्ति मैं ही हूँ।

गन्धर्वों में विश्वास, अप्सराओं में पूर्वचित्ति, पर्वतों में स्थिरता, पृथिवी में गन्धगुण, जल में मधुर रस मैं ही हूँ।

सूर्य्य चन्द्र और ताराओं में प्रभा मैं हूँ। आकाश में परमनाद गुण मैं हूँ।

ब्राह्मण भक्तों में राजा बलि और वीरों में कुन्तीपुत्र अर्जुन मैं ही हूँ।

प्राणियों में उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय मैं हूँ।

इन्द्रियों के कर्म तथा गति, वाक्य, उत्सर्ग, ग्रहण, आनन्द, स्पर्श, दर्शन, आस्वादन, सुनना, और सूँघना मैं ही हूँ।

पृथिवी, वायु, आकाश, जल और ज्योति मैं ही हूँ।

अहङ्कार, महत्तत्व, जीव, प्रकृति, सत्व, रज, तम एवं ब्रह्म मैं ही हूँ।

जीव, ईश्वर, गुणागुणी, सर्वव्यापक, सर्वरूप सब मैं ही हूँ।

मुझ से भिन्न कुछ भी नहीं है। कालक्रम से मैं पृथिवी के परिमाणुओं को तो गिन सकता हूँ पर अपनी अनन्त विभूतियों की गणना नहीं कर सकता।

जिस किसी में तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, सौभाग्य, सुन्दरता, बल, क्षमा, विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हैं वहीं वहीं मेरे अंश विद्यमान हैं।

हे उद्धव! विभूतियाँ परमार्थ वस्तु नहीं हैं अतः इन ही में लीन न होना चाहिये। ये केवल मेरा बोध कराने ही के लिए हैं। ये केवल मनोविकार और वाक्य कल्पना मात्र हैं।

वाणी, मन, प्राणवायु तथा इन्द्रियों को जीत कर, आत्मा को परमात्मा में लीन करो ऐसा करने से फिर तुम्हें संसार मार्ग में घूमना न पड़ेगा।

जो यती योगी अपनी बुद्धि के बल से अपनी वाणी और अपने मन को भलीभाँति अपने वश में नहीं कर लेता उसका व्रत, तप और ज्ञान कच्चे घड़े के जल की तरह नष्ट हो जाता है।

अतः जो मुनि मुझमें परायण है उसे उचित है कि मेरी भक्ति में पड़ कर बुद्धि के द्वारा वाणी, मन और प्राणों को भलीभाँति वश में करे। ऐसा करने से वह मोक्षपद का अधिकारी होकर कृतार्थ होता है।

वर्णाश्रम धर्म।

पहले सत्ययुग में मनुष्यों में ब्राह्मणादि चार वर्ण नहीं थे। हंस नामका केवल एक ही वर्ण था। उस समय जन्म ही से मेरी उपासना में संलग्न रहने के कारण लोग कृतार्थ हुआ करते थे। इसीसे सत्ययुग को कृतयुग भी कहा करते हैं। उस युग में ओंकार ही एक मात्र वेद था। सत्य, तप आदि चार पाद वाला वृषरूप धारी (श्रीकृष्ण कहते हैं) मैं ही धर्म था और तत्कालीन तपपरायण, पाप रहित मनुष्य इन्द्रियों को मन सहित अपने वश में कर और एकाग्र हो मुझ विशुद्ध रूप हंस का ध्यान किया करते थे।

श्रीकृष्ण ने कहा—त्रेतायुग के आरम्भ में मेरे हृदय से वेदत्रयी उत्पन्न हुई। उससे तीन रूपवाला (होता, अध्वर्यु और उद्गाता) यज्ञ पुरुष मैं प्रकट हुआ।

विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, ऊरुओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

अपने अपने धर्मों का पृथक पृथक पालन ही इन चारों वर्णों के लक्षणों का बोधक है।

मुझ विराट पुरुष की जङ्घाओं से गृहस्थाश्रम हृदय से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थल से वाणप्रस्थ और मस्तक से संन्यास ये चारों आश्रम उत्पन्न हुए।

शम, दम, तप शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, मेरी भक्ति, दया, सत्यव्यवहार ये ब्राह्मण वर्ण के स्वाभाविक लक्षण हैं।

तेज, बल, धैर्य, शूरता, सहनशीलता, उदारता, उद्यम, दृढ़ता ब्रह्मण्यता और ऐश्वर्य ये क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव हैं।

आस्तिकता, दान में निष्ठा, दम्भ न करना, तन, मन, धन से ब्राह्मणों की सेवा, धन सञ्चय में सर्वदा अतृप्ति ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं।

निष्कपट भाव से गौ, देवता और द्विजों की सेवा करना और उससे जो कुछ मिले उसीसे सन्तुष्ट रहना ये शूद्रवर्ण के स्वाभाविक लक्षण हैं।

अशौच, मिथ्या बोलना चोरी करना, नास्तिकता, अकारण कलह करना, काम,

क्रोध, लोभ ये चाण्डाल, श्वपच आदि अन्त्यजों के स्वाभाविक कर्म हैं।

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, काम और लोभ के वशवर्ती न होना, चोरी न करना, प्राणियों की भलाई में लगे रहना, ये धर्म सब वर्णों के हैं।

आश्रम धर्म निरूपण।

द्विजों के बालकों को उचित है कि गर्भाधान, जात कर्मादि संस्कारों के पीछे क्रमशः यज्ञोपवीत संस्कार होने पर, जितेन्द्रिय और नम्र होकर, गुरुकुल में वास करें। यथा समय गुरु के बुलाने पर, उनके पास जाकर वेदाध्ययन करें और मन पूर्वक वेद के अर्थ को समझें।

ऐसे विद्यार्थी ब्रह्मचारी को चाहिये मौञ्जी, मेखला, कृष्णाजिन, दण्ड, रुद्राक्ष की जयमाला, ब्रह्मसूत्र और कमण्डलु को धारण करे।

स्नान भोजन, हवन, जप और मलमूत्र छोड़ते समय मौन धारण करें।

नखों को न काटे और कच्छ व उपस्थ के ऊपर के रोम न बनावे।

ब्रह्मचारियों को कभी भूल से भी वीर्य को न गिरने देना चाहिये।

यदि स्वप्नदोष हो जाय या वीर्य अपने आप गिर पड़े तो जल में स्नान कर प्राणायाम कर गायत्री का जप करे।

पवित्र और एकाग्र होकर प्रातःकाल और सायंकाल दोनों सन्ध्याओं में मौनावलम्बन पूर्वक गायत्री जप करता हुआ, अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बड़े-बूढ़े और देवताओं की उपासना एवं सन्ध्यावन्दन करे।

आचार्य को साक्षात् मेरा ही रूप समझे।

गुरु को साधारण मनुष्य जान उनकी कभी उपेक्षा न करे और उनके किसी वाक्य या व्यवहार को बुरा न माने। क्योंकि गुरु तो सर्वदेव मय है।

सायंकाल और प्रातःकाल जो कुछ भिक्षा मिले एवं और भी जो कुछ मिले सो लाकर गुरु के आगे धर दे और गुरु के भोजन कर चुकने पर गुरु की आज्ञानुसार, समताभाव से उसमें से स्वयं भोजन करे।

नम्रता पूर्वक हाथ जोड़े हुए निकट ही रह कर, सर्वदा गुरु की सेवा करे।

गुरु चले तो उनके पीछे पीछे स्वयं भी चले गुरु सोवें तब उनके पास ही आप भी सोवें, और गुरु जब लेटें तब स्वयं उनके पैर दबावे।

जब तक विद्याध्ययन समाप्त न हो तब तक अस्खलित ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करता हुआ, भोगों को त्याग गुरु गृह में रहे।

यदि महर्लोक, जनलोक, तपलोक अथवा जहाँ समस्त वेद, मूर्ति धारण कर रहते हैं उस ब्रह्मलोक में जाने को इच्छा हो तो नैष्ठिकब्रह्मचर्य व्रत धारण कर, शरीर को गुरु के अर्पण कर दें।

उस ब्रह्म तेज सम्पन्न ब्रह्मचारी को उचित है कि अग्नि, गुरु अपने आत्मा और सब प्राणियों में परमेश्वर (मेरी) की उपासना करे और भेदभाव को त्याग दे।

गृहस्थाश्रम में न जाने वाले ब्रह्मचारी को उचित है कि स्त्रियों को न देखे। न उनको छुवे, न उनसे बात चीत करे और न उनसे उपहास करे, और न एकान्त में इकट्ठे हुए स्त्री पुरुषों को देखे।

शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता तीर्थ सेवन, जप, अभक्ष्य पदार्थों का त्याग, और अस्पृश्य लोगों के साथ वार्तालाप न तो करना, न छूना, न उनसे मिलना सब प्राणियों में मेरी सत्ता का अनुभव करना तथा मन, वाणी और काया को वश में रखना—ये धर्म सब आश्रमों के अनुष्ठेय हैं। ब्रह्मचारी को विशेष रूप से इनका पालन करना चाहिये।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला द्विज, प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी होता है।

ऐसे निष्काम ब्रह्मचारी की वासनाएँ तीव्र तप से नष्ट हो जाती हैं और अन्त में मेरा भक्त होकर वह मुक्ति पाता है।

गृहस्थाश्रम धर्म निरूपण।

यदि आवश्यक विद्या पढ़ कर, ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में जाना चाहे तो वेद के तात्पर्य को यथार्थ रूप से जान लेने पर, गुरु को दक्षिणा दे और गुरू की आज्ञानुसार स्नान करे या समावर्त्तन संस्कार करके ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त करे।

यदि सकाम हो तो ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ बने और यदि अन्तःकरण निर्मल होने के कारण निष्काम हो तो वाणप्रस्थ होकर वन में रहै।

यदि शुद्ध चित्त विरक्त ब्राह्मण चाहे तो ब्रह्मचर्य छोड़ कर संन्यास ग्रहण कर सकता है।

किन्तु मेरे भक्तों के लिये आश्रमी अवश्य होने का कोइ नियम नहीं है। पर जो मेरा अनन्य भक्त नहीं है उसे अवश्य किसी न किसी आश्रम का सहारा ले लेना चाहिये।

किसी आश्रम में न रहने से अथवा पहले वाणप्रस्थ पीछे अथवा पहले गृहस्थ फिर ब्रह्मचर्य होने से अर्थात् इस प्रकार का विपरीत आचरण करने से द्विज भ्रष्ट हो जाता है और कहीं का भी नहीं रहता।

जो गृहस्थ होना चाहे उसे उचित है कि ब्रह्मचर्य समाप्त कर अपने समान रूप गुण और विद्या वाली, निष्कलङ्क कुल की उत्तम लक्षणों से युक्त, अवस्था में छोटी और अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करे।

तदनन्तर कामवश अन्यवर्ण की कन्या से भी वह विवाह कर सकता है।

यज्ञ करना, दान देना, और पढ़ना—ये तीनों कर्म द्विजमात्र के साधारण धर्म हैं

दान लेना, पढ़ाना और यज्ञ कराना—ये तीन धर्म केवल ब्राह्मण ही के लिये विहित हैं।

परन्तु दान लेने से तप तेज और यश क्षीण होता है और पढ़ाने व यज्ञ कराने में दीनता दिखाना पड़ता है—यह बड़ा भारी दोष है।

अतः ब्राह्मणों को उचित है कि जहाँ तक बन पड़े दान न ले। केवल पढ़ा कर और यज्ञ करा कर जीविका चलावे।

यदि कर सके तो ब्राह्मण को उचित है कि वह इन दोनों वृत्तियों को भी छोड़ दे और शिलोञ्छ वृत्ति से जीविका निर्वाह करे।

क्योंकि यह अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मण शरीर साँसारिक क्षुद्र सुख भोगने के लिये नहीं है। इससे तो इस लोकमें कष्ट उठा कर तप करना चाहिये। ऐसा करने वालों को परलोक में अनन्त सुख मिलता है।

जो ब्राह्मण का तन पाकर भी ऐसा नहीं करते—वे अपने ब्राह्मण जन्म को वृथा गँवा देते हैं।

जो ब्राह्मण शिलोञ्छवृत्ति से सन्तुष्ट रह कर और निष्काम महत् धर्म का सेवन करता हुआ सब प्रकार से मुझे आत्मसमर्पण कर देता है वह अनासक्तभाव से गृहस्थाश्रम ही में क्यों न रहै मेरे भजन से वह मोक्ष पाता है।

जो लोग मेरे भक्त ब्राह्मण धन भोजन वस्त्र आदि की सहायता देकर उनके दारिद्र आदि कष्टों को दूर करता है उससे मैं उसी प्रकार आने वाली आपत्तियों से उबार लेता हूँ जैसे किसी डूबते हुए जन को नाव उबार लेती है।

विवेकी राजा को उचित है कि जैसे गजराज अन्य गजों को सङ्कट से छुड़ाता है और अपना उद्धार निज शक्ति बल से स्वयं ही करता है—वैसे ही वह भी अपनी आश्रित प्रजा की सब प्रकार पितावत् रक्षा करता रहै।

जो नृपति ऐसा वर्ताव करता है वह इस लोक में सब विपत्तियों से बच कर अन्त में स्वर्ग को जाता है।

हे उद्धव! यदि ब्राह्मण कभी दारिद्र्य से दुखी हो तो वह वैश्य वृत्ति से अर्थात् वाणिज्य व्यवसाय से आपत्काल को निकाल दे। पर नौकरी कभी किसी की न करे।

आपत्काल में क्षत्रिय भी ऐसा ही कर सकते हैं पर अपने से नीच की सेवा करने का आपत्काल में भी उनको निषेध है।

वैश्य भी आपत्काल में अपने वर्णधर्म को छोड़ शूद्र वृत्ति से निर्वाह करे और शूद्र भी ऐसे समय में चटाई आदि बिन कर समय काट डाले।

ये नियम केवल आपत्काल के लिये हैं।

गृहस्थों का धर्म है कि वे यथा शक्ति वेदाध्ययन, स्वधा, स्वाहा, बलिवैश्वदेव और अन्न दान करते हुए, नित्य देव ऋषि पितृ का पूजन करें।

अपने आश्रितों को पीड़ा न पहुँचा कर ऐसे गृहस्थ यज्ञादि कर्म भी करें।

पर सदा कुटुम्ब ही की चिन्ता में आसक्त रह कर ईश्वर भजन न भूले। किन्तु ईश्वर पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखे।

जो विद्वान हैं उन्हें उचित है कि वे प्रत्यक्ष संसार के प्रपञ्च की भाँति अप्रत्यक्ष स्वर्ग आदि को भी अनित्य समझे।

जैसे राहगीर पौसाल पर घड़ी भर के लिये एकत्रित होकर, और पानी पीकर फिर अपनी राह पकड़ते हैं—वैसे ही इस संसार में भी पुत्र, स्त्री, स्वजन और बन्धु बान्धवों का मेल मिलाप समझना उचित है।

मेरी भक्ति में तत्पर रह कर चाहे गृहस्थ ही बना रहे चाहे वाणप्रस्थ बन कर बन को चलदे अथवा पुत्रवान होने पर संन्यास ग्रहण करले।

किन्तु जो परिवार में आसक्त है जो पुत्र अथवा धन के लिये व्याकुल है जो स्त्रीसङ्ग में लिप्त है—वह मूढ़ मेरे तेरे के भ्रमजाल में पड़ कर अनेक जन्मों तक बारम्बार जन्मता और मरता है।

रात दिन गृहस्थी की चिन्ता में लिप्त रहने वाला मन्द मति मूढ़ गृहस्थ को कभी तृप्ति नहीं होती। वह घर ही की चिन्ता करते करते एक दिन मर जाता है और पीछे से इसकी तामसी नीच योनि में उत्पत्ति होती है।

संन्यास धर्म निरूपण।

श्रीकृष्णचन्द्र ने उद्धव जी से कहा—जो गृहस्थ वाणप्रस्थ होना चाहे वह अपनी स्त्री को समर्थ पुत्रों को सौंप अथवा अपने साथ ही रखकर शान्त चित्त से आयु के तीसरे भाग को वनवास में बितावे।

वहाँ शुद्ध कन्द मूल और बनैले फलों को खाकर, और वस्त्र के बदले वल्कल वस्त्र धारण कर, रहे। अथवा वह कपड़े का काम तृण, पत्तों अथवा मृगचर्मों से भी ले सकता है।

संन्यासी सिर के बाल दाढ़ी, मूछें शरीर के रोम और नख बढ़ाता रहे। मैल न छुड़ावे, दन्तधावन न करे।

तीनों काल जल में पैठ कर सिर से स्नान करे और पृथिवी पर सोवे।

ग्रीष्मऋतु में पंचाग्नि तपे, वर्षा ऋतु में खुले मैदान में रहे और जाड़ों भर गले पर्यन्त जल में बैठा रहे। संन्यासी को इस प्रकार घोर तप करना चाहिये।

अग्नि में पके हुए अथवा समय पाकर अपने आप पके हुए फलादि संन्यासी खावे।

ओखली में या पत्थल से कूट कर, कन्द मूल फलादि खाने चाहिये।

संन्यासी अपने भोजन के लिये स्वयं जाकर सामग्री ढूँढ लावे।

देश काल और शक्ति का ज्ञान रखने वाले मुनि को उचित है कि कालान्तर में लाये हुए पदार्थों को कालान्तर में दूसरे से न ले अर्थात् संन्यासी नित्य का लाया आहार खावे। रखा हुआ या बासी न खाय।

समयानुसार ग्राम फल मूलादि में से निकाल कर पितृ तथा देवताओं के लिये चरु और पुरोडाश निकाल दिया करे।

किन्तु वाणप्रस्थ पशु को मार कर मेरा भजन न करे।

तब हाँ वह वेदवादी ऋषियों की आज्ञानुसार वह चातुर्मास्य, दर्श पौर्णमास, और अग्निहोत्र अवश्य करे।

इस प्रकार घोर तप करने के कारण और माँस सूख जाने से जिसके शरीर में केवल नसें ही नसें रह जाती हैं—वह मुनि यदि शुद्ध अन्तः करण से मुझे भजता है तो वह यहीं मुक्त हो जाता है। और यदि उसकी विषय वासनाएँ इतने पर भी नष्ट न हों तो भी वह मुझ तपोमय की आराधना के बल से महर्लोक आदि ऋषियों के लोकों को जाता है और फिर समयानुसार वहाँ से वह मुझमें मिलता है।

इतने कष्ट से किये गये तप को जो कोई तुच्छ समझे—उससे बढ़ कर मूर्ख जगत् में और कौन हो सकता है।

जिसके मन में वैराग्य उत्पन्न न हो, और जब शरीर बुढ़ापे से जर्जरित हो जाय, अर्थात् सिर और शरीर काँपने लगे, और नियमानुसार काम करने की शक्ति शरीर में न रहे, तब अग्नियों को अपने में स्थापित कर और मुझमें मन लगा कर, उनमें प्रवेश करे।

जो धर्म के फल स्वरूप इन असत् लोकों को परिणाम में दुःखप्रद देख कर, भली भाँति विरक्त हो उठे—उस वाणप्रस्थ को उचित है कि आहवनीय अग्नियों को अपने में स्थापित कर, संन्यासाश्रम ग्रहण करे।

"हमें नाँघ कर यह ब्रह्म को प्राप्त होगा—" यह सोच देवता लोग संन्यास लेते समय अनेक प्रकार के विघ्न डालते हैं। अतः उन विघ्नों का उचित प्रतीकार करने में सतर्क रह कर अवश्य संन्यास लेना उचित है।

संन्यासी केवल कोपीन धारण करे। यदि ऊपर से कुछ ओढ़ने की आवश्यकता समझे तो उतना ही वस्त्र ओढ़े जिससे नीचे का शरीर ढका रहे।

संन्यासी को आपत्काल के अतिरिक्त—केवल दण्ड कमण्डलु मात्र अपने पास रखने चाहिये।

क्योंकि संन्यास ग्रहण के समय तो वह सर्वस्व त्याग कर चुकता है।

पैर रखने के समय पृथिवी की ओर अच्छी तरह देख ले जिससे उसके पैरों से कुचल कर कोई जीव जन्तु न मरे। जल भी संन्यासी को छान ही कर पीना उचित है।

संन्यासी सत्य वाक्य बोले और भली भाँति विचार कर काम करे।

मौनरूप वाणी का दण्ड अर्थात् उसका दमन और काम्य कर्म त्यागरूपी शरीर का दण्ड एवं प्राणायामरूप मानसिक दण्ड इन तीन प्रकार के दण्डों के होने से ही संन्यासी त्रिदण्डी कहलाता है।

हे उद्धव!, दिखाने के लिये केवल तीन बाँस के दण्ड को हाथ में थामे रहने से कोई संन्यासी नहीं होता।

संन्यासी को चारों वर्णों से भिक्षा माँगने का अधिकार है किन्तु वह पतितों हत्यारों और जाति से च्युत किये गये लोगों के घरों पर भिक्षा माँगने न जाय।

संन्यासी सवेरे बस्ती में जाकर अनजाने सात घरों से भिक्षा माँगे और वहाँ जो कुछ मिले उतने ही से सन्तोष कर ले।

भिक्षा कर चुकने पर गाँव के बाहिर निर्जन स्थान में किसी तालाब या नदी के तट पर जा कर, पहले उस स्थान को जल छिड़क कर पवित्र करे और फिर अपने हाथ पैर धोकर और कुल्ला कर चुप चाप सारा अन्न खा ले अन्य समय के लिये अन्न बचा कर न रखे।

भोजन करते समय यदि कोई भिक्षुक आ जाय तो उसे देकर पीछे स्वयं भोजन करे।

संन्यासी एक स्थान पर भी न रहे।

सङ्गहीन, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मलीन, धीर और समदर्शी बन कर, संन्यासी को अकेले ही पृथिवी पर विचरना चाहिये।

संन्यासी निर्जन एवं निर्भय स्थान में बैठ कर मेरी विशुद्धि भक्ति से हो रहे निर्मल हृदय में मुझे अपने आत्मा से अभिन्न देखे।

संन्यासी सर्वथा ज्ञाननिष्ठ रह कर, आत्मा के बन्धन और मोक्ष का इस प्रकार विचार कर रखे कि आत्मा का बन्धन इन्द्रियों के चञ्चल होने पर ही निर्भर है और इन्द्रियों का संयमन ही मोक्ष है।

संन्यासी को मेरी भक्ति के द्वारा मन समेत छः इन्द्रियों को जीत कर इच्छानुसार विचरना चाहिये।

संन्यासी को सब क्षुद्र कामनाओं से विरक्त होकर आत्म चिन्तन में परमानन्द का अनुभव करना चाहिये।

भिक्षा के लिये केवल नगर ग्राम, व्रज और यात्रियों के पास जाय, तदनन्तर पृथिवी मण्डल के पवित्र देश पर्वत नदी, वन और आश्रमों में घूमे फिरे।

संन्यासी को उचित है कि जहाँ तक बन पड़े वहाँ तक वाणप्रस्थों ही से भिक्षा माँगे। क्योंकि उनके शिलोञ्छवृत्ति से उपलब्ध अन्न के खाने से मन शुद्ध होता है और फिर उसका माया मोह शीघ्र ही नष्ट होकर वह जीवन्मुक्त सिद्ध हो जाता है।

संसार के जितने विषय सुख हैं—वे सब अनित्य हैं। अतः इन्हें तुच्छ समझ तथा परलोक के लिये विहित काम्य कर्म्मों से निवृत्त हो और अनन्य भाव से मेरा भजन करे।

अन्तःकरण वाणी और प्राण सहित ममता के घर इस जगत् को, अहङ्कार के घर इस शरीर को और शरीर सम्बन्धी परिवार तथा सुख को आत्मा में मायामात्र अतएव स्वप्नवत् असत्य समझ कर परित्याग करे।

फिर शुद्ध ईश्वर के ध्यान में मग्न होकर वह उक्त संसार प्रपञ्च की चिन्ता तक न करे।

मोक्ष पाने के अभिप्राय से यदि किसी के ज्ञान में निष्ठा हो तो अथवा मोक्ष के लिये भी निरपेक्ष भाव से जो मेरी भक्ति करता है—ऐसे दोनों प्रकार के साधकों को उचित है कि सचिन्ह आश्रमों को त्याग दे और वेद विहित विधि निषेध के बन्धन से छूट निरपेक्ष भाव से शारीरिक कर्म करता रहे।

विद्वान् होकर भी उन्मत्तवत् बात चीत करे और वेद के भावों को भली भाँति जान कर और मान कर भी गौ आदि पशुओं की भाँति आचार का विचार न करे।

संन्यासी कर्म काण्ड आदि वेदवाद में निरत न हो, श्रुति स्मृति के विरुद्ध काम न करे केवल तर्क ही में न लगे और व्यर्थ किसी के साथ वाद विवाद न करे और न किसी दूसरे के वाद विवाद में किसी का पक्ष ले।

धीर पुरुष, उद्विग्न न हो और न अन्य लोगों को उद्विग्न करे।

कोई कटुवचन कहे तो सुन ले—पर किसी का अपमान या अनादर न करे।

पशुवत् इस शरीर के लिये किसी से वैर भाव न करे।

संन्यासी समझे कि जीवधारी मात्र में वही एक परमात्मा विराजमान है।

जिस प्रकार चन्द्रमा एक होने पर भी जल पात्रों में उसका प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण अनेक चन्द्र देख पड़ते हैं—उसी प्रकार सब प्राणी एक उसी परमात्मा के प्रतिबिम्ब हैं।

यदि किसी समय आहार न भी मिले तो भी विषाद युक्त न हो और न आहार मिलने पर प्रसन्न ही हो—क्योंकि ये दोनों ही बातें दैवाधीन हैं।

और यदि आहार बिना शरीर अशक्त होता दीख पड़े तो आहार के लिये चेष्टा करे।

क्योंकि शरीर के स्वस्थ रहने से ही वह तत्व का विचार कर सकेगा और तत्व के विचारने ही से वह मोक्ष पाने का अधिकारी हो सकता है।

परमहँस को उचित है कि, अच्छा बुरा जैसा अन्न मिले उसे खा ले। जैसा वस्त्र मिले—उसे पहन ले और जैसी शय्या मिले उसी पर सो रहे।

ज्ञाननिष्ठ पुरुष विहित विधि के बन्धन में न रह कर मुझ ईश्वर की भाँति लीला पूर्वक शौच आचमन स्नान आदि अन्यान्य कर्म करता रहे।

जो ऐसे होते हैं उनको भेद भाव नहीं रहता और जो रहता भी है तो तत्वज्ञान से नष्ट हो जाता है।

पूर्व संस्कार वश जब तक स्थूल शरीर रहता है तब तक कभी कभी कुछ कुछ भेद भाव भासित भी होता है। परन्तु शरीर त्याग के समय वह मुझमें (श्री कृष्ण) मिल जाता है।

जो बुद्धिमान् पुरुष दुःखप्रद परिणाम वाले अनित्य विषयों से विरुद्ध हो गया है, पर भागवत धर्म्मों से अनभिज्ञ है, उसे उचित है कि वह किसी ज्ञानी पुरुष को अपना गुरु बना कर उसका आश्रय ग्रहण करे।

जब तक ब्रह्मज्ञान प्राप्त न हो जाय, तब तक उसे उचित है मेरी ही भावना रख कर आदर पूर्वक भक्ति और श्रद्धा से गुरु की सेवा करे। कभी गुरु की किसी बात का बुरा न माने।

जिसने काम क्रोध रूपी छः शत्रुओं की मण्डली को शान्त नहीं किया और प्रचण्ड इन्द्रिय रूप घोड़े जिसके बुद्धि रूपी सारथी को इधर उधर घसीटते फिरते हैं, जिसके हृदय में ज्ञान विज्ञान का लेश मात्र भी नहीं है और वह संन्यासी का भेष धर यदि पेट पालने के लिये दण्ड कमण्डलु ले कर फिरे तो वह धर्म घातक है। ऐसे का कोई मनोरथ कभी पूरा नहीं होता।

वह देवताओं को, अपने आपको और अपने में स्थित मुझको ठगता है। इसीसे वह अशुद्ध हृदय दम्भी दोनों लोकों से भ्रष्ट होता है।

शान्ति और अहिंसा संन्यासी का मुख्य धर्म्म है।

ईश्वर चिन्तन और तप वाणप्रस्थ का मुख्य धर्म है।

प्राणियों का पालन और पूजन गृहस्थ का मुख्य धर्म है।

गुरु की सेवा करना ब्रह्मचारी का परम धर्म है।

ब्रह्मचर्य, तप शौच, सन्तोष सब से प्रेम और ऋतु समय में वंश की वृद्धि के विचार से स्त्री का सङ्ग करना—गृहस्थ के लिये आवश्यक हैं।

मेरी उपासना करना प्राणी मात्र का धर्म है।

जो कोई अनन्य भाव से इस प्रकार अपने धर्म के द्वारा मुझे भजता है वह अविलम्ब ही मेरी विशुद्ध भक्ति को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है।

हे उद्धव! सुदृढ भक्ति के द्वारा वे सब लोकों के महान् ईश्वर और सब की उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय के अनादि कारण; मुझ वैकुण्ठवासी ब्रह्म में मिल जाते हैं।

इस प्रकार स्वधर्म पालन से जिसका आत्मा शुद्ध हो चुका हो और जो मेरी गति को जान गया है—वह ज्ञान विज्ञान सम्पन्न विरक्त व्यक्ति मुझको प्राप्त होता है।

वर्णाश्रमाचारी लोगों का यही धर्म है—यही आचार है—यही लक्षण है।

साधारण रीत्या इसके अनुसार चलने से जीव को मरने पर पितृलोक मिलता है। मेरी अनन्य भक्ति करते हुए—इनका अनुष्ठान करने से परम मुक्ति भी प्राप्त होती है।

हे साधु उद्धव! जिस प्रकार स्वधर्म से युक्त मेरा भक्त मुझ परमेश्वर को प्राप्त होता है—सो मैंने सम्पूर्ण तुम्हारे पूछने पर तुमको सुनाया।

यम आदि का निर्णय।

हे उद्धव! ज्ञान और विज्ञान से जो भली भाँति सिद्ध पुरुष हैं वे मेरे श्रेष्ठ पद को जानते हैं।

ज्ञानी जन मुझे अत्यन्त प्रिय हैं—क्योंकि वे ज्ञान द्वारा मुझे अपने हृदय में रखते हैं।

पूर्ण ज्ञान के लेश मात्र से जैसी शुद्धि होती है—वैसी शुद्धि न तो तीर्थसेवा, न जपदान और न अन्यान्य पवित्र कर्मों से होनी सम्भव है।

अतः हे उद्धव! अब आध्यात्मिक आदि तीन प्रकार के विकारों की समष्टिरूपी शरीर जो तुममें आश्रित है—सो नाम मात्र होने के कारण मिथ्या है—क्योंकि यह तो केवल मध्य ही में रहता है, किन्तु आदि और अन्त में नहीं।

अतएव जन्मादिक धर्म शरीर के हैं, तुम्हारे नहीं, क्योंकि तुम तो उसका अधिष्ठान मात्रहो।

असल वस्तु के आदि अन्त में जो होता है वही मध्य में भी इस न्याय से तुम निर्विकार ब्रह्म हो।

जिससे ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त सब प्राणियों में प्रकृत पुरुष, महत्व, अहङ्कार, पाँच तन्मात्रा, मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ पाँचो तत्व और तीनों गुणों को लेकर ये अट्ठाईस तत्व प्रत्यक्ष अनुगत जान पड़ें और इनमें एक आत्मतत्व का अनुभव किया जाय वही मुझ सत् ब्रह्म का निश्चित ज्ञान है।

और जब जिसके एक के अनुगत अनेक भावों को न देख कर केवल उसी एक परम कारण ब्रह्म को देखता है वही विज्ञान है।

कर्ममात्र नश्वर है, अतएव उन्हीं कर्म्मों के ब्रह्मलोक पर्य्यन्त सब फल भी परम श्रेय नहीं हैं क्योंकि अनित्य हैं।

प्रत्येक विवेकी का कर्त्तव्य है कि वह ब्रह्मलोक तक के अदृष्टसुखों को भी दृष्ट सुख की भाँति क्षणभङ्गुर और दुःखरूप समझे।

मेरी मुक्तिदायिनी सुधा समान मीठी कथा सुनने में श्रद्धा, मेरी कीर्ति का कीर्तन, मेरी पूजा में पूर्ण निष्ठा, प्रशंसा श्लोकों से मेरी स्तुति, सादर मेरी सेवा, प्रणाम, मेरे भक्तों की विशेष रूप से पूजा, सब प्राणियों में मुझे देखना, साधारण काम भी मेरे ही उद्देश्य से करना; साधारण बातचीत में भी मेरे गुणों ही की चर्चा करते रहना, सर्वतोभाव से मुझमें मन लगाना, सब कामनाओं को परित्यक्त कर देना, मेरे लिये, अन्य मेरे भजन के विरोधी भोग सुखादि का त्याग, मेरी प्रसन्नता के अर्थ वेद विहित कर्म, यज्ञ, दान, होम, जप, तप और व्रत करना ये सब मेरी प्रेमरूपिणी भक्ति के साधन हैं।

हे उद्धव! जो लोग आत्मसमर्पण करके ऊपर कहे कर्म्मों से मेरा आराधन करते हैं उनको मेरी भक्ति प्राप्त होती है और वे पूर्ण काम हो जाते हैं।

जिस समय शान्त और सत्व पूर्ण चित्त आत्मा में अर्पित होता है उस समय धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

किन्तु जब वही चित्त विकल्प वासनाओं में लिप्त होकर, इन्द्रियों का अनुगामी होता है और इधर उधर विषयों में घूमता रहता है, तब वह अधिक मलीन और असत् निष्ठा से दूषित होता है इसीको अधर्म कहते हैं।

धर्म वही है जिससे मेरी भक्ति हो।

ज्ञान वह है जिससे एक मात्र आत्मा देखा जाय।

विषयों का परित्याग वैराग्य है।

अणिमा आदि सिद्धियों का नाम ऐश्वर्य है।

प्रवृत्ति और निवृत्त दोनों मार्गों को ग्रहण करने वाले लोगों के लिये बारह यम और बारह नियम बतलाये गये हैं।

१—यम ये हैं:—

१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ असङ्ग, ५ ह्री, ६ असञ्चय, ७ आस्तिक्य, ८ ब्रह्मचर्य, ९ मौन, १० स्थिरता, ११ क्षमा और १२ भय।

२—नियम ये हैं :—

१ शौच—भीतर हृदय की शुद्धि और बाहर शरीर की शुद्धि, २ जप, ३ तप, ४ हवन, ५ श्रद्धा—धर्म में निष्ठा या उसका आदर, ६ अतिथि सेवा, ७ मेरा पूजन, ८ तीर्थ पर्यटन, ९ परोपकार, १० सन्तोष, ११ आचार्य की सेवा, १२ स्नान[1]।

इन नियमों को पालन करने वाले के सब अभीष्ट पूरे होते हैं।

केवल शान्ति ही नहीं किन्तु मुझमें बुद्धि की निष्ठा ही शम है।

चोर आदि दुष्टों का दमन नहीं किन्तु इन्द्रियों का संयम ही दम है।

भार आदि सहना नहीं किन्तु आ पड़े दुःख को सहना ही तितिक्षा है।

उद्विग्न न होना धैर्य्य नहीं है किन्तु जिह्वा तथा पुरुषेन्द्रिय को अपने वश में करना ही धैर्य्य है।

किसी को दाम का देना दान नहीं कहा जाता किन्तु प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाना ही परम दान है।

भोग कामना के त्याग को परम तप कहना चाहिये न कि पञ्चाग्नि तपने को।

स्वभाव और वासनाओं को रोकना ही शूरता है विक्रम दिखाना शूरता नहीं है।

सम दृष्टि अथवा सत् ब्रह्म की आलोचना ही सत्य है केवल यथार्थ बोल देना मात्र सत्य नहीं है।

प्रवीण लोगों ने प्रिय और मधुर वाणी को ऋत बतलाया है।

स्नान कर लेना ही शौच नहीं है किन्तु कर्म्मों में आसक्त न होना ही शौच है।

कर्म्मों का त्याग संन्यास है।

सम्पत्ति नहीं किन्तु धर्म ही मनुष्य का प्रशंस्य धन है।

कर्म समझ कर देव भजन करना यज्ञ नहीं है किन्तु मेरे आराधन के उद्देश्य से यज्ञ करना यज्ञ है। क्योंकि यज्ञ पुरुष तो मैं ही हूँ।

धनादि का देना दक्षिणा नहीं कहलाती किन्तु ज्ञान शिक्षा का देना ही दक्षिणा है। क्योंकि यज्ञरूप विष्णु मैं ज्ञान ही से मिलता हूँ।

शारीरिक बल बल नहीं है किन्तु दुर्दमनीय मन का दमन करने वाला प्राणायाम ही परम बल है।

लौकिक ऐश्वर्य, ऐश्वर्य नहीं है किन्तु मेरी भक्ति छः प्रकार का अलौकिक ऐश्वर्य ही भग कहलाता है।

पुत्र आदि का मिलना, लाभ नहीं है किन्तु मेरी भक्ति की प्राप्ति ही परम लाभ है

पुस्तकें पढ़ने से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह ज्ञान ही ज्ञान नहीं है किन्तु आत्मा और परमात्मा में भेदभाव भासित कराने वाली माया को समझना और जानना ही यथार्थ ज्ञान है।

लज्जा को ह्री नहीं कहते किन्तु अनकरने कामों में हेय बुद्धि का होना ही ह्री है।

किरीट कुण्डल आदि धारण करना श्री (शोभा, नहीं कहलाती किन्तु निरपेक्षादि गुणों का नाम ही श्री अथवा शोभा है।

---

[1] भागवत में लिखित नियम ११ ही होते हैं। यथा:—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्
८ ९ १० ११
तीर्थाटनं परार्थेहा, तुष्टि राचार्यसेवनं ॥

स्कन्ध ११ अ० १९

कहीं कहीं स्नान और व्रतोपवास को भी नियमों में गिना है।

ऐश्वर्यों को भोगना ही सुख की परम सीमा नहीं है, किन्तु सुख और दुःख दोनों का अनुसन्धान न करना ही परम सुख है।

पुत्र वियोगादि का लौकिक दुःख दुःख नहीं है, किन्तु विषय सुखों की चाहना ही परम दुःख है।

पढ़ा लिखा पण्डित नहीं कहलाता; किन्तु जो आत्मा के बन्धन और मोक्ष दोनों का रहस्य जानने वाला है वही पण्डित है।

जो पढ़ा लिखा नहीं है वह मूर्ख नहीं कहा जा सकता किन्तु जो गेहादि पदार्थों में ममता रखने वाला है वही मूर्ख है।

निकृष्ट निवृत्त मार्ग वही है जिसके द्वारा जीव मुझ तक पहुँचता है।

निकृष्ट प्रवृत्ति मार्ग जो चित्त को ध्वस्त करता है कुमार्ग है।

जहाँ इन्द्रादि देवता रहते हैं वह स्वर्ग नहीं है किन्तु वह चित्त जिसमें सत्व गुण का उदय हो चुका है स्वर्ग है।

रौरव कुम्भीपाकादि नरक, नरक नहीं हैं, किन्तु तमोगुण की वृद्धि ही नरक है।

हे मित्र उद्धव! भाई आदि अपने बन्धु नहीं हैं किन्तु गुरु ही बन्धु हैं और वह जगद्गुरु मैं हूँ।

मनुष्य शरीर ही सच्चा घर है।

धन होने से कोई आढ्य नहीं होता, किन्तु गुण वाला ही आढ्य कहलाता है।

धन न होने से कोई निर्धन नहीं कहला सकता किन्तु सन्तोष का अभाव ही निर्धनता है।

जो दीन है वह दुःखी नहीं किन्तु अजितेन्द्रिय ही दुःखी और शोच्य है।

राजा को ईश्वर नहीं कह सकते किन्तु जो माया के विकारों में निर्लिप्त या अनासक्त है वही ईश्वर अर्थात् सामर्थी और स्वतन्त्र है। और जो माया के विकारों में आसक्त है वही परतन्त्र है।

हे उद्धव! अब मैं गुण तथा दोषों के लक्षणों को अधिक विस्तार से बतलाने की आवश्यकता नहीं समझता। बस तुम इतने ही से समझ लो कि गुण दोष का देखना ही दोष है और गुण-दोष-दृष्टि का त्याग ही गुण है

॥ इति ॥

श्रीः ।

जातिभास्कर.

भाषाटीकासंवलित.

यजुर्वेद-भाषाभाष्यकार अनेक ग्रन्थोंके अनुवादक
तथा निर्माता मुरादाबादनिवासी विद्यावारिधि
स्वर्गीय पण्डित ज्वालाप्रसादजी मिश्र
द्वारा संपादित ।

जिसमें

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और मिश्रखण्ड हैं.

उसीको

खेमराज श्रीकृष्णदासने

निज-"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् मुद्रणयन्त्रालय

बम्बईमें

मुद्रित कर प्रकाशित किया.

संवत् १९८३, शके १८४८.

॥ श्रीः ॥

अथ जातिभास्कर-विषयानुक्रमणिका